पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

डॉ० सरयू प्रसाद चौबे,
एम० ए०, एम० एड० (इलाहाबाद),
ई डी० डी० (इण्डियाना, यू० एस० ए०),
(शिक्षण सिद्धान्त, मनोविज्ञान व शिक्षा, सेकेण्डरी
एडूकेशन फ़ॉर इण्डिया, बाल मनोविज्ञान,
किशोर मनोविज्ञान तथा मनोविज्ञान,
आदि के रचयिता)
बलवन्त राजपूत कॉलेज ऑव् एडूकेशन
आगरा ।

(द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, २३ चित्रों के साथ)

आगरा
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

प्रो० पसुपुलेटि श्रीनिवासुलु नायुडु, एम० ए०,

अध्यक्ष, शिक्षा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद ।

गुरुवर

प्रो० पसुपुलेटि श्रीनिवासुलु नायुडु

को

FOREWORD

That teaching should be done through the medium of the mother tongue is a platitude which hardly needs stressing, yet at the college stage, because of paucity of text books, instruction has still to be imparted through the medium of a foreign tongue. Any author who brings out a suitable text book in Hindi deserves our gratitude and Shri S. P. Chaube has earned the gratitude of the entire world of education by the timely publication of "A short History of Western Education" which is perhaps the first book of its kind in Hindi.

Shri Chaube is an experienced teacher and has brought all the wealth of his learning to bear on the presentation of his subject to those who are beginning the study of the history of Education. The book is thoroughly exhaustive and well-documented. The author has quite a few striking and original opinions to offer about the tendencies in Western Education and about the philosophy of Western Educators. These merit careful study.

"A short History of Western Education" is eminently suited to serve as a text book for L. T., B. T., B. Ed. and B. A. Classes in Education and I feel confident that it will receive the recognition due to it.

February 28, 1949.

T. S. Naidu,
Head of the Department of Education,
Allahabad University.

आमुख

हिन्दी भाषा में इस समय 'पाश्चात्य शिक्षा' के क्रमबद्ध इतिहास के ऊपर लिखी गई पुस्तक की आवश्यकता दो प्रकार से है।

एक युग की निद्रा के बाद जगे हुए भारत की राष्ट्रभाषा बनने का गौरवपूर्ण भार हिन्दी को वहन करना है। सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग होने लग जाय केवल इतने से काम नहीं चलेगा; इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिये यह आवश्यक है कि हिन्दी का वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध हो, नवोदित राष्ट्र की ज्ञान-पिपासा शान्त करने की इसमें क्षमता हो तथा विश्वविद्यालयों का शिक्षा-माध्यम बनने की इसमें योग्यता हो। किसी भी विषय में हर श्रेणी की अच्छी पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त उच्च-कोटि का गवेषणात्मक साहित्य भी अवश्य होना चाहिये। गवेषणात्मक अथवा सृजनात्मक साहित्य के अभाव में भाषा का विकास रुक जाता है, उसकी गति कुण्ठित हो जाती है। प्राणमयी भाषा तो वह है जिसमें चिन्तन-कार्य किया जा सके, जिसके सहारे प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मक विचारों को रूप दिया जा सके। कई क्षेत्रों में हिन्दी अभी उस स्तर तक नहीं आ सकी है। उसके इस अभाव को दूर करना हिन्दी-सेवियों की राष्ट्रीय जिम्मेदारी है। शिक्षा-शास्त्र के कुछ ऐसे अंग हैं जिनके ऊपर हिन्दी में गवेषणात्मक साहित्य की तो बात क्या विश्वविद्यालयों के लिये उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें भी मजे में उपलब्ध नहीं हैं। शिक्षा के क्षेत्र में हम अपनी भाषा में गवेषणात्मक साहित्य का निर्माण करने लग जायँ इसके लिए यह जरूरी है कि हम शीघ्र ही शिक्षा-शास्त्र के सभी विषयों के ऊपर आज तक के प्राप्त ज्ञान को अपनी भाषा में उपलब्ध कर दें। इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान अथवा शिक्षा-सिद्धान्तों के ऊपर लिखी गई पुस्तकों की जितनी आवश्यकता है उतनी ही आवश्यकता उन्नतशील देशों की शिक्षा के इतिहास के ऊपर लिखे गये साहित्य की है। विज्ञान के क्षेत्र की ही भाँति शिक्षा के क्षेत्र में भी पाश्चात्य देशों ने बहुत व्यापक उन्नति की है। योरोप और अमेरिका में महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के पश्चात् जो शिक्षा-पद्धतियाँ प्रचलित हुई हैं उनका विवेचनात्मक अध्ययन हमारी शिक्षा-संस्थाओं के लिए बहुत ही उपयोगी और श्रेयस्कर सिद्ध होगा—विशेषरूप से आज इस संक्रमण-काल में जब हमारी शिक्षा-प्रणाली का काया-कल्प होने जा रहा है।

ऐसी पुस्तक की आवश्यकता एक दूसरे दृष्टिकोण से भी है—

जिस प्रकार किसी देश के आर्थिक अथवा राजनैतिक जीवन का इतिहास उस देश के भौतिक-विकास के प्रवाह का द्योतक है उसी प्रकार शिक्षा का इतिहास उस देश के आध्यात्मिक जीवन की प्रगति की कहानी है। यहाँ 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया गया है उसे थोड़ा और स्पष्ट कर देना अधिक अच्छा होगा। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है : व्यक्ति को जीवन की मान्यतायें समझने की क्षमता देना तथा उन्हें ग्रहण करने के लिये उसे समर्थ बनाना। किसी भी विज्ञान अथवा कला के विकास में कुछ

ऐसे मोड़ होते हैं जहाँ उसके प्रवाह ने गति बदली है—किसी भी व्यक्ति, समुदाय अथवा राष्ट्र के जीवन में कुछ ऐसे मुहूर्त आते हैं जब उसकी मान्यतायें बनती और बिगड़ती हैं, घुलती और निखरती हैं। मान्यताओं का यह रूपान्तर उस काल की विभिन्न शक्तियों के सम्मिलित प्रभाव के कारण होता है। किसी भी देश की 'आध्यात्मिक-प्रगति' से हमारा मतलब है: मान्यताओं से हिलमिलकर बनने-बिगड़ने वाली उसके सांस्कृतिक-प्रवाह की गति-विधि। पश्चिम ने जो भौतिक-विकास किया है उसका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ा है तथा आगे और अधिक पड़ने जा रहा है। आज हमारा राष्ट्र अपने जीवन के एक महत्वपूर्ण मोड़ से गुजर रहा है। कई क्षेत्रों में आमूल-परिवर्त्तन होने जा रहे हैं और इन सब क्षेत्रों में पश्चिम के विज्ञान तथा तज्जन्य भौतिक उत्थान का हमारे ऊपर अनिवार्य प्रभाव पड़ेगा। सत्य तो यह है कि शीघ्र ही पूरब और पश्चिम का सम्मेलन भौतिक और आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर होने जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन मानव-संस्कृति का उद्‌घाटन होगा। इन सभी परिवर्त्तनों के लिए अपने देश में जो हमें नवीन चेतना लानी है वह मुख्यतः शिक्षा के द्वारा ही आयेगी। अपनी शिक्षा को हमें नया रूप देना है उसे नयी गति देनी है और इसके लिए हमें पश्चिम के अनुभव से लाभ उठाना है—उसकी सफलताओं को अपनाना है, उसकी विफलताओं से बचना है। पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास के ऊपर अपने देश के लेखक द्वारा अपनी भाषा में लिखी गई एक अच्छी पुस्तक की इस दृष्टि से भी बड़ी आवश्यकता है।

डा० सरयू प्रसाद चौबे ने पाश्चात्य शिक्षा के ऊपर यह पुस्तक लिखकर हमारी इस आवश्यकता की पूर्ति बहुत सराहनीय ढंग से की है। विद्वान् लेखक ने केवल पाश्चात्य दार्शनिकों और शिक्षा-शास्त्रियों की विचार-धारा का दिग्दर्शन मात्र ही नहीं कराया है बल्कि उनके सिद्धान्तों और विचारों का बहुत ही विवेकपूर्ण विवेचन और मार्मिक अनुशीलन उपस्थित किया है। इस पुस्तक का पहला संस्करण प्रायः चार वर्ष पूर्व निकला था और लेखक की यह पहली कृति थी। इस बीच में चौबेजी ने पाश्चात्य देशों का भ्रमण किया है और अमेरिका में कुछ समय रहकर शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण गवेषणा-कार्य भी किये हैं। पाश्चात्य शिक्षा के निकट-सम्पर्क में रहने से उन्हें जो अनुभव और ज्ञान प्राप्त हुए हैं उनके प्रकाश में इस दूसरे संस्करण में उन्होंने संशोधन और परिवर्द्धन भी किए हैं। वैसे तो उनकी यह कृति ही उनका सबसे बड़ा परिचय तथा उनके अध्ययन और साधना का द्योतक है पर यहाँ एक बात मैं अवश्य कहूँगा: लेखक को बहुत ही नजदीक से जानने का मुझे अवसर मिला है। वे आधुनिक शिक्षा-शास्त्र के मर्मज्ञ पंडित ही नहीं वरन् बच्चों से लेकर युवकों तक की शिक्षा-विधि में उन्होंने इसका प्रयोग किया है और इस क्षेत्र में उनकी अपनी धारणायें और मत हैं। वे स्वयं एक सफल शिक्षक हैं और अपने विद्यार्थियों के लिए प्रेरणा के अक्षय-स्रोत हैं। मेरा यह विश्वास है कि अपनी सबल साधना तथा प्रखर लेखनी के सहारे वे देश तथा साहित्य की भविष्य में बहुत बड़ी सेवायें करेंगे।

पेरिस,
१८ मई, १९५२।

उदित नारायण सिंह

द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण का प्राक्कथन

पाश्चात्य शिक्षा के इस द्वितीय संस्करण को एकदम नया ही कलेवर देने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत कई नये उपशीर्षक जोड़ दिये गये हैं और ड्यूइ के अध्याय को पहले से अधिक विस्तृत कर दिया गया है। कुछ अध्यायों के नाम भी परिवर्त्तित कर दिये हैं। प्रथम संस्करण के पैराग्राफ़-सारांश को प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक ही स्थल पर "आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?" नामक शीर्षक के नीचे दिया गया है। आशा है ये सब परिवर्त्तन विषय की दुरूहता को कम करके उसे पाठक के लिए अधिक रोचक बनायेंगे।

लेखक सुहृदयवर डॉ० उदित नारायण सिंह, एम. ए., डी. फिल., का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने कार्यभार से अति व्यस्त रहते हुये भी इस संस्करण के लिए दूसरा आमुख लिखने का कष्ट उठाया है।

पुस्तक को इस नये रूप में लाने के प्रयास में जिन पाठकों के रचानात्मक सुझावों से सहायता मिली है उनका लेखक बड़ा ही आभारी है। इस सम्बन्ध में सर्व श्री सूदेव शास्त्री, एम. ए., एल. टी., धर्मेन्द्र किशोर, विद्याराम शर्मा, कैलाश नाथ शर्मा, स्वामी स्वरूप पाठक, द्वारिका प्रसाद 'सरोज', पन्नालाल मिश्र, दुर्गाप्रसाद तथा विजय शंकर मिश्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

जून १, १९५३
बलवन्त राजपूत कॉलेज
ऑव. ऐडूकेशन, आगरा।

—सरयू प्रसाद चौबे।

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

मानव सभ्यता का प्रवाह आजकल पश्चिम से पूर्व की ओर है। संसार के सभी देश पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं। आज हमारे जीवन का कदाचित ही कोई ऐसा अंग है जो इस प्रभाव से अछूता हो। इस प्रभाव में व्यक्ति 'अपना' न भूल जाय—वह कहीं दूसरे की माँ को अपनी माँ न कहने लगे—इसलिये यह आवश्यक है कि वह दोनों के रूप को भली भाँति समझे और अपने विकास का उचित प्रयत्न करे। हमें अपने विकास के लिये अनेक बातों पर ध्यान देना होता है। इन बातों का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा ही विकास का सबसे बड़ा साधन है। इस शिक्षा के रूप को निर्धारित करने में प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशों के शिक्षाविदों ने भगीरथ प्रयत्न किया है। वस्तुतः आज का शिक्षा-क्रम उन्हीं के परिश्रम का फल है। कहना न होगा कि ऐसे विद्वानों के मत से अवगत होना प्रत्येक शिक्षा-शास्त्र-प्रेमी के लिये अपेक्षित है। इस भावना से ही प्रेरित होकर लेखक ने इस पुस्तक की रचना की कल्पना की। पर इसमें केवल पाश्चात्य देशों के कुछ शिक्षा-विशेषज्ञों ही के मत पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

स्वराज्य-प्राप्ति के फलस्वरूप हिन्दी का मान सभी क्षेत्रों में बढ़ता हुआ दिखलाई पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि हिन्दी को सभी दृष्टिकोण से परिपूर्ण किया जाय। हिन्दी में शिक्षा विषयक साहित्य का बड़ा अभाव है। हर्ष का विषय है कि अब कुछ लोगों का ध्यान इधर जाने लगा है। लेखक ने भी इस पुस्तक के द्वारा इस अभाव की थोड़ी पूर्ति करने की चेष्टा की है। वह अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ है यह तो पाठक ही जानें; पर यदि इससे किसी को इस क्षेत्र में आगे कार्य कर हिन्दी-साहित्य को धनी बनाने की प्रेरणा मिल सकी तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में आगे अध्ययन के लिये सहायक पुस्तकों की सूची दे दी गई है और हर पैराग्राफ का सारांश उसके प्रारम्भ में ही मोटे अक्षरों में दे दिया गया है। पुस्तक को अपने क्षेत्र में परिपूर्ण बनाने की पूरी चेष्टा की गई है। ५०० ई० पू० से लेकर वर्त्तमान काल तक पाश्चात्य शिक्षा के विकास की इसमें पूरी विवेचना है। विषय को शास्त्रीय बनाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त लेखकों की सम्मतियाँ स्थान-स्थान पर दी गई हैं। इस पुस्तक के सम्पादन में लेखक मौलिकता का विशेष दावा नहीं कर सकता पर इसमें आये हुए कुछ शिक्षा-विशेषज्ञों पर उसकी सम्मितियाँ एकदम अपनी हैं।

पुस्तक की रचना केवल परीक्षार्थियों के ही दृष्टिकोण से नहीं की गई है, वरन् इसमें सभी शिक्षा-शास्त्र-प्रेमियों की साधारण रुचि पर ध्यान रक्खा गया है। विदेशी पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद में हिन्दी भाषा की परम्परा सदैव सामने रही है। पुस्तक में अन्य भाषा के शब्दों को स्थान देकर हिन्दी भाषा की खिचड़ी नहीं बनाई गई है। यदि अन्य भाषा के शब्द स्थान प्राप्त कर सके हैं तो उन्हें हिन्दीमय होना पड़ा है। इसकी रचना में लेखक का यह अनुभव रहा है कि प्रयत्न करने पर हिन्दी भाषा को भी उसकी परम्परानुसार बहुत शीघ्र ही धनी बनाया जा

सकता है। परन्तु उपर्युक्त नीति के पालन में भाषा की सुगमता और सुबोधता की बलि नहीं दे दी गई है। अतः संस्कृत के तत्सम शब्द भी नगण्य रूप में ही स्थान प्राप्त कर सके हैं।

मेरे कुछ मित्रों का यह सुझाव रहा है कि अँग्रेज़ी पारिभाषिक शब्दों को उनके हिन्दी पर्याय के साथ ही साथ पुस्तक के क्रम में दिया जाय। वस्तुतः अधिक व्यावहारिक यही हुआ होता। पर व्यावहारिकता के लिये सिद्धान्त की बलि नहीं दी जा सकती। फलतः उनके इस सुझाव के स्वीकार करने में मुझे सदैव हिचकिचाहट बनी रही। इस विषय में मैं अपने एक सिद्धान्त पर अड़ा रहा। वह यह कि "हमारी हिन्दी भाषा भी किसी भी भाषा के सदृश सम्पूर्ण हो सकती है।" यदि हिन्दी से किसी अँग्रेज़ी पुस्तक में शब्द लिये जाते हैं तो उन्हें हमारे देश में भी विशेषकर रोमन लिपि में ही स्थान दिया जाता है। इसके विपक्ष में मुझे यहाँ कुछ कहना नहीं है। पर हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "क्या हमारी हिन्दी में ऐसा नहीं हो सकता?—उसे भी ऐसा क्यों न बनाया जाय?" इसी भावनावश मैंने विदेशी पारिभाषिक शब्दों को भी पुस्तक के साधारण क्रम में नागरी लिपि का ही आवरण दिया है। तथापि पाठक की सुविधा पर ध्यान रख पुस्तक के अन्त में अँग्रेज़ी पर्याय के साथ पारिभाषिक शब्दों की पूरी सूची तथा अनुक्रमणिका (अँग्रेज़ी शब्दों के साथ) दे दी गई है। आशा है पाठक मेरे इस सिद्धान्त का आदर कर अपनी असुविधा के लिये क्षमा करेंगे।

पुस्तक जुलाई, १९४८ ई० में ही प्रकाशित हो जाने वाली थी क्योंकि इसकी रचना अप्रैल, १९४८ ई० के भीतर ही समाप्त हो गई थी। प्रकाशक महोदय ने अपनी रुचि के अनुसार इस पुस्तक के लिये नये टाइप बनवाने की सोची। कुछ कारणों वश नये टाइप गत अक्टूबर के पहले तैयार न हो सके। इधर विद्यार्थियों तथा शिक्षा-शास्त्र-प्रेमियों की इसके लिये माँग दिन पर दिन बढ़ती गई। अतः प्रकाशन में शीघ्रता करना आवश्यक जान पड़ा। फलतः कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। इनका कुछ उल्लेख शुद्धि-पत्र में कर दिया गया है। आशा है शेष पाठक कहीं-कहीं स्वयं सुधार लेने का कष्ट करेंगे। काग़ज़ के अभाव तथा अन्य विषम परिस्थितियों के कारण प्रकाशक पुस्तक को इतने छोटे टाइप में ही तैयार करने में बाध्य हुये। इसीलिये पृष्ठों पर किनारा भी पतला छोड़ा गया है। पुस्तक को सुन्दरतर रूप देने की इच्छा रखते हुए भी उसे और अच्छा नहीं बनाया जा सका। इसका वास्तव में खेद है। परन्तु यदि शिक्षा-शास्त्र-प्रेमियों ने प्रोत्साहन दिया तो द्वितीय संस्करण में ये दोष दूर कर दिये जायेंगे। मेरी दृष्टि से हिन्दी में अपनी कोटि का यह प्रथम प्रयास है। अतः कई प्रकार के दोषों का रह जाना स्वाभाविक है। इन सब दोषों की ओर संकेत करने के लिये पाठकों से लेखक की प्रार्थना है।

अब कृतज्ञता-प्रकाशन का सुखद कर्त्तव्य सामने आता है। किसी कार्य के करने में मेरे सामने गुरुवर श्री नीरेन्द्रनाथ मुखर्जी (बनारस) का व्यक्तित्व सदैव उपस्थित रहता है। उनके व्यक्तित्व में इतना बल है कि वह निर्जीव को भी सजीव बना सकता है। जब मैं परिश्रम करते समय थक कर बैठने लगता हूँ तो उनका स्मरण कर मैं पुनः प्रेरणा और उत्साह प्राप्त करता हूँ। इस पुस्तक की रचना में मुझे इस प्रेरणा और उत्साह ने ही आगे बढ़ाया है। अतः सर्व प्रथम मैं उन्हीं का ऋणी हूँ और आजीवन ऋणी रहूँगा। मैं मानता हूँ कि वे मेरे इस उद्‌गार पर हँस पड़ेंगे। पर क्या भक्त पर ईश्वर नहीं हँसता जब वह उस पर 'फल-पत्र-पुष्प' चढ़ाता है?

प्रयाग विश्वविद्यालय के १९४५-१९४७ ई० के शिक्षा-काल में अपने अध्यापक प्रो० पसुपुलेटि श्रीनिवासुलु नायुडु, एम० ए० अध्यक्ष, शिक्षा विभाग, से जो कुछ मैंने प्रेरणा पाई वह मेरे इस

कार्य में सदा सहायक रही। उनके सुझावों को मैंने यथासम्भव अंकित कर लिया था। उनका प्रभाव इस रचना में भी आ गया है। इसलिए मैंने अपनी इस छोटी सी कृति को उनके चरणों में समर्पित करने का निश्चय किया। उन्होंने मेरा आग्रह स्वीकार किया। इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। कार्य-भार से दबे रहने पर भी पुस्तक की समीक्षा कर जो उन्होंने 'फारवर्ड' लिखने का कष्ट उठाया उससे में सचमुच अपने को सम्मानित समझता हूँ।

इस पुस्तक के "आमुख" लेखक सुहृदवर श्री उदित नारायण सिंह के प्रति मैं अपने उदगार कैसे व्यक्त करूँ! लेखनी यहीं रुक जाती है!

हस्तलिपि दुहराने का कार्य-भार मेरे मित्र व शिष्य श्री प्यारेलाल रावत, बी० ए०, एल० टी० ने सहर्ष स्वीकार किया। इनका दुहराना पुस्तक पर 'पॉलिश' के समान हुआ। रूसो और स्पेन्सर पर इनके कुछ सुझाव सहायक सिद्ध हुये। पृष्ठ २४ की अन्तिम दस पंक्तियाँ ('यह बात विशेष कर ध्यान देने योग्य है.............भारतीय दर्शन के अनुसार भी') और पृष्ठ १९८ की अन्तिम दो से पृष्ठ १९९ की प्रथम चार पंक्तियाँ "भावना जीवन की वह अजस्र.........मर्म को न समझ सका।") इन्हीं की लिखी हैं। "मैं हृदय से आभारी हूँ"—क्या इतना कह देने से ही मैं श्री रावतजी से उऋण हो सकता हूँ?

विदेशी पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय निश्चित करने में मुझे अपने पुराने अध्यापक पं० सीताराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल एल० बी०, बी० टी०, वर्त्तमान प्रिन्सीपल, सतीश डिग्री कॉलेज, बलिया से बड़ी सहायता मिली है। सहायता याचना पर 'नहीं' कहना आप का स्वभाव ही नहीं। मैं पंडितजी का बहुत ही अनुगृहीत हूँ।

अपने सहयोगी श्री डा० नरेन्द्र देव शास्त्री, एम० ए०, डी० फ़िल तथा पं० हरिदत्त शर्मा, शास्त्री, सप्ततीर्थ, वेदान्ताचार्य, एम० ए० से भी मुझे कुछ सहायता मिली है। अतः मैं आप लोगों का आभारी हूँ। मेरे मित्र श्री हरनारायण सिंह, बी० ए०, एल० टी० तथा श्री रघुनाथ प्रसाद शर्मा, बी०ए०,एल०टी० तथा कॉलेज के टीचर्स ट्रेनिङ्ग विभाग के वर्त्तमान विद्यार्थी श्री सनक सन्दन शर्मा, विजयशंकर सिंह गौतम, बालकृष्ण शर्मा, परमेश्वरी सहाय, हर प्रसाद शर्मा, देवेन्द्रनाथ सिंह रामकल्प सिंह, भानु प्रकाश सिंह, जगन सिंह, त्रिवेणी प्रसाद सिंह, देवकीनन्दन शर्मा, जयन्ती प्रसाद शर्मा, श्रीविलास पाण्डे तथा जुगेन्द्रपाल सिंह ने कष्ट कर शुद्धि-पत्र बनाने तथा अनुक्रमणिका का क्रम ठीक करने में पूरा सहयोग दिया है। अतः मैं इन सब को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

मुझसे इस पुस्तक के लिखने की चर्चा हमारे प्रकाशक महोदय के सुपुत्र श्री राजनारायण अग्रवाल, बी० ए० ने की। मेरी माँग के अनुसार वे आवश्यक पुस्तकें तथा अन्य सामग्री सदा बड़ी तत्परता से उपस्थित करते रहे। वस्तुतः उनकी इस सहायता बिना पुस्तक इस समय न निकल पाती। अतः एक प्रकार से इस पुस्तक के लिखे जाने का श्रेय उन्हीं को है।

विदेशों से प्रकाशित इस विषय की प्रायः सभी पुस्तकों से लेखक ने सहायता ली है। उनका अलग-अलग उल्लेख करना कठिन है। पर वे सभी लेखक के धन्यवाद के पात्र हैं।

फाल्गुन पूर्णिमा, २००५
मार्च १४, १९४९,
टीचर्स ट्रेनिङ्ग विभाग,
बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा।

—सरयू प्रसाद चौबे।

चित्रों की सूची

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

रोमन शिक्षा ५६–६६

चौथा अध्याय

मध्य-युग ७०–१०५

पाँचवाँ अध्याय

पुनरुत्थान काल

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

यथार्थवाद १३४–१६७

आठवाँ अध्याय

शिक्षा में विनय की भावना १६८–१८०

नवाँ अध्याय

प्रकृतिवाद १८१–२११

दसवाँ अध्याय

मनोवैज्ञानिक प्रगति २१२-२७३

ग्यारहवाँ अध्याय

वैज्ञानिक प्रगति २७४-२६५

बारहवाँ अध्याय

लोक-संग्रहवाद २९६–३१५

तेरहवाँ अध्याय

डॉ० जॉन् ड्यूइ ३१६–३३५

चौदहवाँ अध्याय

मॉन्तेसरी ३३६–३४७

पन्द्रहवाँ अध्याय

वर्त्तमान शिक्षा की प्रगति ३४८–३५२

१

यूनानी शिक्षा

यद्यपि 'यूनान' और 'रोम' अपने पूर्व-गौरव को अब खो बैठे हैं, परन्तु पाश्चात्य देशों के लोग अब भी यूनानी और रोमन आदर्शों से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बड़ी प्रेरणा खींचते हैं। अतः पाश्चात्य शिक्षा को समझने के लिए सर्वप्रथम यूनानी और रोमन शिक्षा पर ही दृष्टिपात करना समीचीन दिखलाई पड़ता है। अतः सर्वप्रथम हम यूनानी शिक्षा को ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

यूनानी शिक्षा को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—डोरिक* शिक्षा और आयोनिक शिक्षा। डोरिक शिक्षा विशेषतः स्पार्त्ता से सम्बन्ध रखती है और आॅयोनिक एथेन्स से। आॅयोनिक शिक्षा का वर्णन आगे हम दो भागों में करेंगे—'प्राचीन यूनानी शिक्षा' और 'नवीन यूनानी शिक्षा'। पहले हम डोरिक शिक्षा अथवा स्पार्त्ती शिक्षा पर दृष्टिपात करेंगे।

क—स्पार्त्ती शिक्षा

१—स्पार्त्ती जीवन का आदर्श—

स्पार्त्तनों का डील-डौल और शरीर सौन्दर्य उत्कृष्ट कोटि का था। वे यूनान के अन्य प्रदेशों के निवासियों से मिलकर अपनी सभ्यता तथा व्यक्तित्व का ह्रास नहीं करना चाहते थे। वे अलग रहे। अतः उनका इतिहास यूनान के दूसरे प्रदेशों से कुछ भिन्न हो जाता है। वे सदैव अपने को दूसरे से ऊँचा ही दिखलाने की चेष्टा में रहते थे। फलतः उनका जीवन बिलकुल सैनिक हो गया। अन्य क्षेत्रों में वे पीछे रह गये। स्पार्त्ती शिक्षा का रूप समझने के लिये उनकी सामाजिक व्यवस्था पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। स्पार्त्ता की शासन-व्यवस्था ऐसी रक्खी गई थी कि नागरिक का ध्यान अपने व्यक्तिगत हित की ओर जाने ही न पावे। राज्य की ओर से सबके पास

---

* डोरिक या आॅयोनिया प्राचीन यूनान के दो प्रदेश थे—इनकी भाषायें डोरिक और आॅयोनिक कहलाती थीं। एक की सभ्यता का केन्द्र स्पार्त्ता में और दूसरे का एथेन्स में था।

पैत्रिक सम्पत्ति रहती थीं। दास खेती आदि करके दैनिक आवश्यकताएँ पूरी कर दिया करते थे। स्पार्त्तनों को अपनी जीविका के लिये आपत्तियाँ उठानी ही नहीं पड़ती थीं। राज्य की ओर से किसी व्यापार में उन्हें भाग लेने की आज्ञा न थी। धन को घृणित दृष्टि से देखा जाता था। जो सोना-चाँदी इकट्ठा करता था उसे 'राज्य' दण्ड देता था। लाइकरगस ने तो धन की महत्ता घटाने के लिये लोहे का सिक्का तक चलाया था। जब भोजन का प्रबन्ध राज्य ही कर देता था तो स्पार्त्तन के सामने केवल दो जीवन-आदर्श रह गये। एक तो युद्ध-कला और दूसरा सैनिक नागरिकों की शिक्षा। शान्ति काल में वे सैनिक शिक्षा पर अत्याधिक बल दिया करते थे। व्यायाम, खेल-कूद, शिकार आदि उनकी दिनचर्या रहती थी। वे हर समय कुछ न कुछ काम करते रहने की चेष्टा में रहा करते थे। उनका जीवन बहुत ही सादा था। परन्तु उन्हें बहुत ही कठोर 'शासन' के अन्तर्गत रहना पड़ता था। लाइकरगस, जो स्पार्त्ती व्यवस्था का संस्थापक कहा जाता है, कुटुम्ब के दृढ़ संगठन में विश्वास नहीं करता था। उसे डर था कि कौटुम्बिक हित में पड़ कर नागरिक 'राज्य-हित' को ठुकरा देंगे। अतः उसने कुटुम्ब का क्षेत्र बहुत ही सीमित कर दिया। प्रत्येक स्पार्त्तन पुरुष, प्रत्येक स्पार्त्तन बालक का पिता एवं अध्यापक समझा जाता था। 'उदारचरितानाम् तु बसुधैव कुटुम्बकम्' का यहाँ सीमित क्षेत्र में कैसा सुन्दर उदाहरण मिलता है!
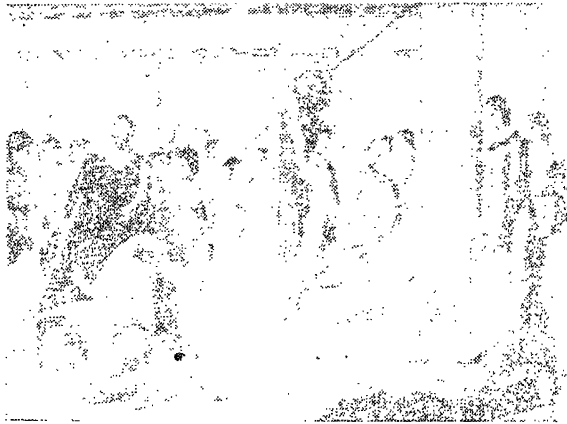
स्पार्त्ती व्यायाम-विद्या।

२—शिक्षा के आदर्श—

अब हम स्पार्त्ता के राज्य और शिक्षा में सम्बन्ध तथा वहाँ की शिक्षा के उद्देश्य पर दृष्टिपात करेंगे। उपर्युक्त वर्णन से सरलता से अनुमान लगाया जा

सकता है कि शिक्षा देना राज्य का परम कर्त्तव्य था। सभी बालक राज्य की सम्पत्ति माने जाते थे। पिता से उनका विशेष सम्बन्ध न था। स्पार्त्ता के 'राज्य-विधान' को पढ़ने से विदित होता है मानो किसी 'सैनिक स्कूल' की नियमावली पढ़ी जा रही हो। 'राज्य' अथवा शिक्षा का आदर्श नागरिक में अदम्य उत्साह, धैर्य, सहनशीलता, देशभक्ति, आज्ञापालन; बड़ों के प्रति सम्मान तथा समयानुकूल व्यवहार करने की क्षमता उत्पन्न करना था। अतः उनका उद्देश्य केवल सैनिक था। पारस्परिक सहानुभूति तथा कोमल भावनाओं को कहीं भी स्थान न दिया गया। दया, कौटुम्बिक-प्रेम तथा उदारता को ठुकरा दिया गया। स्त्रियों के प्रति सहानुभूति का व्यवहार नहीं दिखलाया जाता था। ललित कलाओं का तो सम्भवतः कोई स्वप्न भी नहीं देख पाता था। भला ऐसी सभ्यता कितने दिनों तक टिक सकती थी !!! राज्य की ओर से शिक्षा की पूरी व्यवस्था थी जो 'अगोगे' नाम से प्रसिद्ध थी। स्पार्त्तन बालक को किंचित् भी स्वतन्त्रता न थी। कोई न कोई हर समय उसके सिर पर सवार रहा ही करता था। अध्यापकों की कोई अलग श्रेणी न थी। बीस वर्ष के ऊपर के नवयुवकों के नियन्त्रण में शिक्षा के लिये कुछ बालकों की टोली दे दी जाती थी। हर वर्ष शिक्षा का पूर्ण निरीक्षण करने के लिये राज्य की ओर से एक उच्च अधिकारी (पेडॉनॉमस) नियुक्त किया जाता था। राज्य के प्रधान शासक (एफ़र्स) की नीति के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। पेडॉनॉमस की सुविधा के लिये उसके नियन्त्रण में बहुत से सहायक (बिडोई) रहते थे। शारीरिक दण्ड देने के लिये राज्य की ओर से कोड़े मारने के लिये कर्मचारी नियत रहते थे। [कदाचित् बच्चों को कोड़े मारते देख पैस्तॉलॉजी (जो कि स्कूल को 'स्नेह का घर' समझता था) मूर्छित हो जाता !!!]

स्पार्त्तनों की प्रथायें कुछ ऐसी थीं जिन्हें जानने पर हम क्षुभित हो उठते हैं। आज की मानवता उसे कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती। स्पार्त्तन बालक की शिक्षा शैशव से ही प्रारम्भ होती थी। बच्चों के राज्य की सम्पत्ति होने से माता का उन पर कुछ अधिकार ही नहीं रहता था। मानो वे राज्य की ओर से नियुक्त की हुई दाइयाँ थीं। पैदा होते ही बच्चे को राज्य-सभा में लाना पड़ता था। उसके शरीर का निरीक्षण कर उच्चपदाधिकारी यह निर्णय करते थे कि उसे जीवित रक्खा जाय अथवा नहीं। कुरूप या अस्वस्थ होने पर उसे पहाड़ की चोटी से गिरा दिया जाता था। यदि वह गिराने से बच गया तो या तो दास उसे अपने घर उठा ले जाया करते थे अथवा वह जंगली जान-

वरों के मुँह में चला जाता था। अपनी जाति की श्रेष्ठता को स्थायी रखने के निमित्त ही स्पार्त्तन ऐसी रीति का पालन करते थे। यदि बच्चा स्वस्थ हुआ तो माँ अपने घर ले आती थी और राज्य की देख-रेख में उसका पालन-पोषण करती थी। कुछ बड़े हो जाने पर वह उसे व्यायामशालाओं में ले जाती थी जहाँ वह कदाचित् सब की खेल-कूद देख कर संसार की क्षणभंगुरता पर मुस्कराया करता था!

सात वर्ष की अवस्था के बाद प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। सात वर्ष का हो जाने पर बच्चे को पेडॉनॉमस के नियन्त्रण में छोड़ दिया जाता था। प्रत्येक नागरिक को अपने पुत्र की साधारण आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती थीं। ६४-६४ की टोली में बालक छात्रावास में रखे जाते थे। उन्हें भाँति-भाँति के खेल-कूद तथा व्यायाम आदि सिखलाये जाते थे। उनको सब काम प्रायः साथ ही करने पड़ते थे। वे एक ही कमरे में सुलाये जाते थे। यह ध्यान रक्खा जाता था कि उनमें भ्रातृत्व तथा समानता की भावना सदा जागृत होती रहे। हर एक टोली को 'इलाइ' कहते थे। सबसे बुद्धिमान, सुन्दर तथा स्वस्थ बालक को टोली का कप्तान बनाया जाता था। प्रत्येक टोली राज्य से नियुक्त एक युवक अर्थात् 'ईरेन' के नियन्त्रण में रहती थी। बालकों पर बड़ा कठोर नियन्त्रण रखा जाता था। प्रति दसवें दिन निरीक्षण करने के लिये 'एफर्स' आया करते थे। उनके सामने प्रत्येक बालक को नग्न उपस्थित होना पड़ता था। यदि पेट, कमर या चेहरे पर चर्बी लटकती हुई दिखलाई पड़ती और यदि शिल्पियों की मूर्तियों के समान उनका शरीर न होता तो उनको यह समझ कर कठोर दण्ड दिया जाता था कि वे आलस्य में दिन बिताते रहे और व्यायाम तथा खेल-कूद के साथ परिहास करते रहे। कितनी बड़ी विडम्बना थी यह!! मानो सबकी पाँचों उँगलियाँ बराबर थीं!!!

प्रारम्भ से ही बालकों को कठिनाइयाँ सहने में अभ्यस्त बनाया जाता था। बारह वर्ष के हो जाने पर इसकी मात्रा बढ़ा दी जाती थी। सबको कड़े बिछौने पर सोना पड़ता था। यह बिछौना उन्हें स्वयं तैयार करना पड़ता था। भोजन कम कर दिया जाता था जिससे भूख सहने की आदत पड़ जाय। सिर के बाल छोटे रखने पड़ते थे जिससे धूप सहने के वे अभ्यस्त हो जायँ। बालकों को "ईरेन" की बहुत सेवा करनी पड़ती थी। वे बालकों को दिन-दिन भर व्यस्त रखते थे। एक क्षण भी अवकाश नहीं मिलता था। सैनिकों की तरह दूर-दूर जाकर उन्हें सामान लाना पड़ता था। इस सम्बन्ध में चोरी करना

अपराध नहीं, अपितु चोरी करते पकड़ा जाना अपराध था। यदि कोई पकड़ा गया तो उसको घोर अपमान सहित कठोर दण्ड दिया जाता था। देश की सभी सम्पति राज्य की समझी जाती थी। इससे भी बालकों को कभी-कभी अपने लिये गुप्त रूप से चोरी करनी पड़ती थी। चारों ओर घूमने से उन्हें देश का भौगोलिक ज्ञान हो जाता थी। इस प्रकार उन्हें शिकार करने का भी अभ्यास हो जाता था। यह अभ्यास सैनिक जीवन के लिये बहुत आवश्यक माना जाता था। कठिनाइयों से अभ्यस्त बनाने के लिये चमोटी से समस्त शरीर पीटने की दूसरी प्रथा थी। इसमें प्रतियोगिता हुआ करती थी। इस प्रतियोगिता में भाग लेना अपनी इच्छा पर था। जो जितनी ही अधिक मार खा सकता था उसका उतना ही सम्मान किया जाता था। कभी-कभी इस मार में मृत्यु भी हो जाती थी। परन्तु अपने सम्मान की रक्षा के लिये भारतीय सती की भाँति कोई किंचित् सी भी चीख की आवाज नहीं निकालता था! कठिनाइयों से अभ्यस्त बनाने के लिये कितनी कठोर परीक्षा थी यह !!

कुश्ती लड़ने की प्रथा थी। कभी-कभी साहस बढ़ाने के लिये कृत्रिम युद्ध भी किया जाता था। व्यायामशाला में एक निश्चित विधि से भाँति-भाँति के व्यायाम, खेल-कूद आदि प्रारम्भ करना स्पार्त्तनों का ही काम था। वे व्यवसाय करना उपहासास्पद समझते थे। शारीरिक सौन्दर्य या बल प्राप्त करना उनका उद्देश्य न था। वे केवल अपने को सैनिक जीवन के लिये योग्य बनाना चाहते थे। धीरे-धीरे जब दूसरे भी उनका अनुकरण करने लगे तो उनकी श्रेष्ठता जाती रही। स्पार्त्तनों का व्यायाम करने का ढंग पूर्ण वैज्ञानिक था। किसी अङ्ग पर वे विशेष ज़ोर नहीं देते थे। अठारह वर्ष की अवस्था हो जाने पर सैनिक शिक्षा की कठोरता बढ़ा दी जाती थी। युद्ध करने के भिन्न-भिन्न उपाय उन्हें बतलाये जाते थे। कभी-कभी अभ्यास के लिये वे दासों पर धावा बोल दिया करते थे और निर्दयता से उनकी हत्या कर डालते थे। स्पार्त्तन लोगों में उत्साह दिलाने की भी एक प्रथा थी। हर एक वृद्ध पुरुष उत्साह देने के लिये किसी नवयुवक को चुन लिया करता था। यदि किसी नवयुवक का चुनाव नहीं होता था तो यह उसके लिये अनादर की बात समझी जाती थी। यदि कोई वृद्ध उत्साह देने के लिये किसी नवयुवक को नहीं चुनता था तो वह अपने नागरिक कर्तव्य से च्युत समझा जाता था। नवयुवक 'श्रोता' कहा जाता था और वृद्ध 'उत्साह दिलाने वाला'। स्पार्त्ता में वृद्ध लोगों का बड़ा मान किया जाता था। युवक उनकी सभी आज्ञाओं का

पालन प्रसन्नता से करते थे। उत्साह देने वाले की संरक्षता में ही युवक अपना सारा काम किया करता था। 'उत्साह दिलाने वाला' उसके अवगुणों और गुणों पर सदैव कड़ी आँख रखता था। स्पार्त्ता में नैतिक विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता था। उनकी सारी शिक्षा-व्यवस्था ही ऐसी थी कि नैतिक विकास स्वतः हो जाता था। स्पार्त्तन प्राचीन वीरों का उदाहरण देकर अच्छे गुणों को अपनाना चाहते थे। युवकों में वे स्पर्धा की भावना उत्पन्न किया करते थे। संगीत की सहायता से देशभक्ति तथा 'वीरता' में सबका अनुराग पैदा करने का प्रयत्न किया जाता था। ईरेन कभी-कभी युवकों के नैतिक चरित्र की परीक्षा के लिये नीति सम्बन्धी प्रश्न पूछा करता था—उदाहरणतः ' शहर में सबसे अच्छा आदमी कौन है ? सम्मान कैसे प्राप्त होता है ? अमुक कार्य को तुम कैसा समझते हो ?" इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर न पाने पर 'ईरेन' युवकों के अँगूठों को दाँत से काट लेता था।

स्पार्त्तन प्रणाली में हम बौद्धिक शिक्षा का अभाव पाते हैं। सैनिक शिक्षा के आगे इसका किसी को कुछ ध्यान न रहा। पर पढ़ना-लिखना वर्जित न था। इसलिये कुछ लोग स्वतः घर पर पढ़ लिया करते थे। अंकगणित का विशेष महत्त्व नहीं समझा जाता था। भूगोल, इतिहास, खगोल आदि को तो कोई पढ़ता ही नहीं था। साहित्य-शास्त्र तथा भाषण-कला को तनिक भी प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था, क्योंकि यह असंयम का चिह्न समझा जाता था। यदि कोई स्पार्त्तन विदेश से इसे सीख आता था तो एफ़र्स उसे दण्ड देते थे। स्पार्त्तनों का सब कुछ थोड़े में कहने का अभ्यास था। उन्हें बल, सौन्दर्य और संगीतमय वाणी अधिक रुचिकर थी। होमर की कविताओं को याद करने के लिये सबको प्रोत्साहित किया जाता था। युद्ध सम्बन्धी गाने सबको याद करने पड़ते थे। लोगों का ऐसा विचार था कि लिख लेने से मनुष्य

दौड़ने वाली स्पार्त्ती बालिका।

स्मरण करने में सुस्त पड़ जाता है और उसकी स्मरण-शक्ति खो जाती है। अतः स्मरण करना अनिवार्य था। संगीत में स्पार्त्तनों का बहुत विकास नहीं हुआ था। वाद्य संगीत को तो वे विशेष प्रोत्साहन देते ही न थे। उन्हें ताल का ध्यान नहीं रहता था। स्वर की मधुरता ही को प्रधानता दी जाती थी। संगीत भावमय होता था और उसका मुख्य उद्देश्य नैतिक प्रभाव डालना होता था। नवयुवकों को कभी राज्य 'विधान' को भावमय 'लय' में पढ़ना पड़ता था। संगीत से वे साहस, देशभक्ति तथा विनय आदि गुणों का विकास करना चाहते थे। सैनिक-नागरिक को नैतिक तथा सामाजिक जीवन में शिक्षा देने के लिये संगीत अच्छा साधन समझा जाता था।

३—स्त्री शिक्षा—

स्पार्त्तन स्त्रियों का बड़ा आदर करते थे। स्त्रियों को पूरी स्वतन्त्रता थी। उनके शब्दों का बड़ा आदर किया जाता था। भरी सभा में वे किसी को 'उत्तम' या 'निकृष्ट' ठहरा सकती थीं। जैसे सैनिक-नागरिक अन्य नागरिकों के लिये आदर्श माना जाता था, उसी तरह किसी सैनिक की माँ दूसरी स्त्रियों के लिये आदर्शस्वरूप थी। लाईकरगस यह चाहता था कि स्त्रियों की शिक्षा ऐसी हो कि वे कुशल सैनिक उत्पन्न कर सकें। अतः उनके स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। गृह-कार्य को छोड़कर उनकी प्रारम्भिक शिक्षा बालकों के ही समान होती थी। लड़कियाँ बालकों के सदृश् वस्त्र पहना करती थीं। उन्हें ऐसा बनाने की चेष्टा की जाती थी कि युद्ध में अपने पुत्र अथवा पति की मृत्यु हो जाने पर वे शोक न करें। लड़कियों की व्यायामशाला अलग हुआ करती थी। दौड़ना, तैरना, गेंद फेंकना इत्यादि उनके व्यायाम थे। उत्सव के अवसर पर वे एक समारोह के रूप में चलती थीं। उन्हें सामूहिक गीतों में भाग लेना सिखाया जाता था। नृत्य-कला भी उन्हें सिखाई जाती थी। वे बालकों की व्यायामशालाओं में खेलों को देखने के लिए जा सकती थीं। कभी कभी वे स्वयं नवयुवकों के साथ कुश्ती लड़ा करती थीं। नवयुवकों के साथ मिलने-जुलने की उन्हें पूरी स्वतन्त्रता थी। विवाह हो जाने पर उन्हें एक आवरण पहनना पड़ता था। विवाह के बाद उन्हें व्यायामशाला इत्यादि के नियम पालन करने के लिये विवश न किया जाता था। लाइकरगस के विधान के अनुसार उन्हें गृह-कार्य से भी बहुत छुट्टी मिल गई थी। कताई तथा बुनाई आदि दासों को करनी पड़ती थी। घर को ठाट-बाट से रखना भी उनके लिये आवश्यक नहीं समझा जाता था, क्योंकि सादा जीवन व्यतीत करना सबका आदर्श था। इन सब

कारणों से स्पार्त न स्त्रियों में कोमलता तथा अन्य स्वाभाविक गुणों की बड़ी कमी थी। परन्तु वे तत्कालीन यूनान के अन्य प्रदेशों की स्त्रियों से साधारणतः सभी बातों में अच्छी थीं। स्पार्तन स्त्रियाँ यूनानी सभ्यता की अनोखी उपज थीं।

स्पार्त्ती शिक्षा का प्रभाव यूनान के अन्य प्रदेशों की शिक्षा की अपेक्षा अधिक काल तक रहा। इसका प्रधान कारण उसका पक्का नियन्त्रण तथा नियम-पालन था। शिक्षा ही के द्वारा स्पार्तन नवयुवकों में साहस, उत्साह, देशभक्ति तथा कष्ट सहिष्णुता आदि गुण शीघ्र आ जाते थे। उनकी यह प्रणाली शताब्दियों तक चलती रही। एथेन्स के व्यक्तिवाद की लहर पहुँचने पर उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा, वे अपने सैनिक जीवन ही में सदैव मस्त रहे। मानव हित की दृष्टि से हम स्पार्त्ती शिक्षा को सफल नहीं कह सकते। यही कारण है कि उनमें कोई बड़ा कलाकार, दार्शनिक अथवा नाट्यकार न हो सका। युद्ध-काल में उनकी अधिक उन्नति होती थी, क्योंकि तब उनका सैनिक जीवन चरम सीमा तक पहुँच जाता था। किन्तु शान्ति-काल में उनकी उन्नति रुक जाती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्पार्त्तनों का दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण था। सभ्यता के इतिहास में उनका स्थान सैनिक शिक्षा, उत्कृष्टता तथा वीरता के अद्वितीय विकास के लिये अमर है। शारीरिक बल, अदम्य उत्साह, देशभक्ति, सहिष्णुता, चरित्र बल, आत्मत्याग तथा उत्कृष्ट सामाजिक जीवन प्राप्त करने के लिये उनसे संसार सदैव प्रेरणा लेता रहेगा। यही कारण है कि स्पार्त्तनों के सम्बन्ध में अब भी यूरोप में अनेक कहावतें और मुहावरे प्रचलित हैं। शारीरिक बल और सौन्दर्य के तो वे प्रतीक माने जाते हैं। लेकिन इतना तो कहना ही पड़ेगा कि अपनी बर्बरता के कारण वे शीघ्र नष्ट हो गये। जीवन के सौन्दर्य को वे न समझ सके। अतः संसार के लिये वे वीरता तथा प्रमत्त-दृढ़ता की कहानियों के अतिरिक्त कुछ नहीं छोड़ गये।

ख—एथेनी शिक्षा

१—एथेन्सवासियों का शिक्षा-आदर्श तथा उनकी सभ्यता की देन—

प्रारम्भ में एथेन्सवासियों का शिक्षा-आदर्श बिलकुल स्पष्ट था। शिक्षा-उद्देश्यों की उलझन तो परशियन युद्ध के बाद प्रारम्भ होती है। वे अपने शारीरिक सौन्दर्य पर विशेष ध्यान देते थे। प्लैतो एक यूनानी की उत्कट इच्छा इस तरह से प्रकट करता है:—"पहले स्वास्थ्य; दूसरे, शारीरिक सौन्दर्य तत्पश्चात् ईमानदारी से सम्पत्ति आती है।" वे शारीरिक अवयवों के सुन्दर परिचालन पर सर्वदा ध्यान रखते थे। अपने व्यक्तित्व के विकास में वे

शारीरिक सौन्दर्य की प्राप्ति की धुन में बल और कौशल की परीक्षा हेतु 'डिसकस' फेंकनेवाला यूनानी युवक [पृष्ठ ८९]

व्यक्तित्व के सौन्दर्य-विकास की चेष्टा में यूनानी युवकों में कुश्ती [पृष्ठ १०]

एक तरह का सामञ्जस्य चाहते थे। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के वे घोर पक्षपाती थे। किसी क्षेत्र में 'अति' से उन्हें घृणा थी। किसी काम की व्यावसायिक वृत्ति उन्हें रुचिकर न थी। व्यावसायिक, संगीतज्ञ और खिलाड़ी का उपहास किया जाता था। "शक्तियों के 'समान विकास' से ही आत्मसंयम, शुद्धता और गाम्भीर्य आ सकता है"—ऐसा उनका विश्वास था। "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क" उनका सिद्धान्त था। शारीरिक सौन्दर्य की प्राप्ति की धुन में मानसिक उन्नति की ओर भी सदा उनका ध्यान रहता था। वर्तमान काल की शिक्षा-प्रणाली में शारीरिक उन्नति की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। फलतः छोटी ही उम्र में बुढ़ापा आ जाता है। यदि हमें अपने मानसिक विकास के साथ शारीरिक उन्नति पर भी ध्यान देना है—यदि हम चाहते हैं कि हमारे मानसिक विकास की नींव दृढ़ हो तो हमें शारीरिक उन्नति की ओर ध्यान देना ही होगा। इस विषय में हमें एथेन्सवासियों से सबसे अधिक प्रेरणा मिलती है। यूनानी शिक्षा-प्रणाली की यह एक महानता है।

एथेन्सवासी युवक की शिक्षा में 'राज्य-सेवा' के उद्देश्य का पूरा ध्यान रक्खा जाता था। किसी नागरिक की योग्यता उसकी 'राज्य-सेवा' की निपुणता में समझी जाती थी, लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि व्यक्तित्व का विकास कभी कुण्ठित नहीं किया जाता था। राज्य और व्यक्ति के हित में सामञ्जस्य हमें पहली बार एथेन्स शिक्षा-प्रणाली में ही मिलता है। उन्होंने अपने समाज का संगठन इस ढंग पर किया कि उसमें प्रत्येक को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वतन्त्रता थी, परन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सामाजिक हित से संघर्ष न हो जावे इसका उन्हें ध्यान था। हम आगे देखेंगे कि एथेन्सवासी अपने इस प्रयत्न में पूर्णरूप से सफल नहीं हुए। परन्तु इस तरह के काम को प्रारम्भ करने का श्रेय उन्हीं को है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। आज भी हम व्यक्तिवाद और समाजवाद में मुँहजोड़ लड़ाई देखते हैं, तो हजारों वर्ष पहले यदि यूनानी इसको न सुलझा सके तो क्या आश्चर्य? राजनैतिक उत्तरदायित्व के साथ ही साथ यूनानी व्यक्तिगत नैतिकता के विषय में अधिक सचेष्ट थे। व्यक्ति की नैतिकता उसकी निजी प्रेरणा की उपज थी। अपना उत्तरदायित्व वह अपने आप समझता था। इसीलिये राज्य-सेवा अनिवार्य होते हुए भी उसे अपनी स्वतन्त्रता पर आक्षेप नहीं मालूम होता था। हम आगे देखेंगे कि यूनानी चरित्र का यह गुण हमें उनकी शिक्षा-प्रणाली में स्पष्ट मिलता है। यूनानियों का 'ज्ञान' से प्रेम 'ज्ञान' के लिये था। यूनान ही में

सबसे पहले 'प्रकृति', 'मनुष्य' और 'सत्य' के रूप को पहचानने की चेष्टा की गई। यहाँ ज्ञान का क्षेत्र केवल पुरोहितों तक ही सीमित नहीं था। पुरोहितों का तो बहुधा निर्वाचन किया जाता था। उनका कोई अपना अलग वर्ग न था। वे धार्मिक जीवन व्यतीत करने के बाद नागरिक जीवन में आ जाते थे। दर्शन-शास्त्र, साहित्य, विज्ञान और शिक्षा से उनका विशेष लगाव न था। ज्ञान का क्षेत्र यूनान में सबके लिये खुला था। यूनानी उत्सुक स्वभाव के थे। सभी लोग अपनी रुचि के अनुसार विद्याध्ययन कर सकते थे। यूनानी अपनी बुद्धि और विवेकानुसार जीवन की समस्यायें हल करना चाहते थे। उन्होंने ही सबसे पहले मनुष्य को 'बुद्धिवादी' माना है। सुकरात कहता था कि प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह "अपने को जाने"। ज्ञान के क्षेत्र में भी यूनानी 'व्यक्तित्व का विकास' चाहते थे? शिक्षा के लिये उनकी यह एक देन है। यूनानियों की दूसरी देन 'व्यक्तित्व के सौन्दर्य-विकास' में है। इस क्षेत्र में वे अपना प्रतिद्वन्दी नहीं रखते। वे 'सत्य' को स्थूल रूप में रखना चाहते थे। क्योंकि उनका विश्वास था कि 'कला' सत्य तथा आदर्श का दूसरा रूप है और उसका अनुभव सभी लोग कर सकते हैं। इसलिये 'कला' को वे 'अनुभव की वस्तु' समझते थे, न कि 'तर्क करने की'। यूनानियों के इस विश्वास का फल हम उनके कारीगरी, चित्रकला, संगीत तथा कविता के विकास में पाते हैं।

२—एथेनी के आदर्शों के दोष—

अब यहाँ पर एथेनी आदर्शों के दोषों पर दृष्टिपात करना असंगत न होगा। यूनानियों की सभ्यता का ह्रास क्यों हुआ? जिस सभ्यता से आज भी हमें प्रेरणा मिलती है उसका नाम एकदम क्यों मिट गया? उनके आदर्शों में कुछ कमी अवश्य थी। वे नारी जाति का आदर पुरुष के समान नहीं करते थे। यह उनमें बड़ा भारी दोष था। पुरुषों की भाँति स्त्रियों को स्वतन्त्रता न थी। वे भूल गये कि पुरुष के जीवन का आदर्श स्त्रियों के सहयोग के बिना भली भाँति पूरा नहीं हो सकता। यूनानी सभ्यता के ह्रास का कारण उनकी 'दास-प्रथा' भी थी। जहाँ लाखों मनुष्य पशु की भाँति रखे जाते थे वहाँ की सभ्यता का भवन कब तक टिक सकता था? अन्याय और अत्याचार से मान की रक्षा कब तक की जा सकती है? साधारण जनवर्ग के प्रति यूनानी उदासीन थे। सभ्यता के विकास का प्रयत्न नहीं किया जा सका। ऐथेन्सवासी सभी कलाओं में निपुणता प्राप्त करना चाहते थे। यह असम्भव था। वे भूल गए कि मनुष्य की शक्तियाँ सीमित होती हैं। अपनी रुचि विभिन्न दिशाओं में

रखने से उनकी एकनिष्ठता धीरे-धीरे जाती रही। आगे चलकर, जैसा हम देखेंगे, उनके चरित्र में शैथिल्य आने लगा। वे दैहिक सुख की ओर झुकने लगे। उन्होंने श्रेय को छोड़ प्रेय को अपनाया। सोफिस्टों के प्रभाव में आने से उनका बौद्धिक विकास बढ़ गया। परन्तु उसको वे संयत रूप में न रख सके। किसी बात का खण्डन और उस पर तर्क करने में वे अपनी योग्यता दिखलाने लगे। खण्डन करने के आवेश में वे तत्व को भूलने लगे। ऐथेन्सवासियों में सहानुभूति की कमी थी। निर्बलों के प्रति वे बड़े क्रूर थे। युद्ध में उनकी निर्दयता अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती थी। उनका आदर्श व्यक्तिगत न हो सका। उसका सम्बन्ध विशेषकर किसी संस्था से रहता था। कुछ यूनानी दार्शनिकों ने आचार के सिद्धान्तों को विवेक की कसौटी पर कसने का प्रयत्न अवश्य किया, परन्तु वे आदर्शों को व्यक्तिगत रूप न दे सके। फल यह हुआ कि ऐथेन्सवासी युवक धीरे-धीरे लम्पट और आवारा होने लगे। वे अपनी पुरानी सभ्यता की रक्षा न कर सके।

ग—प्राचीन यूनानी शिक्षा

४७६ ई० पू० में परशियन युद्ध के बाद यूनानी नवयुवकों में एक नये रक्त का संचार होता है। उनके चरित्र में एक नई लहर आती है। अतः उनके पूरे सामाजिक संगठन में परिवर्त्तन दिखलाई पड़ता है। इसलिये ४७६ ई० पू० के पहले और बाद के यूनानी शिक्षा के रूप में हमें भिन्नता दिखाई पड़ती है। ४७६ ई० पू० की शिक्षा-प्रणाली को 'प्राचीन यूनानी' शिक्षा कहते हैं और बाद वाली को 'नवीन यूनानी शिक्षा'। पहले हम पुरानी प्रणाली पर ही विचार करेंगे। इस प्रणाली का उद्देश्य कुशल नागरिक बनाना था। कुशल नागरिकता के लिये व्यक्तित्व का पूर्ण विकास आवश्यक समझा जाता था। शिक्षा 'राज्य' की देख-रेख में दी जाती थी, पर वह अनिवार्य न थी। स्त्री की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। अध्यापक 'राज्य' के नौकर नहीं समझे जाते थे और समाज में उनका मान भी बहुत कम था। पाठन-विधि में बहुत विकास नहीं हो सका। बहुत-सी बातें अमनोवैज्ञानिक ढंग पर चल रही थीं। तथापि शिक्षा का क्रियात्मक रूप विशेष उल्लेखनीय है। विद्यार्थी स्वयं अपने अनुभव से ज्ञान प्राप्त करते थे। प्रारम्भिक शिक्षा की अवधि प्रथम आठ वर्ष तक मानी जाती थी। निर्बल बालकों को अनादर की दृष्टि से देखा जाता था। प्रारम्भ में उनको

देख-रेख के लिये देवताओं को उत्तरदायी समझा जाता था। पुनः पुरोहित द्वारा उनका नामकरण करने के बाद नागरिकों की नामावली में उनका नाम अंकित कर लिया जाता था। बालिकाओं की शिक्षा का भार उनकी माताओं और दाइयों पर होता था।

आठ से सोलह वर्ष तक शिक्षा का दूसरा क्रम आरम्भ होता था। इस समय के भीतर उन्हें एक पाठशाला से दूसरी पाठशाला में जाना होता था। पहले उन्हें 'ग्रामर स्कूल' में पढ़ना, लिखना और गिनना सिखाया जाता था। होमर, हेसिओड और ईसप की रचनाओं से उन्हें श्रुतिलेख बोले जाते थे। 'ग्रामर-स्कूल' से उत्तीर्ण होने के बाद उन्हें 'संगीत-स्कूल' में जाना पड़ता था। संगीत साहित्य का सहायक माना जाता था। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये संगीत का सीखना आवश्यक था। लोगों का यह विश्वास था कि संगीत का हृदय पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ता है, फलतः मनुष्य उसके प्रभाव से कुप्रवृत्तियों से दूर रहना पसन्द करेगा। संगीत की शिक्षा पा लेने पर 'खेल-कूद' सीखने का समय आता था। इसके लिये अलग ही व्यायामशाला होती थी। पूर्ण शारीरिक विकास के लिये भाँति-भाँति के खेल और व्यायाम कराये जाते थे। यही कारण है कि उनकी शारीरिक उन्नति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। यूनानियों के शरीर सम्बन्धी प्राचीन चित्र या मूर्ति देख कर हम लोगों की स्पर्धा भावना जाग उठती है। खेल-कूद तथा व्यायाम आदि में प्रतियोगिता की उतनी भावना नहीं थी जितनी कि शारीरिक और नैतिक उन्नति की।

सोलह से अठारह वर्ष की अवस्था में बालकों को कठिन सैनिक शिक्षा दी जाती थी। उनके व्यायाम और खेल-कूद पहले से कठिन कर दिये जाते थे। माता-पिता उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। अठारह वर्ष के बाद नवयुवक 'एफ़ेबोस' कहे जाते थे। उन्हें दो साल तक कड़े राज्य-नियन्त्रण में रहना पड़ता था। सच्ची नागरिकता की शपथ लेकर उन्हें एक साल तक नये सैनिकों की तरह जीवन व्यतीत करना पड़ता था और फिर एक साल तक सिपाही का काम करना पड़ता था। इस तरह की शिक्षा देकर यूनानी कुशल नागरिक बनने पर ज़ोर देते थे, जिससे युवकगण राज्य की रक्षा कर सकें।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि यूनानी व्यक्ति और राज-हित में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहते थे। शिक्षा को उन्होंने राज्य की रक्षा और

व्यक्तित्व के विकास का साधन समझा। शिक्षा-क्षेत्र में उनका प्रधान ध्येय नैतिक और सामाजिक था तथापि व्यक्ति को वे पर्याप्त स्वतन्त्रता दे सके। उनका उद्देश्य बौद्धिक विकास की ओर कम था। शिक्षा से वे व्यक्ति में भक्ति, आदर-भाव और आत्मसंयम लाना चाहते थे। उनकी नैतिकता का विकास परम्परागत था। लोकमत सदा उनके साथ था। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सैनिक कार्यों में भाग लेने के लिये वे प्रत्येक व्यक्ति को उत्साहित करते थे। इसमें तनिक भी दुराग्रह उन्हें पसन्द न था। उनका ध्येय था कि शिक्षा का संचालन इस भाँति किया जाय कि व्यक्ति सभी सामाजिक कार्यों में अपनी प्रेरणा से सहर्ष भाग ले। नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक विचार परम्परागत थे। व्यक्ति को उनमें हेर-फेर करने की स्वतन्त्रता न थी। हाँ, इन आदर्शों की प्राप्ति के लिये किसी प्रकार के शिक्षा-साधन के उपयोग करने की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

घ—नवीन यूनानी शिक्षा

४७६ ई० पू० से नयी यूनानी शिक्षा का प्रारम्भ माना जाता है। शिक्षा का क्रम इस प्रकार बदल जाने के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक, नैतिक तथा धार्मिक कारण हैं। क्लिस्थीनीज़ ने सोलन के 'राज्य-विधान' को बदल कर अटिका के सभी स्वतन्त्र निवासियों को नागरिकता का अधिकार दे दिया। अब जनता की शक्ति पहले से बढ़ गई। नागरिक अपने विकास के लिये अवसर की खोज करने लगे। प्रजातन्त्र का विकास होने लगा। लोगों को व्यापार सम्बन्धी अनेक सुविधायें मिल गईं। परशियन युद्ध में एथेन्सवासियों के पथ-प्रदर्शन से एथेन्सवासी सारे यूनानी लोगों के अगुवा हो गये। लोगों में भ्रातृत्व का भाव पहले से अधिक हो गया। विभिन्न व्यापारियों, यात्रियों, राज-नीतिज्ञों तथा सोफिस्टों के सम्पर्क से लोगों में सहिष्णुता का प्रादुर्भाव हुआ। लोग एक दूसरे के विचारों को समझने की चेष्टा करने लगे। इस प्रकार परम्परागत विचारों में परिवर्त्तन होने लगे। पहले राज्य-हित को 'व्यक्ति-हित' से ऊपर समझा जाता था परन्तु इस सिद्धान्त में लोगों को सन्देह होने लगा। अब व्यक्तिगत हित की ओर लोगों का झुकाव हुआ। यही कारण है कि इस काल के सुखान्त नाटकों में निज-हित की जीत की प्रधानता दिखलाई गई है। इसके पहले के दुःखान्त नाटकों में कर्त्तव्य और स्वार्थ का संघर्ष दिखलाया गया और सार्वजनिक हित को विशेष प्रतिष्ठा दी गई थी। शिक्षा का आधार अब व्यक्तिवाद माना गया। चारों तरफ व्यक्तिवाद की लहर थी, इसलिये साहित्य

में भी इस लहर की झलक स्वाभाविक थी। अब यूनानियों का अपनी प्राचीन कथाओं में विश्वास कम रहा। जिन वीरों के नैतिक आदर्शों ने उनको देश-भक्ति, साहस तथा आत्म-संयम का पुजारी बना दिया था, व्यक्तिवाद की लहर इतनी प्रबल हुई कि वे ही वीर तिरस्कृत कर दिये गए। अब नए आदर्शों की खोज की जाने लगी। उस समय के यूनानी विचारकों ने कई सुझाव रक्खे, परन्तु कोई भी सर्वमान्य न हो सका। फलतः सुन्दर संगीत, नैतिक तथा कड़ी शारीरिक शिक्षा का तिरस्कार किया गया। सुकरात इस परिवर्त्तन से दुखी हुआ। वह कहता है, "वीर और सुन्दर युवावस्था का जोश हमारे शहर से उड़ गया.........जो अच्छी आदतों के तिरस्कार से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु दूसरों का उपहास भी करता है, वह शरीर की ओर कब ध्यान देगा !!!"* लोगों का रहन-सहन बदलने लगा। विलास की ओर चित्त जाने लगा। जैसे उस काल के सुखान्त नाटकों में समय के परिवर्त्तन का चित्र मिलता है उसी भाँति कलाकारों के कला-प्रदर्शन में भी। उनके चित्र में खेल तथा व्यायाम में लीन युवक नहीं दिखलाई पड़ते थे, अब वे बहस करते हुये दिखलाई पड़ते थे। युवकों का विश्वास अब पुराने नैतिक व्यवहारों में न रहा। वे माता-पिता तथा बड़ों की आज्ञा का उलंघन करने लगे। उनका समय अब नाच तमाशे में कटने लगा। प्लैटो इस अवनति को सह न सका। वह कहता है"......हम लोगों के सभी ज्ञान भाग गये....यदि आप किसी एथेन्स निवासी से पूछें कि गुण अर्जित किया जाता है, या स्वाभाविक है तो वह हँसेगा.....और कहेगा कि मैं नहीं जानता कि गुण क्या है।"† नैतिकता की नई परिभाषा प्रचलित की गई जिसमें व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ की प्रधानता थी। समाज अब दूसरे ढाँचे में आ गया। अतः शिक्षा को भी एक नया ही रूप दिया गया। लोगों ने शिक्षा के क्षेत्रों में भी व्यक्तिगत विचार और कार्य की स्वतन्त्रता की माँग उपस्थित की, जिससे राजनीति में पाई हुई सुविधाओं का वे सदुपयोग कर सकें। अब वे सभी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक समस्याओं पर विचार करने की योग्यता प्राप्त करना चाहते थे। जनमत को अपने पक्ष में करने के लिये वे भाषण देने की योग्यता चाहते थे। सेना, जल-सेना, राजनीति तथा सामाजिक जीवन आदि क्षेत्रों में अब स्पष्ट ज्ञान और चतुराई की आवश्यकता थी, किन्तु पुरानी शिक्षा-प्रणाली से यह सब नहीं प्राप्त किया जा सकता था। शिक्षा की

* वर्क्स ऑव ज़ेनोफ़न, तीसरा भाग, पृ० ९५

† प्लैतो, मेनो ** १२-१२

ये सब माँगें पूरी करनी थीं। सोफ़िस्टों ने इन माँगों को पूरी करने का वचन दिया। वे बड़े अनुभवी तथा यूनानियों की तत्कालीन शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरी करने में योग्य थे। उनका दावा था कि वे युवकों को सभी विषयों में शिक्षा दे सकते थे। राजनीति को वे अपना प्रधान विषय समझते थे। परन्तु वे अपनी अहमन्यता और स्वार्थपरता के कारण यूनानी विचारकों में बहुत अप्रसिद्ध हो गये। उनके प्रति लोगों की सहानुभूति धीरे-धीरे कम होती गई।

सोफ़िस्टवाद—

सोफ़िस्टवाद के अनुसार दैहिक सुख संसार की सबसे बड़ी वस्तु थी। मनुष्य के लिये इससे बड़े उद्देश्य की वे कल्पना ही नहीं कर सकते थे। वे व्यक्ति-हित को राज्य-हित से बड़ा मानते थे। परम्परागत नैतिकता में उनका विश्वास न था। स्वाभावानुसार किये हुए कार्य को वे सर्वोत्तम मानते थे। अच्छे और बुरे को पहचानने की कसौटी व्यक्ति का तात्कालिक सुख है। जो एक को बुरा लगता है वह दूसरे को अच्छा लग सकता है। जो आज हमें बुरा लगता है वह कल अच्छा लग सकता है। इस प्रकार सोफ़िस्ट मत के अनुसार अच्छे और बुरे की पहचान व्यक्ति पर निर्भर है। उनके इन विचारों का प्रभाव यूनानी नवयुवकों पर विशेष पड़ रहा था। उनका नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया था। सोफ़िस्टों के लिये सार्वभौमिक सत्य का कोई स्थान न था। व्यक्ति जो अपनी आँखों से देखता है वही सत्य है और शेष सब झूँठ। एथेन्स के नवयुवक नये जोश में उतावले हो रहे थे। वे ऊँची शिक्षा पाने के लिये उद्विग्न हो उठे। सोफ़िस्टों के विषय-ज्ञान ने उन्हें मुग्ध कर लिया। उनकी नैतिकता की ओर वे ध्यान न दे सके। सोफ़िस्टों के नैतिक जीवन पर बहुत आक्षेप किया गया है। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वे समय की आवश्यकता पूरी करने में समर्थ थे। उनका आचार-शास्त्र चाहे जैसा रहा हो, किन्तु उनकी शिक्षा-प्रणाली समय की आवश्यकतानुसार थी। ऊँची साहित्यिक और बौद्धिक शिक्षा के प्रारम्भ करने का श्रेय उन्हीं को दिया जा सकता है।

सोफ़िस्टों के नियन्त्रण में शिक्षा का रूप ही पूर्णतः बदल गया। प्राथमिक शिक्षा सात से तेरह साल तक दी जाती थी। प्राथमिक काल में पढ़ना, लिखना, अंकगणित तथा वाद्य संगीत पर विशेष ध्यान दिया जाता था। माध्यमिक शिक्षा का काल तेरह से सोलह वर्ष तक था। इसके विषय व्याकरण, ज्यामिति, संगीत तथा आलंकारिक कला थे। सोफिस्टों के मतानुसार अब शारीरिक सुख पर ही विशेष ध्यान दिया जाने लगा। व्यायाम और खेल-कूद

की कड़ाई ढीली कर दी गई। संगीत में नए-नए कवियों की रचनाओं का उपयोग किया जाने लगा। युवकों का ध्यान वाद्य-संगीत की ओर भी आकर्षित किया गया। साहित्यिक शिक्षा के अन्तर्गत, भाषण देने तथा विवाद करने की निपुणता आवश्यक समझी जाने लगी। सोफ़िस्टों की कुप्रवृत्तियों का प्रभाव बालकों पर पड़े बिना न रहा। वे अपने प्राचीन आदर्शों को भूलने लगे। उनका शारीरिक और मानसिक ह्रास होने लगा। प्लैतो और अरस्तू ऐसे विचारक भीतर ही भीतर कुढ़ रहे थे। जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया जिन्हें हम आगे पढ़ेंगे। बौद्धिक विकास की उड़ान में नैतिकता भुला दी गई। वाह्याडम्बर अब प्रधान माना जाने लगा। व्यक्तिगत स्वार्थ ही भले और बुरे की पहचान का आधार हो गया। राज्य और समाज-हित को बलि दे दी गई। सोलह से अठारह वर्ष तक पहले उच्च सैनिक शिक्षा दी जाती थी। अब उसका रूप सैनिक न होकर साहित्यिक हो गया। इस साहित्यिक शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता न होकर स्वार्थसिद्धि के लिये जनमत को अपने पक्ष में लाना था। इस शिक्षा-प्रणाली में विद्यार्थियों को सुन्दर शब्दों तथा ठीक व्याकरण और साहित्य का प्रयोग सिखलाया जाता था। सोफ़िस्ट अध्यापक युवकों का समूह बनाकर उन्हें एक निश्चित स्थान पर पढ़ाया करते थे। सुकरात के पढ़ाने की प्रणाली दूसरी थी। वह समूह को न लेकर व्यक्ति को लेता था। उसे किसी भी सुविधाजनक स्थान पर अर्थात् सड़क, बाज़ार अथवा व्यायामशाला में युवकों को पढ़ाने में संकोच न होता था। सोफ़िस्ट प्रभाव के फलस्वरूप यूनान में बहुत से विद्वान अध्यापक का कार्य करने लगे। इनमें इसोक्रतेस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भाषण देने की कला अथवा साहित्य एवं अलंकार शास्त्र पर अधिकार पाने की नवयुवकों में धूम-सी मच गई। इन सब कलाओं की प्राप्ति के लिये बहुत-से स्कूल खोले गये। पुरानी व्यायामशालायें भी अब स्कूल के रूप में दिखलाई पड़ने लगीं। पहले यहाँ लोग अपनी शारीरिक उन्नति के लिये विभिन्न प्रकार के खेल तथा व्यायाम करने आया करते थे। यहाँ लोगों की बड़ी भीड़ हुआ करती थी। सोफ़िस्टों ने यूनानियों को यहाँ पर शिक्षा देने का अच्छा अवसर देखा, क्योंकि इतना बड़ा जन-समूह अन्यत्र सरलता से इकट्ठा न होता। व्यायामशालायें अब उनकी भाषणशालायें बन गईं। विद्या और साहित्य का चारों ओर प्रचार होने लगा। सोफिस्टों के आन्दोलन का प्रभाव यूनान के अन्य स्वतन्त्र विद्वानों पर पड़े बिना न रहा। वे भी जाग उठे और अपने

विचार और सिद्धान्तों के प्रचार में लग गये। उन्होंने अपने अलग-अलग विद्यालय स्थापित किये। प्लैतो ने अपने विचारों और सिद्धान्तों के प्रचार के लिये 'एकेडेमी' स्थापित की। उच्च शिक्षादान के लिये यूनान की यह सर्वप्रथम स्थायी संस्था थी। अरस्तू ने 'लीसियम' की स्थापना की। विज्ञान के अध्ययन के लिये यहाँ एक बहुत बड़ा पुस्तकालय तथा प्रयोगशाला बनाई गई। प्लैतो और अरस्तू के विचारों के बारे में हम आगे पढ़ेंगे। एपीक्यूरस ने अपने 'एपिक्यूरियन सिद्धान्त' के प्रचार के लिये अलग स्कूल खोला। एपीक्यूरस पर सोफिस्टों का बहुत प्रभाव पड़ा था। उसने अपने सिद्धान्त में इन्द्रिय-सुख को प्रधान माना। चौथा स्कूल 'साइप्रस' द्वीप के धनी सौदागर ज़ेनोफन ने स्थापित किया। समुद्री झंझा में अपनी सारी सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर उसे ज्ञान हुआ। उसने अपने सिद्धान्त में 'विवेक' और 'आत्म-संयम' को प्रधानता दी। इन सभी स्कूलों के विद्यार्थी एक निर्धारित नियन्त्रण के अन्दर रहते थे। आजकल की तरह गोष्टियाँ बना-बनाकर विचारों का आदान-प्रदान किया जाता था। गोष्टियों की नियमपूर्वक मासिक बैठक हुआ करती थी। बहुत-से अंशों में माध्यमिक काल के मठों की शिक्षा-प्रणाली का आभास इनमें मिल जाता है। अपने स्कूल और शिक्षक के प्रति लोगों में आदर और ममता पैदा होने लगी। एथेन्सवासियों की यह प्रवृत्ति शताब्दियों तक जीवित रही। एथेन्स धीरे-धीरे शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र हो गया। योरोप के भिन्न-भिन्न स्थानों से लोग विद्याध्ययन के लिये यहाँ आने लगे।

यूनान के नये युग में शिक्षा की जटिल समस्यायें

यूनानी जीवन में पुनर्जागृति होने के कारण उनकी शिक्षा समस्यायें पहले से जटिल हो चलीं। विभिन्न विचारक अपने-अपने मत का प्रचार कर रहे थे। ऐसी स्थिति में शिक्षा का एक निश्चित उद्देश्य निर्धारित करना कठिन हो रहा था। 'गुण' के रूप के विषय में मतभेद था। कोई इसको स्वाभाविक मानते थे और कोई अर्जित शक्ति। 'गुण' का तात्पर्य हम 'कुशल नागरिकता' से ले सकते हैं। क्या 'कुशल नागरिकता' शिक्षा द्वारा प्राप्त की जा सकती है? 'बुद्धि' और 'गुण' में क्या सम्बन्ध है? यूनानी विचारक इन प्रश्नों के उत्तर में अपनी सारी शक्तियाँ लगा रहे थे। शिक्षा पर राज्य-नियन्त्रण का प्रश्न भी लोगों का ध्यान खींच रहा था। हम देख चुके हैं कि पहले व्यक्तिगत और राज्य-हित में कोई विरोध नहीं था। राज्य-हित पर ही व्यक्तिगत-हित निर्भर

था। स्पार्त्ता का उदाहरण इसका प्रमाण है। इसके विपरीत एथेन्सवासी कौटुम्बिक जीवन को ही ऊँचा स्थान देना चाहते थे। पर स्पार्त्ता द्वारा अपनी हार पर उन्हें अपने आदर्शों में स्वयं अविश्वास होने लगा। उन्होंने समझ लिया कि कुशल नागरिकता तो राज्य-नियन्त्रण में उचित शिक्षा के ही द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इन अनुभवों के कारण अब 'राज्य' और 'शिक्षा' का सम्बन्ध निर्धारित करना आवश्यक प्रतीत होता था। प्लैतो और ज़ेनोफ़न राज्य-शिक्षा का समर्थन करने लगे। अरस्तू ने भी इन लोगों का अनुसरण किया। इसके बाद पाठक्रम की समस्या आती है। सोफ़िस्ट प्राकृतिक विज्ञान और साहित्यकला को उत्तम समझते थे। इसोक्रतेस का आलंकारिक शास्त्र में विश्वास था। प्लैतो ने गणित तथा खगोल का समर्थन किया। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में दर्शनशास्त्र, भाषण-कला तथा सैनिक-शिक्षा में किसको प्रधानता देनी चाहिये इस प्रश्न का भी उत्तर देना सरल न था। शिक्षा का साधारण उद्देश्य भी निर्धारित करना था। प्लैतो ने सत्य की खोज को आदर्श माना और अरस्तू ने सुख को। 'स्टोयिक' तथा 'एपीक्यूरिन' सिद्धान्तवाले अपना अलग राग अलाप रहे थे। इस तरह से हम देखते हैं कि यूनान के नये युग में शिक्षा सम्बन्धी समस्यायें जटिल हो रहीं थीं। सुकरात, ज़ेनोफन, इसोक्रतेस, प्लैतो और अरस्तू ने इन समस्याओं पर विचार कर अपने-अपने सुझाव दिए। ऐतिहासिक दृष्टि से सुकरात, प्लैतो और अरस्तू का महत्त्व विशेष है। इसलिये अगले पृष्ठों में हम उन्हीं का अध्ययन करेंगे।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

क—स्पार्त्ता शिक्षा

१—स्पार्ता जीवन का आदर्श—

स्पार्त्ता शरीर, सौन्दर्य उत्कृष्ट कोटि का, जीवन सैनिक, ध्यान व्यक्तिगत हित की ओर नहीं, जीवन का प्रबन्ध राज्य की ओर से, युद्ध-कला और सैनिक नागरिकों की शिक्षा, जीवन सादा, शासन कठोर, कुटुम्ब संगठन विश्रृंखल।

शिक्षा 'राज्य' का कर्त्तव्य, बालक राज्य की सम्पत्ति, अदम्य उत्साह, धैर्य, देश-भक्ति, आज्ञापालन—आदि गुण उत्पन्न करना, मानव सहानुभूति और कोमल भावनाओं को स्थान नहीं, स्त्रियों के प्रति सहानुभूति नहीं, बालक को स्वतन्त्रता नहीं, अध्यापकों का वर्ग नहीं, बीस वर्ष के नवयुवकों के अन्दर बालकों की टोली, निरीक्षण के लिये पेडॉनॉमस प्रधान-शासक, एफर्स के अनुसार नीति निर्धारण, कोड़े मारने के लिये 'राज्य' की ओर से कर्मचारी नियत।

२—शिक्षा के आदर्श—

माता का बालक पर अधिकार नहीं, कुरूप तथा अस्वस्थ बालक को फेंक देना, स्वस्थ बच्चों का पालन राज्य की देख-रेख में।

सात वर्ष के बाद बालक पेडॉनॉमस के नियन्त्रण में, पुत्र की आवश्यकताएँ पूरी करना, ६४ की टोली छात्रावास में, व्यायाम, खेल-कूद, भ्रातृत्व और समानता की भावना जागृत करना, सब से बुद्धिमान बालक टोली का कप्तान, प्रति दसवें दिन एफर्स द्वारा निरीक्षण।

कठिनाई सहने में अभ्यस्त करना, कड़ा बिछौना, कम भोजन, सर के बाल छोटे, 'ईरेन' की सेवा करना, सैनिकों की तरह घूम-घूम कर आवश्यक सामान इकट्ठा करना, चोरी करना अपराध नहीं बल्कि पकड़ा जाना अपराध, चोरी करते हुए पकड़े जाने पर कठोर दण्ड, घूमने से भौगोलिक ज्ञान, आखेट, अभ्यास, चमोटी से शरीर को पीटना।

कुश्ती कृत्रिम युद्ध, निश्चित विधि से सबको व्यायाम करना, व्यवसाय करना उपहासास्पद समझा जाता था, शारीरिक सौन्दर्य और बल प्राप्त करना उद्देश्य नहीं—सैनिक जीवन के लिये योग्य बनना, व्यायाम करने का ढङ्ग वैज्ञानिक, युद्ध-कला, अभ्यास के लिये गुलामों से युद्ध, उत्साह दिलाने की प्रथा, 'श्रोता' और उत्साह देने वाला, नैतिक विकास पर पूरा ध्यान, प्राचीन वीरों का उदाहरण, स्पर्धा, संगीत से देश-भक्ति और वीरता का भाव उत्पन्न करना।

बौद्धिक शिक्षा का अभाव, पढ़ना-लिखना वर्जित नहीं, भूगोल, इतिहास तथा खगोल आदि का नाम नहीं, भाषण-कला की निन्दा, होमर की कवितायें याद करना, याद करने से स्मरण-शक्ति तीव्र।

३—स्त्री शिक्षा—

स्त्रियों का आदर, पूरी स्वतन्त्रता, सैनिक की माँ दूसरी स्त्रियों के लिये आदर्श-स्वरूप, कुशल सैनिक उत्पन्न करना, प्रारम्भिक शिक्षा बालकों की तरह, उनकी व्यायाम-शाला अलग, उत्सव के अवसर पर समारोह में सामूहिक गीतों में भाग लेना, नृत्य कला, नवयुवकों के साथ कुश्ती, निर्लज्जता नहीं, विवाह हो जाने पर व्यायाम नहीं, गृह कार्य से कुछ छुट्टी, कोमलता तथा अन्य स्वाभाविक गुणों का अभाव, यूनानी सभ्यता की अनोखी उपज।

पक्का नियन्त्रण और नियम पालन उनकी सफलता का कारण, मानव हित की दृष्टि से स्पार्ती शिक्षा असफल, कला तथा विद्या का विकास नहीं, शान्ति काल में उन्नति का रुकना, स्पार्तन-दृष्टिकोण संकीर्ण, जीवन-सौन्दर्य को न समझ सके।

ख—एथेनी शिक्षा

१—एथेन्सवासियों का शिक्षा आदर्श तथा उनकी सभ्यता की देन—

शारीरिक सौन्दर्य, व्यक्तित्व के विकास में सामञ्जस्य, 'अति' से घृणा, व्यावसायिक मनोवृत्ति निन्दित, 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क,' शारीरिक शिक्षा में यूनानियों से प्रेरणा।

राज्यसेवा का उद्देश्य राज्य और व्यक्ति-हित में सामञ्जस्य, प्रत्येक को व्यक्तित्व के विकास की स्वतन्त्रता, व्यक्ति की नैतिकता उसकी निजी प्रेरणा, 'ज्ञान' से प्रेम ज्ञान' के लिये, ज्ञान का स्रोत सबके लिये, सबसे पहले मनुष्य को बुद्धिवादी माना, प्रकृति का सौन्दर्य विकास उनकी चित्रकला, संगीत तथा कविता।

२—एथेंनी के आदर्शों के दोष—

नारी जाति का अनादार, गुलामी प्रथा, साधारण जन वर्ग के प्रति उदासीनता, उनकी शक्तियाँ विभिन्न कलाओं के सीखने में बँट गईं—एकनिष्टता जाती रहा, सोफ़िस्टों के प्रभावस्वरूप खण्डन करने के जोश में तत्व को भूलने लगे। सहानुभूति की कमी, दुर्बलों के प्रति क्रूरता, उनका आदर्श व्यक्तिगत न हो सका, युवकों के व्यक्तित्व का ह्रास।

ग—प्राचीन यूनानी शिक्षा

कुशल नागरिक बनाना, व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, शिक्षा राज्य का देख-रेख में, पर अनिवार्य नहीं, अध्यापक राज्य के कर्मचारी नहीं, उनका मान कम, पाठक्रम में अमनोवैज्ञानिकता, शिक्षा का क्रियात्मक रूप, प्राथमिक शिक्षा प्रथम आठ वर्ष तक, बालिकाओं की शिक्षा माताओं द्वारा।

आठ से सोलह तक माध्यम काल, एक पाठशाला से दूसरी को, ग्रामर स्कूल में पढ़ना, लिखना और गिनना, संगीत स्कूल, संगीत व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक, शारीरिक उन्नति के लिये भाँति-भाँति के खेल व्यायाम, उनकी शारीरिक उन्नति चरम सीमा तक।

सोलह से अठारह तक सैनिक शिक्षा, व्यायाम और खेल पहले से कठिन, १८ से २० साल के अन्दर कड़ा राज्य-नियन्त्रण, सच्ची नागरिकता की शपथ।

शिक्षा राज्य की रक्षा और व्यक्तित्व के विकास का साधन, शिक्षा उद्देश्य नैतिक और सामाजिक, बौद्धिक विकास की ओर ध्यान कम।

घ—नवीन यूनानी शिक्षा

अटिका के सभी स्वतन्त्र निवासियों को नागरिकता का अधिकार, व्यापारिक सुविधायें, भ्रातृत्वभाव की जागृति, सहिष्णुता का प्रादुर्भाव, परम्परागत विचारों में परिवर्तन, अब 'व्यक्ति-हित' 'राज्य-हित' से श्रेयस्कर, शिक्षा का आधार व्यक्तिवाद, प्राचीन कथाओं में विश्वास की कमी, नए आदर्शों की खोज, नैतिकता की नई परिभाषा, व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ की प्रधानता, शिक्षा-क्षेत्र में व्यक्तिगत विचार और कार्य स्वातन्त्र्य की माँग, सभी प्रकार का सुविधाओं पर विचार करने की योग्यता की माँग, सोफ़िस्ट-सम्पर्क।

सोफ़िस्टवाद—

दैहिक सुख सबसे बड़ा, व्यक्तिगत हित राज्य-हित से ऊपर, परम्परागत नैतिकता में अविश्वास, तत्कालिक सुख 'भला' और 'बुरा' पहचानने की कसौटी, सोफ़िस्टों के

प्रभाव से यूनानी नवयुवकों का पतन, सोफ़िस्टों के विषय ज्ञान से वे क्षुब्ध, सोफ़िस्टों की शिक्षा-प्रणाली आवश्यकतानुसार, साहित्यिक और बौद्धिक शिक्षा प्रारम्भ करने का श्रेय उन्हीं को।

यूनान के नये युग में शिक्षा की जटिल समस्याएँ

'गुण' के रूप के विषय में मतभेद, राज्य और शिक्षा का सम्बन्ध निर्धारित करना आवश्यक, पाठ्यक्रम की समस्या में मतभेद, किस विषय को प्रधानता? शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

सहायक ग्रन्थ

१—ड्रेवर, जेम्स—'ग्रीक एडूकेशन : इट्स प्रैक्टिस ऐण्ड प्रिन्सिपुल्स' (कैम्ब्रिज यू० प्रेस०), १९१२।
२—फ़ॉर्बस क्लेरेन्स, ए०—'ग्रीक फ़िज़ीकल एडूकेशन—न्यूयॉर्क (दी सेन्चुरी कं०), १९२९।
३—हॉबहाउस, वाल्टर—'दी थियरी ऐण्ड प्रैक्टिस ऑव् ऐन्शियेण्ट एडूकेशन एनास्टैटिक रीप्रिण्ट, न्यूयॉर्क, (जी० ई० स्टेचर ऐण्ड क०), १९१०।
४—जीगर, वर्नर—पीडिया, 'द आइडियल्स ऑव् ग्रीक कल्चर', लन्दन (ब्लैकवेल), १९३९।
५—लॉरी एस० एस०—हिस्टॉरिकल सर्वे ऑव् प्री-क्रिश्चियन एडूकेशन' न्यूयॉर्क (लॉङ्गमैन्स), १९२४।
६—मनरो, पॉल—'सोर्सबुक इन दी हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन फार द ग्रीक ऐण्ड रोमन पीरीयड', न्यूयार्क, (मैकमिलन), १९१२।
७—डेविडसन—'एडूकेशन ऑव् द ग्रीक पीपुल,' न्यूयार्क।
८—मनरो—'टेक्स्टबुक इन द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय ३।
९—ग्रेवज़—'ए स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय २।
१०—कबरली—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय १, २।
११—कबरली—'रीडिङ्ग्ज़ इन द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय १, २।
१२—एबी ऐण्ड ऐरोउड—'हिस्ट्री ऐण्ड फिलॉसॉफ़ी ऑव् एडूकेशन' एनशियण्ट ऐण्ड मेडिवल", अध्याय ४, ५, ६।
१३—डूरी विक्टर—'हिस्ट्री ऑव् ग्रीस, भाग२—पृष्ठ ४३२-७५। (बोस्टन इस्ट्म ऐण्ड लैब्रियट०)।

२

कुछ यूनानी शिक्षक

क—सुकरात (४६६ ई० पू०—३९९ ई० पू०)

१—उसका जीवन—

सुकरात ४६६ ई० पू० एथेन्स में पैदा हुआ था। इसका पिता गरीब था। अतः इसे परम्परानुकूल शिक्षा न मिल सकी। परन्तु पढ़ना-लिखना तो इसने सीख ही लिया। कुछ लोगों का अनुमान है कि उसे प्राकृतिक विज्ञानों की भी शिक्षा दी गई थी। सुकरात का शरीर बड़ा ही कुरूप था। किसी साधारण व्यक्ति को उसे देखने से घृणा हो सकती थी। फिर सौन्दर्य-प्रेमी यूनानियों का क्या पूछना! उनका तो विश्वास था कि अच्छी आत्मा सुन्दर शरीर में ही उपलब्ध हो सकती है। अतः वे सुकरात को बहुत नीच समझते थे। परन्तु उसके साहस और शारीरिक धैर्य का लोहा सभी मानते थे। प्रारम्भ में सुकरात ने एक साधारण नागरिक के सदृश् जीवन व्यतीत किया। प्रायः सभी सार्वजनिक कार्यों में वह हाथ बँटाता रहा। उसने विवाह किया और उसके तीन पुत्र भी हुए। परन्तु उसका वैवाहिक जीवन सुखी न था। उसने अपने पिता के अनुसार शिल्पकार बनना पसन्द किया और कुछ दिनों तक शिल्पकारी करता रहा। बाद में उसने शिल्पकारी छोड़ कर अध्यापन-कार्य लिया। अध्यापन से उसे इतना प्रेम हो गया कि उसके लिये वह अपना प्राण देने को भी प्रस्तुत था। सुकरात अध्यापन का व्यवसाय नहीं करना चाहता था। सुबह, दोपहर तथा सन्ध्या के समय वह सड़क, बाज़ार अथवा व्यायामशाला पर निकल जाया करता था। जिस किसी भी व्यक्ति से भेंट होती उसी से वह तर्क तथा वाद-विवाद में उलझ जाता था। पहले अपने को वह अज्ञानी दिखलाता था। प्रश्नोत्तर की सहायता से वह लोगों को सच्चा ज्ञान देना चाहता था जिससे उनके चरित्र का विकास हो सके। उसके प्रश्न इतने मार्मिक और मनोवैज्ञानिक हुआ करते थे कि युवक अपने आप सच्चे ज्ञान की ओर पहुँच जाता था। उसे ऐसा मालूम होता था मानो नये ज्ञान का अनुसन्धान उसने स्वयं ही किया है। सुकरात अपने समय का बड़ा भारी योगी था। वह सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखता था। उसने किसी को अपनी सहायता से वञ्चित नहीं किया। व्यक्ति

की बुद्धि तथा आवश्यकतानुसार शिक्षा देना वह अच्छी प्रकार जानता था। जिनकी बोधगम्यता तीव्र थी उन्हें वह अधिक पसन्द करता था। धीरे-धीरे सुकरात की प्रसिद्धि फैल गई। हर समय उसे कुछ-न-कुछ युवक घेरे रहते थे। बैठते, चलते, खाते, पीते, एक क्षण भी वह अकेला न रह पाता था। उसके शब्दों को सुनने के लिए सबके कान खड़े रहते थे। उसके कुछ अनुयायी उसी की तरह प्रश्नोत्तर-प्रणाली पर अन्य युवकों को शिक्षित करने निकल पड़े। परन्तु उन्हें अपनी असफलता पर बड़ा क्षोभ हुआ। वे सुकरात के घोर शत्रु हो गए। उनका विश्वास हो गया कि वह यूनानी युवकों के चरित्र को भ्रष्ट कर रहा है। उसके अन्य अनुयायियों में प्लैतो, ज़ेनोफन, मेगारा का एडक्लिद् तथा सोक्रतेस हुए जिनकी कीर्ति आज दिन भी जीवित है।

२—सुकरात का उद्देश्य—

सुकरात का अध्यात्मविद्या से प्रेम न था। भौतिक-शास्त्र के रहस्यों को भी समझने की उसने चेष्टा न की। वह मनुष्य तथा मानव संस्थाओं को समझ कर उनकी कुरीतियों को दूर करना चाहता था। वह शिक्षा को मनुष्य की प्रधान समस्या समझता था और उसे उसके विकास का मुख्य साधन मानता था। उसके लिये शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सत्य समझाकर तदनुसार उसे व्यवहार करना सिखाना था। फलतः उसके तर्क का विषय प्रायः 'रहन-सहन की कला', अथवा 'मानव सम्बन्ध' था। वह न्याय, धैर्य, संयम, कृतज्ञता, मैत्री, धन, 'राजनीतिकला', व्यावहारिक कला तथा हस्त-कला आदि के सम्बन्ध में व्यक्ति को सच्चा ज्ञान देना चाहता था। वह अपने विचारों को लिपिबद्ध न कर सका। अतः उसके शिष्यों की रचनाओं से ही हमें उसके विचारों का पता लगता है।

३—पाठ्य-वस्तु—

सुकरात को व्यावहारिकता का बड़ा ज्ञान था। वह व्यक्ति को अव्यावहारिक ज्ञान नहीं देना चाहता था। उसका विश्वास 'ज्ञानाय ज्ञानम्' में न था। अतः वह युवकों को दैनिक जीवन में उपयोगी विषयों की ही शिक्षा देना चाहता था। सुकरात बड़ा धर्मपरायण था। उसका विश्वास था कि गुणी होने के लिये धर्मनिष्ठ होना आवश्यक है। अतः वह युवकों को धर्म की शिक्षा दिया करता था। समय आदि का अनुमान करने के लिए खगोल की शिक्षा, मानव स्वभाव समझने के लिये मनोविज्ञान का तथा व्यक्तित्व के विकास के लिये संगीत, नृत्य तथा कविता का ज्ञान वह आवश्यक समझता था। गुणी

बनाने के लिये प्रत्येक को वह आचरण-शास्त्र की शिक्षा देने का पक्षपाती था। गृहकार्य तथा व्यवसाय आदि में सफलता के लिये ज्यामिति तथा अंकगणित का उसने समर्थन किया। सुकरात युवकों को विषय का स्पष्ट ज्ञान देना चाहता था। इसलिये इस प्रकार के व्यावहारिक विषयों का चुनना उसके लिये स्वाभाविक ही था। उस समय के यूनानियों का बौद्धिक विकास न हो पाया था। वे केवल अनुमान तथा इन्द्रियजनित ज्ञान को ही प्रधानता देते थे। अरस्तू के अनुसार परिमाणात्मक तर्क तथा सामान्य भावना का प्रारम्भ सुकरात ने ही किया है। सर्वप्रथम सुकरात ने ही इनकी आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था।

सुकरात के अनुसार कोई व्यक्ति समझ-बूझकर त्रुटि नहीं करता। वास्तव में अज्ञानता ही सब दुःखों की जड़ है। यदि अज्ञानता दूर हो जाय तो मनुष्य कर्त्तव्यपरायण हो जायगा और उसका जीवन सुख में बीतेगा। सभी मनुष्य सुख की इच्छा करते हैं परन्तु अपनी अज्ञानता के कारण वे ठीक रास्ता नहीं चुन पाते। फलतः उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है। इस प्रकार वह नैतिक जीवन का आधार बौद्धिक अन्तर्दृष्टि को मानता है। किसी कार्य में वह अभिलाषा को स्थान नहीं देता। उसके अनुसार मनुष्य ज्ञान या अज्ञानता के वश होकर भला या बुरा कार्य करता है। यदि उसे ठीक-ठीक ज्ञान हो तो बुरा काम वह कर ही नहीं सकता। सुकरात के समय में यूनानियों का बौद्धिक और नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया था। इस सम्बन्ध में उनमें कुछ मौलिकता न थी। परम्परा से प्रचलित विचार, अनुकरण, अनुशासन, कहानी, कहावत तथा धार्मिक संकेत आदि विधियों से युवकों को शिक्षा दी जाती थी। ऐसी स्थिति से सुकरात क्षुब्ध हो उठा। उसने सत्य, सदाचार, सौन्दर्य आदि नैतिक तथा बौद्धिक विचारों की ठीक-ठीक परिभाषा देने का प्रयत्न किया। उसने सर्वप्रथम यह दिखलाया कि हमारे सभी उच्च नैतिक आचरण में विवेक का होना अत्यन्त आवश्यक है। वह नीतिशास्त्र को अच्छी तरह समझना चाहता था। फलतः उसने सर्वप्रथम नैतिक जीवन का एक सिद्धान्त रचने का प्रयत्न किया।

४—सुकरात की विधि—

सुकरात की अध्यापन विधि विचित्र थी। वह निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहता था। वह अन्वेषण के सहारे व्यक्ति को स्वयं सत्य की ओर पहुँचाना चाहता था। वह चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति क्रमबद्ध रूप में विचार कर स्वयं

सत्य की पहिचान करे। सोफ़िस्ट शिक्षकों का प्रभाव सुकरात की दृष्टि में अच्छा न था। उसके अनुसार सोफ़िस्टों ने सत्य का एकांगी दिग्दर्शन कराया। जो कुछ उन्होंने बताया वह केवल 'राय' थी, 'सत्य' अथवा 'ज्ञान' नहीं था। परिष्कृत भाषा के उनके प्रेम तथा भ्रमात्मक जीवन-आदर्श ने युवकों में अधिक भ्रम उत्पन्न कर दिया था। किसी विषय का स्पष्ट ज्ञान उन्हें न था। फलतः सुकरात उन्हें स्पष्ट ज्ञान देना चाहता था जिससे उनका जीवन सुधर सके। सुकरात की शिक्षा के दो उद्देश्य थे—(१) वह दिखलाना चाहता था कि सच्चे ज्ञान से ही व्यक्ति अच्छे कार्यों में तल्लीन हो सकता है, और (२) सच्चा ज्ञान अपने अनुभव के बल पर तर्क-विद्या के सहारे प्राप्त किया जा सकता है। पहले प्रश्नों द्वारा सुकरात युवक को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि उसके विचार भ्रमात्मक हैं। तत्पश्चात् प्रश्नों द्वारा उसमें ठीक विचारों का वह प्रादुर्भाव करना चाहता था।

५—उसका प्रभाव—

सुकरात के प्रभाव से यूनानी युवकों की शिक्षा में 'ज्ञान' पर अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। सोफ़िस्टों ने सामयिक आवश्यकता को पूरी करने की चेष्टा की थी। परन्तु सुकरात युवक को नीतिशास्त्र का ज्ञान देना चाहता था। सोफ़िस्टों के प्रभाव से युवकों का जो नैतिक पतन हो गया था उसे वह रोकना चाहता था। वह युवकों में आत्मनिर्भरता उत्पन्न करना चाहता था। फलतः उसने तर्क-विधि को महत्ता दी। सुकरात के प्रभावस्वरूप सोफ़िस्टों की भाषण तथा अनुकरण-प्रणाली का मान धीरे-धीरे घटने लगा।

सुकरात की प्रणाली केवल आचार-शास्त्र सम्बन्धी विषयों के विश्लेषण में ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है क्योंकि उनके सम्बन्ध में व्यक्ति का अपना अनुभव भी रहता है और वह 'स्पष्ट धारणा' पर शीघ्रता से पहुँच सकता है परन्तु इतिहास, भाषा तथा गणित आदि विषयों में सुकरात-विधि ठीक न होगी क्योंकि प्रश्नोत्तर-प्रणाली से हम इनका विषय ज्ञान नहीं कर सकते। तथापि शिक्षा-इतिहास में सुकरात का नाम अमर रहेगा। उसने यह दिखलाया कि ज्ञान का भी नैतिक मूल्य है और उसको प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य है क्योंकि हमारे अच्छे कर्मों की जड़ ज्ञान ही है। ज्ञान को अपने अनुभव के बल पर सीखना चाहिये क्योंकि दूसरे से ग्रहण किये हुए ज्ञान का हमारे चरित्र पर कम प्रभाव पड़ता है। शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान ही देना

नहीं। ज्ञान इस प्रकार देना चाहिये कि विद्यार्थी में नये विचारों का संचार हो। कहना न होगा कि सुकरात के ये सभी विचार आधुनिक युग के लिये भी सत्य हैं।

सहायक पुस्तकें

१—मनरो—'टेक्स्ट बुक इन दी हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', पृष्ठ १२२-३० !
२—कबरली—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', पृष्ठ ४३-४५।
३—ग्रेव्ज़ —ए स्टूडेण्ट्स 'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', पृष्ठ १६-२०।
४—एबी ऐण्ड एरोउड—'दी हिस्ट्री एण्ड फ़िलॉसॉफ़ी ऑँव् एडूकेशन', पृष्ठ ३२१-३४।
५—गाम्पर्ज़ थ्योडोर—'ग्रीक थिंकर्स' (चार्ल्स स्क्रीबनस, सन्स)।

ख—प्लैतो

पाश्चात्य देशों के शिक्षा-क्षेत्र में प्लैतो का नाम अब भी बड़े सम्मान-पूर्वक लिया जाता है। योरप में मध्ययुग तक प्रत्येक बात के लिये उसी की ओर संकेत किया जाता था। परन्तु योरोप में नई जागृति के बाद कुछ ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने प्लैतो के शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों को और आगे दूसरे रूप में बढ़ाया। क्या कारण है कि अब भी लोग प्लैतो के बारे में बोलते और लिखते थकते नहीं? अबभी विदेशों में हर साल प्लैतो पर कुछ न कुछ नई किताबें छपती ही रहती हैं। वास्तव में पाश्चात्य देशों का शिक्षा-कार्य जिस नींव पर खड़ा किया गया है उसका संकेत हम प्लैतो की रचनाओं में पाते हैं। यही कारण है कि अब भी उसका इतना सम्मान है।

प्लैतो।

१—प्लैतो का आरम्भिक जीवन और उसका सुकरात से सम्बन्ध—

प्लैतो का जन्म ४२७ या ४२६ ई० पू० एथेन्स में हुआ था। उस समय एथेन्स अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था। सभ्यता का इतना विकास हो

चुका था कि प्लैतो को अपने सिद्धान्तों के प्रचार में कोई विशेष कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। वह एक जीती-जागती सभ्यता के बीच पैदा हुआ था। उसने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से उस सभ्यता को और आगे बढ़ाया। वह अपने युग का यूनान देश का सच्चा प्रतिनिधि कहा जा सकता है। प्लैतो के पिता का नाम अरिस्तन था। वह प्रथम श्रेणी का खिलाड़ी था। पिता के स्वभाव का प्लैतो पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा बहुत सुचारु रूप से न चल सकी। संगीत और भिन्न-भिन्न प्रकार के खेलों के द्वारा उस समय यूनान में शिक्षा देने की रीति थी। प्लैतो ने प्रारम्भ में ही होमर आदि जैसे कवि और लेखकों की रचनायें पढ़ डाली। वह बीस वर्ष की अवस्था में सुकरात के सम्पर्क में आया। वहाँ आठ या नौ साल तक रह कर अपनी प्रतिभा की खोज करता रहा। प्लैतो और सुकरात का सम्पर्क बहुत ही कुतूहलपूर्ण है। प्लैतो धनी कुल का व्यक्ति था और सुकरात निर्धन। सुकरात बहुत ही भद्दा था और प्लैतो बहुत ही सुन्दर। वह बड़े भड़कीले और सुन्दर कपड़े पहना करता था और सुकरात बहुत ही साधारण। इस प्रकार उसमें और सुकरात में बड़ा भेद था।
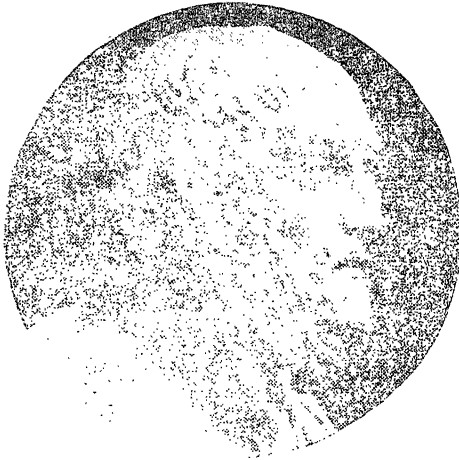
होमर।

परन्तु प्लैतो सुकरात से बहुत प्रभावित हुआ। सुकरात की तरह प्लैतो ने भी कुछ ऐसी रचनाएँ की हैं जो कि संवाद के रूप में नैतिक व्यवहार पर प्रकाश डालती हैं। प्लैतो के हृदय में सुकरात के लिये बड़ा आदर और प्रेम था। सुकरात की मृत्यु के बाद प्लैतो की मानसिक स्थिति कुछ दिनों तक डगमग रही, उसे अपना जीवन भी विपत्ति में मालूम पड़ा और उसे कुछ दिनों के लिये एथेन्स छोड़ना पड़ा। सौभाग्यवश इन्हीं दिनों प्लैतो को स्वयं अपनी प्रतिभा का अनुमान हो गया। जिन विचारों की प्रौढ़ता पर उसे सन्देह था, वे पक्के हो गये। वह उन पर दृढ़ हो गया और उसकी लेखनी उनके प्रतिपादन में रत हो गई। उसने यह समझ लिया कि सर्वप्रथम किसी गुण के वास्तविक रूप को

समझना चाहिये। उसकी व्याख्या करना किसी 'ज्ञान' की शिक्षा देने की अपेक्षा कहीं कठिन है। उसने 'गुण' को किसी व्यक्ति के पूरे व्यक्तित्व से सम्बन्धित समझा। उसने यह समझ लिया कि बिना व्यक्ति के 'गुण' के 'वास्तविक रूप' को समझे बिना उसे शिक्षा नहीं दी जा सकती।

२—अपने उद्देश्य की खोज—

सुकरात की मृत्यु के बाद प्लैतो क्षुब्ध हो उठा। ज्ञान की खोज में वह इधर-उधर फिरता रहा। मिश्र और मेगारा आदि स्थानों में रह कर उसने ज्ञान को पहचानने का प्रयत्न किया। मिश्र देश की शिक्षा-परम्परा का उस पर बहुत प्रभाव पड़ा। इटली में जाकर उसने पिथागोरस के विचारों का अध्ययन किया। सिसली के डायनिसियस के दरबार में उसे शासन-सम्बन्धी विचारों को जानने का अवसर मिला। इस प्रकार यात्रा करके उसने अपने को भावी जीवन के लिये तैयार कर लिया। प्लैतो राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में समान रूप से अपनी प्रतिभा दिखला सकता था। उस समय की राजनैतिक स्थिति इतनी गिरी हुई थी कि प्लैतो उससे घृणा करता था। साहित्य के क्षेत्र में समाज की सेवा करने का उसे कम अवसर दिखलाई पड़ा। अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्लैतो को लोग दार्शनिक, राजनैतिक और समाज-सुधारक बतलाते हैं। पर वास्तव में शिक्षा-सम्बन्धी प्रेरणा ही उसे दर्शन-शास्त्र की ओर ले गई। शिक्षा-समस्याओं के समाधान के लिये उसे बहुत से विषयों पर विचार करना पड़ा। प्लैतो का यह दृढ़ विश्वास था कि किसी देश की उन्नति वहाँ के नवयुवकों की उन्नति पर निर्भर है। यूनानी परम्परा के अनुकूल उसने एक पाठशाला खोली। इस पाठशाला में उसने अपने शिक्षा सिद्धान्तों की परीक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। वह प्रत्येक व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। इसके लिये उसने अपनी पाठशाला में गणित, दर्शनशास्त्र, संगीत, मनो-विज्ञान, शिक्षा, समाज-शास्त्र और राजनीति आदि में शिक्षा की व्यवस्था की। वातावरण के प्रभाव में आकर वह अपने विचारों को नहीं बदलना चाहता था। वह उन्हें सत्यता की कसौटी पर कस कर देखना चाहता था। योरोप की वर्त्तमान राजनीति, समाजशास्त्र, शिक्षा-सिद्धान्त और दर्शनशास्त्र का बीज प्लैतो की विचारमालाओं में भली प्रकार से देखा जा सकता है। इसलिये उसका प्रभाव पाश्चात्य देशों के धर्म, राजनीति और शिक्षा पर सदैव रहा है।

३—प्लैतो के अनुसार ज्ञान के तीन स्रोत—

'ज्ञान' का रूप निर्णय करने में सोफिस्टों तथा सुकरात ने पर्याप्त संघर्ष

का प्रदर्शन किया। कुछ का कहना था कि हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से जो कुछ अनुभव करते हैं वह 'ज्ञान' है। दूसरों को इस पर सन्देह था क्योंकि इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया हुआ ज्ञान कभी-कभी असत्य प्रमाणित हो जाता है। सुकरात का विश्वास था कि सच्चा ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं होता वह तो मस्तिष्क या विवेक में पहले से ही उपस्थित रहता है। एक अशिक्षित बालक को लेकर प्रश्न-प्रणाली द्वारा सुकरात ने यह सिद्ध कर दिया कि उसमें रेखागणित के मूल सिद्धान्त विद्यमान हैं। प्लैतो पर इसका बहुत ही प्रभाव पड़ा। उसे पक्का विश्वास हो गया कि 'ज्ञान' जन्म के बाद ही नहीं होता है और न उसे मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त करता है, अपितु ज्ञान तो आत्मा के साथ-ही-साथ रहता है। आत्मा के शरीर का रूप लेने के पहले भी ज्ञान उसके साथ रहता है। प्लैतो के अनुसार ज्ञान के स्रोत तीन हैं—पहली श्रेणी में 'ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान' आता है–जैसे लाल व पीला रंग; कसाव और तिक्त आदि। प्लैतो इनको सच्चा ज्ञान नहीं मानता। मनुष्य की 'किसी वस्तु के विषय में अपनी सम्मति' ज्ञान को दूसरी श्रेणी में रखी जा सकती है। यह भी ज्ञान ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि भिन्न-भिन्न मनुष्यों के अलग अलग विचार होंगे। ज्ञान की तीसरी श्रेणी में 'विवेक' या 'मस्तिष्क' से स्वतः उपजा हुआ 'विचार' है। गणित के सभी मूल विचार इस कोटि में रखे जा सकते हैं। इसी कोटि में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" जैसे गुण भी आ जाते हैं। इन गुणों को न किसी ने देखा है और न स्थूल पदार्थ की तरह उनका अनुभव ही किया है। तथापि हम उनकी कल्पना सरलता से कर सकते हैं। 'त्रिभुज' या 'बिन्दु' का किसी ने अनुभव नहीं किया है परन्तु उनकी कल्पना हमारे मस्तिष्क में कितनी सच्ची उतर जाती है। इस तरह के सभी 'ज्ञान' मूलरूप हैं और सार्वभौमिक सत्य के रूप में आ जाते हैं। यदि 'ज्ञान' पहले से ही आत्मा के साथ रहते हैं तो बच्चे उन्हें क्यों नहीं दिखलाते और भूल जाने पर उन्हें फिर क्यों नहीं याद कर लिया जाता? प्लैतो इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर न दे सका। वह कहता था कि शरीर का रूप धारण करने पर आत्मा 'ज्ञान' को भूल जाती है, इसीलिये बच्चों को कुछ याद नहीं रहता फिर विवेक के जगने पर मस्तिष्क अपना भूला हुआ ज्ञान फिर पा जाता है। बालकों का विवेक सोता रहता है। बाद में सांसारिक वस्तुओं के सम्पर्क में आने से उनका अनुभव बढ़ता है और मस्तिष्क में सोता हुआ 'विवेक' जाग उठता है। प्लैतो के अनुसार 'ज्ञान' तो पहले से ही मस्तिष्क में विद्यमान रहता है। वातावरण के संघर्षण से उनमें पुनर्जागृति आ जाती है। प्लैतो ने स्थूल जगत को मिथ्या कहा है। आदर्श विचाररूपी जगत को ही उसने सत्य

माना है। हमारी इन्द्रियाँ जो कुछ अनुभव करती हैं वह परिवर्त्तनशील होने के कारण मिथ्या हैं। आदर्श विचारों का जगत ही एकमात्र सत्य है क्योंकि वह अनादि, अशरीर और अपरिवर्त्तनशील है। प्लैतो के अनुसार ये विचार एक दूसरे से पृथक नहीं हैं, वरन् एक दैवीसूत्र में गुथे हुए हैं और वे सब मिलकर ईश्वर के ध्येय पर प्रकाश डालते हैं। यूनानवाले हेब्र्यू के जगत-उत्पत्ति-सम्बन्धी विचार से कभी सहमत नहीं हुए। हेब्र्यू दार्शनिकों के अनुसार जगत की उत्पत्ति किसी असाधारण इच्छाशक्ति द्वारा (एबस्लूट) शून्य में से की गयी है। यूनानी दार्शनिक स्थूल पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पत्थर से कलाकार मूर्ति बनाता है। मूर्त्ति तो पत्थर में पहले से ही विद्यमान है। कलाकार ने तो केवल पत्थर के अनावश्यक अंश को निकालकर मूर्त्ति का रूप सामने रख दिया। इस प्रकार 'वस्तु' तो पहले से ही है। उसमें से कोई 'असाधारण शक्ति' पहाड़, नदी, मनुष्य इत्यादि बना देती है। इस 'असाधारण' में प्रत्येक वस्तु का विचाररूपी आदर्श पहले से ही विद्यमान है। केवल इन विचारों को ही प्लैतो 'सत्य' मानता है। ये विचार पूर्ण और अविनाशी हैं। ये परिवर्त्तनशील नहीं होते। इनका स्थायित्व निश्चित है। इन्हीं विचारों की भित्ति पर प्लैतो अपना शिक्षा सिद्धान्त खड़ा करता है। अतः उसके शिक्षा सिद्धान्त को समझने के लिये इन विचारों की गूढ़ता को समझना आवश्यक है। प्लैतो का दार्शनिक सिद्धान्त उसके युग का प्रथम अखाड़ा है जहाँ कि उस समय के सभी मत वाले मिलते हैं और जहाँ सब में एक सामञ्जस्यता का आभास मिलता है। एलीटिक्स का आदर्शवाद, हेराक्लिट्स का 'परिवर्त्तनवाद' तथा डेमोक्रिट्स का अणुवाद सभी प्लैतो के अखाड़े में साँस ले सकते हैं।

४—आत्मा और शरीर की भिन्नता—

योरोप में प्लैतो ने सबसे पहले आत्मा और शरीर की भिन्नता प्रत्यक्षरूप से दिखलाई है। पुरुष जगत का सार है। वह आत्मा और शरीर के संयोग से बना है। उसका शरीर भौतिक पदार्थों का मिश्रण है। अतः वह अवगुणों से भरा हुआ है। प्लैतो के अनुसार आत्मा के तीन अंश हैं—पहला अंश तो 'तृष्णा' है जिसका केन्द्र 'नाभि' है। सभी दैहिक इच्छाएँ इसी तृष्णा से उत्प्रेरित होती हैं। आत्मा का दूसरा अंश 'धृति' है। इसका केन्द्र 'हृदय' है। मनुष्य में जितना साहस और सहनशीलता है सब धृति से ही उत्पन्न होती है। उसके प्रायः सभी कार्य धृति से प्रोत्साहित होते हैं। 'तृष्णा' और 'धृति' शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं और उसी के साथ उनका नाश भी हो जाता है। आत्मा का

तीसरा अंश 'विवेक' है। इसका न नाश होता है और न रूप ही बदलता है। विवेक का केन्द्र 'मस्तिष्क' है। हमारे सभी उच्च कार्य इसी विवेक से अभिप्रेरित होते हैं। वास्तव में शरीर तो इसका बन्दीगृह है। जब वह 'विवेक' निकल जाता है तो शरीर का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। प्लैतो ने इसी मानवी 'विवेक' को दैवी शक्ति का एक अंश माना है। इसका मूलस्थान तो स्वयं ईश्वर है। भौतिक शरीर में आने के पहले यह एक अद्वितीय शक्ति में निहित रहता है। प्लैतो ने तो इसे सम्पूर्ण जगत का सार मात्र माना है। परन्तु आत्मा ने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का भाव किस तरह पकड़ा? उसे सारी बातों का ध्यान ज्ञान कैसे हुआ? प्लैतो कहता है कि 'विवेक' के बल पर आत्मा ने सब कुछ शरीर में आने के पहले ही देख लिया। जैसे देखने के लिये मनुष्य के पास नेत्र हैं, वैसे ही आत्मा का नेत्र 'विवेक' है। उसे वास्तविक सत्य का ज्ञान भौतिक शरीर में आने के पहले ही हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन का उद्देश्य इसी परम सत्य की खोज होना चाहिये। इस सत्य की खोज विवेक से ही की जा सकती है। इसलिये इस विवेक को पहचानना ही मनुष्य जीवन का सार है। इसी पहचानने के प्रयत्न में उसे सुख और शान्ति का अनुभव हो सकता है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के विवेक को जागृत करना है क्योंकि 'विवेक' के जग जाने पर ही मनुष्य पूर्णता की प्राप्ति में संलग्न हो सकता है। इस तरह के मनोवैज्ञानिक तर्क पर प्लैतो अपने शिक्षा सिद्धान्त को आगे बढ़ाता है। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि प्लैतो ही प्रथम दार्शनिक था जिसने माना कि मनुष्य का मस्तिष्क ही उसकी चेतनाधारा का निवासस्थान है, वस्तुतः चेतनाधारा कोई भी स्थूल स्वरूप नहीं। वह एक ऐसी अखण्ड धारा है जो अविकल रूप से मस्तिष्क में प्रवाहित होती रहती है और हमारे जीवन-कानन को निरंतर रूप से हरा-भरा करती रहती है। प्लैतो ने प्रथमतः इस बात का निर्णय भी किया था कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। मानव-जीवन जो अखिल-विश्व का एक सूक्ष्म कण है इन्हीं दो तत्वों द्वारा निर्मित हुआ है। शरीर नाशवान है और आत्मा अमर। 'एक' वाह्य स्थूल-वस्तु-जगत से सम्बन्ध रखता है तथा 'दूसरा' विश्वात्मा का एक चैतन्य अंश है और आन्तरिक जगत से सम्बन्ध रखता है। प्लैतो के अनुसार आत्मा का नाश नहीं होता। भारतीय दर्शन के अनुसार भी—

"वासांसि जिर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २ ।"

प्लैटो के शिक्षा सिद्धान्तों को समझने के लिये उसके नैतिक आदर्शों का समझना आवश्यक है क्योंकि वे एक दूसरे पर निर्भर हैं।

५—नैतिक आदर्श—

प्लैटो सभी को आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। आदर्श नागरिक बनाने के उपायों की खोज में ही उसने अपना सारा जीवन व्यतीत किया। सफल नागरिक बनने के लिये 'गुणों' का होना आवश्यक है। नैतिक जीवन का दूसरा अर्थ 'गुणी' होना है। आत्मा के गुणों के अन्तर्गत प्लैटो ने धैर्य, न्याय, आत्म-संयम, तीव्र बोधगम्यता, स्मरणशक्ति और उच्च आदर्श की गणना की है। इन सब की नींव मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव पर ही निर्भर है। तृष्णा पर अधिकार करने के लिये आत्मसंयम का गुण होना आवश्यक है। 'हृदय' का गुण 'धैर्य' है और 'विवेक' का गुण 'ज्ञान' है। विवेक तो मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट अंश है। यदि मनुष्य के सभी अंशों का सामञ्जस्य हो जाय तो उसमें 'न्याय' गुण का आविर्भाव हो सकता है। 'न्याय' ही तो मनुष्य को ऊँचा उठाकर उससे आदर्श कार्य करा सकता है। प्लैटो ने सुकरात की तरह 'आनन्द प्राप्ति' को ही सब कुछ माना है। 'शिव' एवं 'विश्व कल्याण' ही उसका उद्देश्य था। उसकी धारणा थी कि 'विश्व कल्याण' ही महानतम सत्य है और विश्व की अन्य वस्तुओं को इसी का परिपोषण करना चाहिये। तृष्णा से हमें शारीरिक तथा सांसारिक वैभव का आनन्द मिलता है। 'अपनी विजय' में हमें इससे कुछ ऊँची श्रेणी का आनन्द आता है। परन्तु 'विवेक' के बल पर हम एक दूसरे ही सुख का अनुभव करते हैं जो कि भौतिक वस्तुओं के परे की वस्तु होती है। इस सुख की समानता कोई सुख नहीं कर सकता। ज्ञानी पुरुष इसी के लिये मरना और जीना पसन्द करता है। इसी में उसके जीवन का सार है। इसी को वह श्रेय मानता है। तृष्णा आदि से प्राप्त सुख को वह निम्न कोटि का समझता है। श्रेय कभी क्षणिक सुख नहीं हो सकता। वह तो सारे जीवन के साथ ओत-प्रोत रहता है। उसमें मनुष्य के सभी कार्यों के सामञ्जस्य का आभास मिलता है। प्लैटो ने शरीर को दुर्गुणों का स्रोत माना है। तथापि शरीर विकास के प्रतिकूल वह अपने शिक्षा कार्यक्रम में संकेत नहीं करता क्योंकि वह समझता था कि शरीर ही तो साधन है जिससे मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है। मस्तिष्क के विकास के साथ शारीरिक उन्नति को भी उसने अपने समक्ष रक्खा।

६—प्लैतो के अनुसार शिक्षा—

प्लैतो शिक्षा को 'राज्य' का सर्वप्रथम कर्त्तव्य मानता था। प्लैतो ने देखा कि 'राज्य' का शिक्षा की ओर से ध्यान हटता जा रहा है जिसके फलस्वरूप आदर्श नागरिकता का लोप होना प्रारम्भ हो गया था। स्पार्त्ता द्वारा हार जाने पर एथेन्सवासियों की आँखें खुलीं। प्लैतो ने स्पार्त्ता विजय का कारण उनकी उच्च सैनिक शिक्षा तथा उत्तम राज्य-व्यवस्था समझा। अतः वह 'राज्य' का ध्यान उचित शिक्षा व्यवस्था की ओर आकर्षित करना चाहता था जिससे लोग योग्य नागरिक होकर राज्य की रक्षा करें। कदाचित् इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर उसने 'रिपब्लिक' की रचना प्रारम्भ की। प्लैतो को अपने देश की परम्परा में अनुराग था। यूनानी परम्परा के अनुसार व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। उसे तो 'राज्य' के लिये ही मरना और जीना था। शासन व्यवस्था को भली-भाँति सँभालने के लिये नागरिक को उचित शिक्षा देना आवश्यक है। वर्तमान युग का शिक्षा आदर्श तो अब पूर्णतः भिन्न है। अब तो व्यक्ति के विकास पर ही सब कुछ निर्भर है। उसके व्यक्तित्व का विकास ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य माना जाता है। प्लैतो ने यूनानी परम्परा के अनुसार अपनी जगत विख्यात पुस्तक 'रिपब्लिक' और 'लॉज़' में शिक्षा सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया।

मनुष्य की तरह 'राज्य' का भी एक व्यक्तित्व—

प्लैतो 'राज्य' में भी मनुष्य की तरह सभी गुणों का समावेश देखता था। जैसे आत्मा में तृष्णा, धृति और विवेक का समन्वय है उसी प्रकार प्लैतो ने राज्य को भी तीन प्रकार के लोगों का समूह माना है। प्रथम वर्ग में तो वे लोग आते हैं जिनको तृष्णा ही प्रधान होती है। इस श्रेणी में निम्न कोटि के मनुष्य आते हैं। इनका प्रधान कार्य खेती, व्यापार तथा उपयोगी वस्तु को बनाना है। इनके सुख की भावना शारीरिक आनन्द तथा सांसारिक लाभ तक ही सीमित रहती है। इनके लिये इन्हीं उद्यमों में सफलता प्राप्त करने के लिये उचित शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिये। यदि इनके वंशज उच्च वर्ग के हों तो उन्हें भी ऊँची कोटि की शिक्षा दी जा सकती है। 'न्याय' सिद्धान्त को प्लैतो सर्वोपरि मानता था। इसलिये किसी वर्ग विशेष ही में पैदा हो जाने के कारण किसी को छोटा मानने के लिये वह तैयार न था। जैसे आत्मा का दूसरा अंश 'धृति' है उसी प्रकार 'राज्य' में दूसरी कोटि के मनुष्यों में वीर 'संरक्षक' आते हैं। इनका प्रधान कार्य 'राज्य' में शान्ति रखना तथा शत्रुओं

से राज्य की रक्षा करना है। जैसे आत्मा का सर्वोत्कृष्ट अंश 'विवेक' है उसी प्रकार 'राज्य' में प्लैतो ने शासक वर्ग को माना है। राज्य की पूरी शासन-व्यवस्था इन्हीं के द्वारा सँभाली जा सकती है। ये देश में शान्ति तथा सुख के लिये नियम को बना तथा बिगाड़ सकते हैं। प्लैतो के अनुसार बुद्धिमान, दूरदर्शी, चरित्रवान् तथा अनुभवी व्यक्तियों को ही 'राज्य-कार्य' सँभालने का उत्तरदायित्व सौंपना चाहिये। इस प्रकार प्लैतो ने दार्शनिकों द्वारा शासन का प्रस्ताव हमारे सामने रक्खा। प्लैतो ने 'राज्य' के तीन प्रकार के नागरिकों के लिये अलग-अलग शिक्षा योजना की ओर संकेत किया है। इस प्रकार प्लैतो सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा को चलाना चाहता था। वह युवकों को कोरा ज्ञान देने का पक्षपाती न था। देश को धन-धान्य से पूर्ण बनाने के लिये खेती तथा व्यापार आदि की शिक्षा, देश की रक्षा करने के लिये सैनिक-शिक्षा तथा शासन-व्यवस्था के लिये उचित शिक्षा देने का वह पक्षपाती था। आजकल के साम्यवादी विचारकों की तरह प्लैतो 'कुटुम्ब' का घोर शत्रु था, क्योंकि वह प्राचीन 'कुटुम्ब-व्यवस्था' को ही अपने देश की अवनति का कारण समझता था। 'कुटुम्ब' ने नवयुवकों की शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं की जिससे स्पार्त्ता के सामने 'राज्य' को मुँह की खानी पड़ी। अपने देश की हार का उस पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने यह निश्चय कर लिया कि बालकों की शिक्षा के लिये 'कुटुम्ब' पर कभी भी भरोसा न करना चाहिये। 'राज्य' को स्वयं उसकी व्यवस्था करनी चाहिये क्योंकि उसका इसी में कल्याण है। संसार प्लैतो के इस विचार का सदैव ऋणी रहेगा।

प्लैतो स्त्री-स्वभाव से अनभिज्ञ—

प्लैतो जीवन भर अविवाहित रहा। इसलिये वह स्त्रियों के स्वभाव और गुणों को भली-भाँति न समझ सका। वह पुरुष और स्त्री को सभी गुणों में समान देखता है। उन दोनों के स्वभाव में उसे कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता था। प्लैतो की इस-धारणा का एक कारण यह भी हो सकता है कि तत्कालीन यूनानी राज्य-परम्परा के अनुसार भी स्त्री-पुरुष में विशेष भेद नहीं माना जाता था। स्पार्त्ता में पुरुष और स्त्री के लिये लगभग एक-सी ही जीवन व्यवस्था का आदेश था। इसीलिये वह स्त्रियों को राज्य के सभी कार्यों के योग्य समझता है। वह कहता है "राज्य का कोई कार्य किसी स्त्री या पुरुष के लिये इसलिये नहीं है कि वह स्त्री है वा पुरुष है; अपितु इसलिये कि स्वाभाविक गुण तो स्त्री और पुरुष में समान रूप से पाये जाते हैं। जहाँ तक स्त्री के

स्वभाव का प्रश्न है वह पुरुष के प्रायः सभी कार्य करने के योग्य है। यद्यपि पुरुष से निःसन्देह वह कुछ निर्बल है *।" स्त्रियों के स्वभाव को भली-भाँति न समझने के कारण उनकी उचित शिक्षा-व्यवस्था की ओर संकेत करने में प्लैतो सफल न हो सका।

७—प्लैतो का शिक्षा-सिद्धान्त—

प्लैतो के शिक्षा-सम्बन्धी विचार हमारे सामने सिद्धान्त रूप में आते हैं। पूर्णरूप से उन्हें न तो उसके समय में ही कार्यान्वित किया जा सका और न अब किया जा सकता है। शिक्षा-क्षेत्र में प्लैतो की महानता और ही बातों पर है। प्लैतो ने अपने समय के समाज और व्यक्ति की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया। उसने दिखलाया कि दोनों का हित एक-दूसरे पर निर्भर है। व्यक्ति समाज के लिये है और समाज की उन्नति के लिये उसकी शिक्षा की उचित व्यवस्था करना आवश्यक है। यूनानी विचारकों की शिक्षा-समस्याओं का स्पष्टीकरण करते हुए प्लैतो ने उसका समाधान बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से करने का प्रयत्न किया। दूसरे, प्लैतो का जीवन और शिक्षा-सम्बन्धी आदर्श सब काल और सब देश के लिये उत्साहवर्धक है। तीसरे, उसकी शिक्षा-योजना में हम तत्कालीन यूनानी सभ्यता की मार्मिक आलोचना पाते हैं। इसके अतिरिक्त उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। उनसे हमें यह पता लगता है कि मानव जीवन के भिन्न भिन्न काल का विकास एक ही सूत्र में बाँधा जा सकता है।

प्लैतो के शिक्षा के सिद्धान्तों का समावेश हम उसके भिन्न-भिन्न संवादों में पाते हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उसके 'रिपब्लिक' और 'लॉज़' का प्रधान विषय शिक्षा ही है। उसने 'शिक्षा को मनुष्य के लिये सर्वोत्तम वस्तु '§ माना है। उसने 'रिपब्लिक' में आदर्श 'राज्य' की कल्पना की है और उसके लिये आदर्श शिक्षा-योजना देने का प्रयत्न किया है। प्लैतो अपने देश की अवनति से बहुत ही दुःखी था। उसे चारों ओर अवगुण दिखलाई पड़ते थे। उसके एकाकी जीवन ने भी उसे कुछ आलोचनात्मक प्रवृत्ति का बना दिया था। उसके सामने अपने देश और समाज का नग्न चित्र सदैव नाचता रहता था। वह सबके सामने प्रत्येक वस्तु का आदर्श चित्र रखना चाहता था। इसीलिये वह 'रिपब्लिक' जैसी पुस्तक की रचना कर सका। यूनानी परम्परा से

* रिपब्लिक—१७६

§ लॉज़—६४४

अनुराग रखते हुए वह राजनीति को दर्शन-शास्त्र और शिक्षा की नींव पर खड़ा करना चाहता था। उसने भली-भाँति समझ लिया था कि राज्य का प्रथम कर्त्तव्य आदर्श नागरिक बनाना है न कि राज्य-नियम। प्लैतो के विचारों का विकास धीरे-धीरे हुआ है। उसका विचार था कि "प्रौढ़ावस्था में अज्ञानता सबसे बड़ी बीमारी है‡" पर बाद में विचार बदल जाने पर वह कहता है कि 'अज्ञानता उतनी बीमारी नहीं है जितना कि बहुत चतुरता और विद्वत्ता का दुरुपयोग घातक है §।' प्लैतो शिक्षा की व्यवस्था नैतिक शिक्षा से करता है। उसके शिक्षा-सिद्धान्त के अन्तर्गत-योग्यता, ज्ञान, सेवा और राजनीतिज्ञता—चार प्रधान स्तम्भ माने जा सकते हैं। अनुभव द्वारा जो कुछ अच्छी बातें सीखी गई हैं उन्हें नवयुवकों को सिखा देना बड़ों का कर्त्तव्य है। अपनी पुस्तक 'लॉज़' में प्लैतो कहता है—"शिक्षा का अभिप्राय मैं बालकों की नैसर्गिक प्रवृत्तियों को अच्छी आदतों की ओर लगा देने से समझता हूँ, जब कि उसे दुःख, सुख, मित्रता और घृणा के भाव का भली-भाँति ज्ञान नहीं हुआ है। शिक्षा के फल-स्वरूप विवेक की प्राप्ति पर बालकों को संसार की विभिन्न वस्तुओं और आत्मा में एक सामञ्जस्य का अनुभव होना चाहिए। यही सामञ्जस्य सच्चा गुण है। बालक को दी हुई शिक्षा सच्ची तभी कही जा सकती है जब कि घृणा करने वाली वस्तुओं से वह घृणा करता है और प्यार करने वाली वस्तुओं से प्यार †।"

प्लैतो के इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा से वह क्या अर्थ लगाता है? हम यह देख चुके हैं कि प्लैतो अपने सिद्धान्तों में 'गुण' को विशेष महत्त्व देता है क्योंकि इसे वह सम्पूर्ण जगत का सार समझता है। सभी यूनानी दार्शनिकों तथा शिक्षा-विशेषज्ञों के सामने यह विकट समस्या थी—'क्या 'गुण' ज्ञान की तरह सिखाया जा सकता है?' सुकरात ने अपने तर्क के बल पर इसका हल निकाल लिया था। उसका तर्क था—"ज्ञान पढ़ाया जा सकता है, 'गुण' ज्ञान है, इसलिये गुण भी पढ़ाया जा सकता है"। प्लैतो को यह तर्क पसंद नहीं आया। उसका यह पक्का विश्वास था कि 'गुण' 'ज्ञान' की कोटि में नहीं रखा जा सकता। 'गुण' तो एक दैवी देन है—इसका अर्जन नहीं किया जा सकता। 'गुण' की खोज ही तो मानव जीवन का प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये। जिस कार्य के करने में हमें आनन्द आता है उसे हम बार-बार दुहराते हैं। जिस

‡ टीमियस—८८

§ लॉज़—८१९

† लॉज़—६५३

कार्य में हमें पीड़ा होती है, उसे हम छोड़ देते हैं। बालकों की प्रारम्भिक आदतों के संयम के लिये हम आनन्द और पीड़ारूपी साधन प्रयोग में लाते हैं। प्लैतो के अनुसार 'आनन्द' और 'पीड़ा' दो उपाय हैं जिससे हम 'गुण' और 'अवगुण' का ज्ञान बालकों को कराते हैं। इस प्रकार प्लैतो 'गुण सिखाने की समस्या' की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा है। प्लैतो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में 'विवेक' की शक्ति को जाग्रत कर देना है जिससे जीवन पर इस विवेक का आधिपत्य हो जाय और हमारे सारे कार्य विवेक के ही संकेत पर चलें। 'लॉज़' में प्लैतो कहता है कि "शिक्षा का उद्देश्य युवकों को राज-नियम तथा वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और अनुभववृद्ध द्वारा निर्धारित रास्ते की ओर ले जाना है।" इस प्रकार प्लैतो शिक्षा की सीमा बहुत फैला देता है। उसके इन शब्दों में माता, पिता तथा शिक्षकों के कर्त्तव्य का भी समावेश हो जाता है।

८—शिक्षा का कार्य—

प्लैतो उच्चकोटि का आदर्शवादी था। वह 'साध्य' को 'साधन' से सदा ऊँचा समझता था। वह 'पूर्ण' से 'अंश' की ओर अग्रसर होना पसन्द करता था। शिक्षा का प्रथम उद्देश्य 'राज्य' की एकता प्राप्त करना है। हम ऊपर देख चुके हैं कि 'राज्य' के आगे प्लैतो के लिये 'व्यक्ति' की प्रधानता नहीं है। एथेन्स उस समय गिरी दशा में था। व्यक्तियों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। सभी स्वार्थान्ध हो रहे थे। राष्ट्र को प्रबल बनाने के लिये प्लैतो उनके ऊपर कड़ा नियन्त्रण रखना चाहता था। उनकी स्वतन्त्रता को छीन कर वह उन्हें राज्य-हित की ओर लगाना चाहता था। रूसो ने प्लैतो के 'रिपब्लिक' को शिक्षा-सम्बन्धी अद्वितीय ग्रन्थ माना है। रूसो व्यक्तिवाद का अनुयायी था; तथापि उसने प्लैतो के 'रिपब्लिक' की इतनी प्रशंसा की है। रूसो का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब कि व्यक्तिवाद की ध्वनि उठानी आवश्यक थी। इसके विपरीत राष्ट्र की उन्नति के लिये प्लैतो को 'व्यक्तिवाद' को नष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। रूसो ने यह देख लिया कि शुद्ध व्यक्तिवाद असम्भव है। प्लैतो भी व्यक्तिवाद के विरुद्ध ध्वनि करते हुए राज्य की उन्नति के लिये व्यक्ति को ही आधार मानता है। राज्य में एकता स्थापित करने के लिये वह 'न्याय' को आधार मानता है। प्रत्येक नागरिक को अपने स्वार्थ की बलि देकर 'राज्य' की सेवा हेतु तैयार रहना चाहिये। 'राज्य' की एकता का तात्पर्य सौहार्द भावना से भी है। सभी नागरिकों को यह अनुभव करना चाहिये कि उनका स्वार्थ एक ही है। शिक्षा-योजना की दृष्टि इस उद्देश्य-प्राप्ति की ओर होना आवश्यक

है। प्लैतो चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति नागरिकता का गुण प्राप्त कर ले। इसके लिये सहनशीलता, साहस और सैनिक-योग्यता प्राप्त करना अपेक्षित है। इन गुणों के साथ ही साथ कुछ 'शासन व्यवस्था' के रूप का भी ज्ञान होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में 'विवेक' का होना आवश्यक है जिससे वह व्यक्ति वास्तविक 'सत्य' को पहचान सके। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में सौन्दर्य-उपासना की शक्ति भी उत्पन्न करना है। मनुष्य को यदि शिक्षा न दी जाय तो वह अवश्य ही अपनी कुप्रवृत्तियों का दास बन अधोगति के गर्त में गिर जायगा। उसे तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का उपासक होना चाहिये। शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि शिक्षार्थी के व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न अंशों में एक सामञ्जस्य ला दे। व्यक्ति की कुप्रवृत्तियों और सद्वृत्तियों तथा शरीर और मस्तिष्क में एक सामञ्जस्य होना चाहिये। शिक्षा के फलस्वरूप व्यक्ति को आचार और नीति का स्वतः ज्ञान हो जाना चाहिये। इस प्रकार 'राज्य' को नियम बहुत कम बनाना होगा और 'शिक्षा' इस सम्बन्ध में 'शासन-व्यवस्था' की पूरक होगी। शिक्षा को एक दूसरे में भ्रातृभाव उत्पन्न करना चाहिये जिससे बहुत से लोग एक साथ आनन्द से रह सकें। प्लैतो कहता है—"सच्ची शिक्षा लोगों के व्यवहार में सौहार्द ला देगी। मनुष्य सबसे अधिक सभ्य प्राणी है; तथापि उसे उचित शिक्षा की आवश्यकता होती है। यदि उसे उचित शिक्षा न दी जाय तो वह पृथ्वी का सबसे अधिक असभ्य जीव हो जायगा *।"

पहले कहा जा चुका है कि शिक्षा को प्लैतो राज्य का विषय मानता है। उसका शिक्षा-सम्बन्ध में कुटुम्ब की योग्यता पर विश्वास न था क्योंकि कुटुम्ब के ही ऊपर छोड़ देने से एथेन्सवासियों का पतन हो गया था। इसके विपरीत स्पार्टा लोगों की शिक्षा-व्यवस्था राज्य द्वारा निर्धारित की जाती थी। राज्य-नियन्त्रण में पल कर हर तरह से योग्य होकर उन्होंने एथेन्स-वासियों को परास्त कर दिया था। प्लैतो को यह बात सदा खटकती रही। इसलिये कुटुम्ब के शिक्षा-सम्बन्धी नियन्त्रण का वह कट्टर विरोधी हो गया। प्लैतो के अनुसार सभी बालक राज्य की सम्पत्ति हैं। सभी बालकों का राज्य-पाठशालाओं में शिक्षा पाना अनिवार्य है। माता-पिता को अपने बालकों को पाठशाला भेजना ही होगा। समाज-हित के विरुद्ध कार्य करने की किसी को स्वतन्त्रता नहीं। जो जिस वर्ग का है उसे उसमें शिक्षा देनी चाहिये। विशेष

* लॉज़—७५६

योग्यता वाले व्यक्तियों की शिक्षा की उचित व्यवस्था करना आवश्यक है, चाहे वे किसी भी वर्ग में क्यों न उत्पन्न हुए हों। यदि कोई खेती व व्यापार वर्ग का है और सैनिक-योग्यता दिखलाता है तो उसे सैनिक शिक्षा दी जायगी किन्तु शासन-सम्बन्धी योग्यता दिखलाने पर उसे राज्य-सम्बन्धी शिक्षा दी जानी चाहिये।

९—प्लैतो का 'शिक्षा-कार्यक्रम'—शिक्षा के दो प्रकार—

कुछ आधुनिक 'शिक्षा विशेषज्ञ' प्लैतो की शिक्षा-प्रणाली को प्राथमिक, माध्यमिक और उत्तर माध्यमिक—तीन श्रेणियों में बाँटते हैं। परन्तु इस प्रकार का विभाजन ठीक नहीं क्योंकि प्लैतो कालीन यूनानी सभ्यता में हमें ये विभाजन नहीं मिलते। स्वयं प्लैतो को बाह्य 'रूप' से विशेष रुचि न थी। वह तो किसी वस्तु की आत्मा को पकड़ना चाहता था। प्लैतो की दृष्टि में शिक्षा के दो प्रकार हैं—१—वह शिक्षा जिससे व्यक्ति दैनिक कार्यों में कुशलता प्राप्त कर ले और वृत्ति के लिये अपनी रुचि अनुसार खेती, व्यापार या और किसी कला का ज्ञान कर ले। २—वह शिक्षा जिससे व्यक्ति राज्य-सेवा के योग्य हो जाय। पहली प्रकार की शिक्षा को प्लैतो उच्च कोटि का नहीं मानता। उसे वह अनुदार मानता है क्योंकि 'विवेक ज्ञान' और 'न्याय' से वह बहुत दूर हट जाती है। वास्तविक शिक्षा तो 'गुण' में होनी चाहिये जिससे व्यक्ति आदर्श नागरिक बन कर यह सीख ले कि उचित रूप से शासन और आज्ञा का पालन कैसे किया जाता है? यदि हम प्लैतो के 'रिपब्लिक' और 'लॉज़' के सिद्धान्तों को एकत्रित कर देते हैं तो उसके आदर्श का रूप हमें इस प्रकार मिल जाता है—जन्म से लेकर छठे साल तक बालक के शरीर पर विशेष ध्यान रखना है। उसमें अच्छी-अच्छी आदतें डालनी चाहिये। प्रथम तीन वर्ष तक पालन-पोषण ऐसा हो कि बालक आनन्द और पीड़ा का अनुभव कम से कम करे। इस छोटी अवस्था में वह इच्छाओं का जीव है। विवेक से वह परिचित नहीं। उसको भय नहीं दिखलाना चाहिये। तीसरे साल से छठे साल के अन्दर कुछ आनन्द और पीड़ा के द्वारा उसे साहस और आत्म-नियन्त्रण का बोध कराना चाहिये। राष्ट्रीय कथाओं के आधार से परम्परा में उसका अनुराग उत्पन्न करना चाहिये। प्लैतो कहता है, "किसी कार्य का प्रारम्भ बहुत ही सारगर्भित है। विशेषकर बालकों में यह बात अधिक लागू है क्योंकि संस्कारों का प्रभाव उन पर अधिक पड़ता है *।" प्लैतो का यह कथन आधुनिक मनोवैज्ञानिक

*रिपब्लिक—३७७ ; लॉज़—६४३

विकास से बहुत मिलता है। छः वर्ष की अवस्था में शिक्षा का रूप और दृढ़ हो जाना चाहिये। इस समय बच्चों को संगीत, कविता और नृत्य भी सिखलाना चाहिये। सैनिक शिक्षा का श्रीगणेश भी इसी अवस्था में किया जा सकता है। नृत्य और संगीत के आधार पर धार्मिक भाव को भी जागृत करना चाहिये। घोड़े की सवारी और साधारण हथियार चलाना बालकों को प्रारम्भ से ही सिखलाना चाहिये। साधारण खेल भी बालकों को खेलना आवश्यक है जिससे वे 'न्याय' और 'सौहार्द' के भाव को समझ सकें। बालक का ध्यान गणित की ओर भी खींचना चाहिये। ऐसी अवस्था में बालकों के कार्य विशेषकर आनन्द, पीड़ा, भय, इच्छा, सम्मान, लज्जा, प्यार और घृणा से नियन्त्रित होते हैं। बुरी कहानियाँ बालक न सुनने पावें। उनके निकट के वातावरण में कोई भद्दी तथा अरुचिकर वस्तु न आने पावे, नहीं तो उसका उन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। छः से तेरह वर्ष तक बालकों की शिक्षा में विभिन्न प्रकार के खेलों का होना आवश्यक है। उनकी रुचि कविता पढ़ने की ओर करनी चाहिये। अब पढ़ने, लिखने, गाने और नाचने की शिक्षा पहले से अधिक होगी। शिष्टाचार का पाठ पढ़ाना, धर्म सिद्धान्तों को उन्हें समझाना तथा अंकगणित और रेखागणित का ज्ञान उन्हें विशेषरूप से देना चाहिये।

अपनी 'लॉज़' पुस्तक में जो कुछ बाद की रचना है, प्लैतो साहित्यिक शिक्षा के कुछ विपक्ष में दिखलाई पड़ता है। 'लॉज़' में वाद्य-संगीत की शिक्षा तेरह वर्ष की अवस्था तक देने के लिये वह कहता है। यह एथेन्सवासियों की परम्परा अनुसार ही था। परन्तु प्लैतो अपने आदर्श-शिक्षा-कार्यक्रम में पाठशाला के सभी विषयों को सोलह वर्ष तक पढ़ाने की राय देता है। 'रिपब्लिक' में बच्चा छः वर्ष की उम्र में पढ़ना सीखता है और 'लॉज़' में दस वर्ष पर। पहले प्लैतो ने सोचा था कि साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेने पर बालक नैतिक हो जायगा। परन्तु उसका यह अनुमान ठीक न निकला। इसलिये 'लॉज़' में वह अपने कुछ विचारों को बदल देता है। तेरह से सोलह वर्ष तक के काल में धार्मिक भजन तथा दूसरी कविताओं को याद करना चाहिये। भजनों का उच्चारण संगीत के लय में हो। इस समय अंकगणित के मूल सिद्धान्तों की ओर भी बालकों का ध्यान आकर्षित करना चाहिये।

सोलह से बीस वर्ष की उम्र तक स्फूर्तिमय व्यायाम और सैनिक-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। खेल-कूद से शरीर को हृष्ट-पुष्ट कर सैनिक-शिक्षा में रुचि उत्पन्न की जानी चाहिये। दो साल तक हथियार

चलाने, घोड़े की सवारी तथा पूरे सैनिक-जीवन में शिक्षा होगी। किसी प्रकार की साहित्यिक शिक्षा नहीं दी जायगी, जिससे बालक सैनिक-जीवन में निपुणता प्राप्त कर ले। बीस वर्ष की उम्र के बाद योग्य स्त्री-पुरुषों को चुन कर दस साल के वैज्ञानिक अध्ययन में लगाना चाहिये। "इसके पहले बालकों को विज्ञान का केवल साधारण ज्ञान दिया गया था। अब वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को समझेंगे*।"

जो उच्च अफ़सर होने योग्य हैं उन्हें तीस से पैंतीस वर्ष तक दर्शन-शास्त्र, भाषण देने और तर्क करने में शिक्षा दी जायगी। इसके साथ ही साथ ज्ञान-सिद्धान्त, आचार-शास्त्र तथा मनोविज्ञान में भी शिक्षा दी जायगी। जो ऊँचे अफ़सर बना दिये गये हैं उन्हें पचास वर्ष की उम्र तक राज्य की सेवा करनी होगी इसके बाद बड़े अफ़सरों को अवकाश दे दिया जायगा। अवकाश-ग्रहण के बाद इन अफ़सरों को उचित है कि वे 'वास्तविक सत्य' की खोज में रत रहें।

औद्योगिक कलाओं से प्लैतो को विशेष रुचि न थी। एक तरह से वह इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता था। बुनना, सीना, लकड़ी आदि के काम वह दासों के योग्य समझता था। उसका विचार था कि इस प्रकार के कार्य आदमी को वास्तविक सुख से वञ्चित कर देते हैं क्योंकि उनमें लग जाने पर उसको इतना अवकाश नहीं रहता कि वह सत्य की खोज में अपने को झुकाये। इन सब कलाओं में निपुण लोगों को राज्य-कार्य में किसी प्रकार का भार न देना चाहिए। इन लोगों के लिये शिक्षा-योजना पर विचार करना प्लैतो को पसन्द नहीं। उसके अनुसार इनकी सन्तानों को अपनी कौटुम्बिक परम्परानुसार कलाओं को सीख कर अपना जीवन निर्वाह करना चाहिये। लड़कियों को अपने घर का काम सीखना चाहिए। प्लैतो का विश्वास था कि ऐसी कलायें अनुकरण से सीखी जा सकती हैं। इसलिये उनमें विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन कलाओं के सीखने में केवल ठीक आदतें डालने का प्रश्न है।

स्त्रियों की शिक्षा—

प्लैतो ने स्त्रियों के लिये अलग शिक्षा की व्यवस्था न की क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है, वह उन्हें पुरुषों के सभी कार्यों के योग्य समझता था। परन्तु वह उन्हें पुरुषों से कुछ निर्बल अवश्य मानता था। "राज्य की संरक्षता

---

* रिपब्लिक, पृ ५३७।

के लिये स्त्री-पुरुषों में समान रूप से योग्यता है परन्तु स्त्री बल में निर्बल अवश्य है* ।" अतः वह स्त्रियों को बालकों जैसी शिक्षा देने को कहता है। जहाँ तक राज्य सेवा का प्रश्न है दोनों को एक ही प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये। राज्य सेवा में एकत्व स्थापित करने के लिये रहन-सहन का समान होना आवश्यक है। इसलिए प्लैटो "समान बालक और समान शिक्षा" के सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़ा।

व्यक्तित्व का पूर्ण विकास—

प्लैटो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का पक्षपाती था। इसलिये अपनी शिक्षा-योजना में उसने विकास सम्बन्धी सभी बातों पर ध्यान दिया है। वह अपने समय की अराजकता से तंग आ गया था। उसे वह दूर करना चाहता था। उसकी सारी शिक्षा-योजना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये है। वह समझता था कि बच्चों के खेल-कूद में परिवर्तन हो जाने से लोगों का चरित्रगठन बाद में ढीला पड़ जाता है, फलतः राज्य-व्यवस्था भी ढीली पड़ जाती है। जो बच्चे परम्परानुसार चलते हुए खेल-कूदों में परिवर्तन चाहते थे उन्हें प्लैटो सन्देह की दृष्टि से देखता था। उन्हें वह क्रान्तिकारी मानता था। वे बड़े होने पर सारे रहन-सहन को बदल देने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार वे राज्य पर घोर विपत्ति लाने के कारण होंगे। इसी प्रकार संगीत और कविता की शैली में भी परिवर्तन अराजकता फैलायेगा क्योंकि इनकी शैली बदल जाने से लोग राज्य-आज्ञा-पालन में हिचक सकते हैं। बड़ों का नियन्त्रण प्रभावशाली न हो सकेगा। लोग अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन नहीं करेंगे। यह सब सोचते हुये प्लैटो परम्परावादी हो गया। वह राज्य द्वारा निर्धारित नियम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन सहने को तैयार नहीं था। युवकों का पालन-पोषण और शिक्षा का आयोजन वह एक समान चलाना चाहता था। जिस वातावरण में बालक पलें उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन उसे पसन्द नहीं। सभी लोगों के आचार और व्यवहार-नियम पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण होना आवश्यक है जिससे राज्य-हित के विपक्ष में कोई पग न उठा सके। झूठी बातों से प्लैटो को बड़ी घृणा थी। झूठी कल्पनाओं से भरी हुई कविताओं से उसे अरुचि थी। होमर जैसे महान् कवि को भी पढ़ने का वह पक्षपाती नहीं था। प्लैटो को मिश्र देश निवासी बड़े प्रिय थे क्योंकि वे अपनी नृत्य-कला में किसी तरह का परिवर्तन पसन्द नहीं करते थे। आश्चर्य है कि कट्टर परम्परावादी होते हुए भी प्लैटो अपने युग के सर्वोत्तम विचारों का प्रतिनिधि था। राज्य का हित किसमें है, इसे वह भली-भाँति

* रिपब्लिक—४५५-४५६

समझता था। वह दूरदर्शी था। उसके विचारों में सदा के लिये कुछ 'सत्य' मिलता है। इसीलिये अब भी उसका इतना मान है। उसके पाठ्यक्रम का मूल सिद्धान्त अब तक भी जीवित है। बच्चों के खेल में जो वह शिक्षा-सम्बन्धी बातें देखता है वह सत्रहवीं शताब्दी में ही पूर्णरूप से पुनर्जीवित की जा सकीं। बच्चों को शिक्षा देते समय खेलों की सहायता लेना प्लैतो को आवश्यक जान पड़ा। इसीलिये वह संगीत, कविता, नृत्य और खेल-कूद पर इतना ज़ोर देता है। शारीरिक बल प्राप्त करने तथा सैनिक योग्यता के लिये खेल-कूद आदि में भाग लेना एथेन्सवासी आवश्यक समझते थे। खेल-कूद को वे शरीर के लिये समझते थे और सङ्गीत को आत्मा के लिये। प्लैतो इससे भी आगे बढ़ा। उसके अनुसार खेल-कूद का प्रभाव शरीर और आत्मा दोनों पर पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को सङ्गीत और खेल-कूद दोनों में भाग लेना चाहिए क्योंकि बिना सङ्गीत के खेल-कूद में पला हुआ व्यक्ति क्रूर हो जाता है और बिना खेल-कूद के सङ्गीत में पला हुआ व्यक्ति विलासी हो जाता है। इसलिये प्लैतो ने अपने शिक्षा-क्रम में दोनों को उचित स्थान दिया है। सोफ़िस्टों ने अपने पाठ्यक्रम में संगीत, कविता और व्याकरण को प्रधानता दी थी। वे बालकों को कुशल भाषणवक्ता और नेता बनाना चाहते थे। प्लैतो का ध्यान विशेषकर दार्शनिक अध्ययन और समाज-सुधार की ओर था। उसने मनुष्य-जीवन के दो अंगों को स्वीकार किया है। एक में तो 'तृष्णा' और 'धृति'-सम्बन्धी कार्य और दूसरे में 'विवेक'-सम्बन्धी विचार आते हैं। 'तृष्णा' और 'धृति'-सम्बन्धी कार्यों में प्लैतो स्वभाव को प्रधानता देता है। 'विवेक'-सम्बन्धी कार्यों में स्वभाव की प्रधानता उतनी नहीं है जितनी कि उचित उपदेश और शिक्षा की। प्लैतो मनुष्य में विशेषकर विवेक-शक्ति जाग्रत करना चाहता था। उसकी समझ में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही है क्योंकि 'विवेक' जागने पर ही मनुष्य वास्तविक सत्य को पहचान सकता है। इस विषय में प्लैतो पर पिथागोरस के "अंक और रूप सिद्धान्त" का बहुत प्रभाव पड़ा था। इसी के फलस्वरूप प्लैतो गणित और दर्शनशास्त्र के साथ संगीत को भी लेता है और दोनों के परस्पर सम्बन्ध को दिखलाने की चेष्टा करता है। अपने विचारों की उड़ान में प्लैतो बहुत दूर चला जाता है। वह अङ्कगणित को सार्वभौमिक रूप में देखता है और कहता है कि "अङ्कगणित में कुछ ऐसा तत्व है जिसे सभी कला, विज्ञान और साहित्य अपने में ले सकते है *।" अङ्कगणित को प्लैतो ने एक ऐसी कुँजी मानी है जिससे

* रिपब्लिक। ५२२

सभी दरवाजे खोले जा सकते हैं। अपनी पुस्तक 'लॉज़' में भी प्लैतो इस बात का दुबारा समर्थन करता है।

१०—प्लैतो के सिद्धान्त के दोष—

किसी आधुनिक शिक्षा-विशेषज्ञ के लिये प्लैतो के सभी सिद्धान्तों से सहमत होना कठिन है। वह व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर बल अवश्य देता है परन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीन लेता है। प्लैतो का कथन है—"समान बालक और समान शिक्षा"। जब प्लैतो कड़े राज्य-नियन्त्रण की बात कहता है तो भूल जाता है कि उसकी प्रतिभा एक स्वतन्त्र प्रजातन्त्र की छत्रछाया में ही विकसित हुई। प्लैतो अपने बुद्धिवाद के झोके में कोमल मानव भावनाओं को भूल जाता है और कुटुम्ब को बालकों के शिक्षा भार से बिलकुल वञ्चित कर देता है। वह व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की चर्चा करता है। परन्तु व्यक्ति के अधिकारों को छीन लेता है। प्लैतो कभी-कभी अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने का उपाय बतलाने में मूक हो जाता है। मालूम होता है कि उसे स्वयं अपने सिद्धान्त पर पूरा विश्वास नहीं था। प्लैतो चाहता है कि दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में कुशलता प्राप्त करने के बाद दार्शनिक शासन कार्य सँभाले। परन्तु वह ठीक नहीं बतलाता कि उनके लिये यह कैसे सम्भव है? इस प्रकार हम उसके दार्शनिक ज्ञान प्राप्ति और कुशल नागरिकता में सामंजस्य का अभाव पाते हैं।

११—प्लैतो का प्रभाव—

प्लैतो के सिद्धान्तों का तात्कालिक प्रभाव न पड़ा। उस समय भली-भाँति लोग उन्हें न समझ सके। 'रिपब्लिक' में शान्तिप्रियता तथा दार्शनिक जीवन का पाठ मिलता है। प्लैतो के प्रभाव से ही ईसा के पूर्वकालीन युग में लोगों में दार्शनिक जीवन, विवेक तथा सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। प्लैतो ने इस भौतिक संसार से परे एक सत्य की कल्पना की। इस प्रकार उसने ईसा के युग के लिये पहले ही से मार्ग तैयार कर दिया। शिक्षा के क्षेत्र में प्लैतो का प्रभाव विशेषकर माध्यमिक युग में दिखलाई पड़ता है जब कि मठ, स्कूल और उस समय के विश्वविद्यालय 'प्लैतो की ओर चलो' की ध्वनि करते हैं। पुनरुत्थान-काल में भी चर्च-अध्यापकों के सुधार में प्लैतो का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। 'रिपब्लिक' और 'लॉज़' ऐसे महान् ग्रन्थों की उपयोगिता सिद्ध करना सरल नहीं। साधारण मनुष्य उनकी उपयोगिता समझने में असमर्थ हो सकता

है। परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि मानव सभ्यता उनके बिना कुछ निर्धन-सी दिखलाई पड़ेगी। ऐसे ही ग्रन्थ सांसारिक झंझटों में फँसे हुए मनुष्यों को कभी-कभी उच्च आदर्शों का स्मरण करा देते हैं। वे संकेत करते हैं कि मनुष्य का जीवन पशु के समान पेट पालना ही नहीं, अपितु उससे कुछ उच्च कोटि का है—उसे तो यह समझना है कि 'वह है क्या ? ।'

सहायक ग्रन्थ

१—प्लैतो—प्रोटागोरस, मेनो, फीडो, रिपब्लिक, लॉज़, परमीड्स।
२—पेटर, वाल्टर, एच०—प्लैतो एण्ड प्लैतोनिज़म, न्यूयार्क (मैकमिलन), १८९३।
३—ऐडमसन, जे० ई०—'एडूकेशन इन प्लैतोस रिपब्लिक' न्यूयार्क, मैकमिलन, १९०३।
४—बोसनक्वेट, बर्नार्ड—'दी ऐडूकेशन ऑव् दी यङ्ग इन दी रिपब्लिक ऑव् प्लैतो' (यू० प्रेस,) १९०८।
५—इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका—प्लैतो, ग्यारहवाँ संस्करण।
६—नेटिलशिप, रिचर्ड ल्यूइस—'दी थियरी ऑव् एडूकेशन इन दी रिपब्लिक ऑव् प्लैतो, शिकागो (यू० प्रेस,) १९०६।
७—मनरो—'ए टेक्स्ट-बुक इन द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन, पृष्ठ १३०–४६।
८—ग्रेवज़—'स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन, पृष्ठ १३०–४६।
९—उलिच—हिस्ट्री ऑव् एडूकेशनल थॉट, पृष्ठ २०–२४।
१०—रस्क : 'द डॉक्ट्रिन्स ऑव् द ग्रेट एडूकेटर्स', अध्याय ६।
११—एबी एण्ड एरोउड—'द हिस्ट्री एण्ड फ़िलॉसोफ़ी ऑव् एडूकेशन-एनशियण्ट एण्ड मेडिवल', अध्याय ८।

ग—अरस्तू

१—अरस्तू और प्लैतो—

अरस्तू अपने युग का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता है। प्लैतो उसका गुरू था। वह अपने गुरू का बड़ा आदर करता था परन्तु उसके सभी सिद्धान्तों से सहमत न था। वह इतना पढ़ता था कि प्लैतो ने उसका नाम 'रीडर' रख दिया। अरस्तू सत्तरह वर्ष की अवस्था से सैंतीस वर्ष अर्थात् बीस साल तक प्लैतो के पास रह कर अपनी बुद्धि का विकास करता रहा। प्लैतो के ३४७ ई० पू० में देहान्त के बाद अरस्तू एथेन्स छोड़ कर विदेश यात्रा के लिये

निकल पड़ा। बारह साल तक एशिया माइनर तथा मेसीडोनिया में भ्रमण करता रहा। इसी भ्रमण में वह अलिकसुन्दर (एलेक्जेण्डर) का तीन साल तक अध्यापक रहा। इस समय अलिकसुन्दर की उम्र बारह साल की थी। वह अपने गुरु को बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। ३३५ ई० पू० ४९ वर्ष की अवस्था में अरस्तू एथेन्स लौटा। वहाँ इसने पाठशाला खोली और तेरह वर्ष तक अर्थात् अपने जीवन के अन्त तक विद्या दान करता रहा। लोगों ने प्लैतो और अरस्तू में आकाश पाताल का अन्तर बतलाया है, पर वास्तव में ऐसी बात नहीं। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि दोनों की गति उलटीचलती है, पर तात्पर्य में दोनों प्राय: एक ही निचोड़ देते हैं। अन्तर तो केवल उनके परिमाण में है, तत्व में नहीं। प्लैतो का 'आदर्शवाद, संसारिक अनुभव से बहुत परे नहीं है। वह यथार्थता को दृष्टि से ओझल नहीं करता, वास्तव में वह तो जीवन की यथार्थता से ही अपने विचारों को प्रारम्भ कर 'आदर्शवाद' की ओर जाता है। अरस्तू भी 'वस्तु' और 'रूप' ('मैटर' और 'फ़ार्म') की व्याख्या में आध्यात्मवाद की ओर बढ़ते हुए 'आदर्शवादी' ही दिखलाई पड़ता है। अरस्तू की रचनाओं में प्लैतो का प्रभाव स्पष्ट है। दोनों एथेन्सवासियों की अवनति का कारण उनकी शिथिल शिक्षा-व्यवस्था ही समझते हैं। शिक्षा को दोनों राज्य-नियन्त्रण में रखना पसन्द करते हैं। दोनों शरीर और मस्तिष्क की शिक्षा पर समान दृष्टि रखते हैं। प्लैतो की तरह अरस्तू भी बचपन में ही वास्तविक शिक्षा की नींव' डाल देना चाहता है। विवेक-सम्बन्धी शिक्षा के पहले आदत सम्बन्धी शिक्षा देना अनिवार्य है। अरस्तू के अनुसार नैसर्गिक प्रवृत्तियों और स्वस्थ शरीर के आधार पर ही किसी व्यक्ति को उचित शिक्षा दी जा सकती है। प्लैतो के विषय में गत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उसका सारांश अरस्तू को शिक्षा-सिद्धान्तों में आ जाता है। दोनों 'राजनीति' को आदर की दृष्टि से देखते थे और मानव जाति का कल्याण उसके उचित

अरस्तू।

संचालन में ही मानते थे। दोनों का 'कुशल नागरिकता' की 'शिक्षा' में पूर्ण विश्वास था। दोनों इस सम्बन्ध में राज्य को पूर्ण अधिकार देने के पक्षपाती थे। प्लैतो शिक्षा को जीवन भर में स्थान देना चाहता था। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक का कार्यक्रम हमारे सामने वह रखता है। अरस्तू भी शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन का अंग मानता है। प्लैतो अपनी आदर्श शिक्षा-योजना का स्पष्टीकरण सुन्दर साहित्यिक ढंग से करता है। परन्तु उसके सिद्धान्तों में वैज्ञानिकता का अभाव है। अरस्तू अपने विचारों को उतने सुन्दर ढंग से न रख सका। वे हमें उसके फुटकर भाषणों में मिलते हैं। प्लैतो की तरह वह हमें प्रौढ़ शिक्षा-योजना नहीं देता परन्तु जो कुछ वह कहता है उसमें वैज्ञानिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। बहुत अंशों में उसके विचार वर्तमान युग के विचारों के समान दिखलाई पड़ते हैं। प्लैतो 'विचारों' (ऑइडियाज़) का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता था। अरस्तू का विश्वास उनमें न था। 'विचार' को तो वह 'वस्तु' रूप (फ़ार्म) समझता है। वह बिना 'वस्तु' के विचार (या फार्म) की कल्पना कर ही नहीं सकता। प्लैतो 'व्यक्ति' की जागृति में ही श्रेय का आभास पाता था। अरस्तू इसके विरुद्ध में 'जाति' की जागृति में श्रेय अपेक्षित समझता था। उसके अनुसार व्यक्ति के जीवन का मुख्य उद्देश्य सुख प्राप्त है, प्लैतो के सदृश् 'विवेक प्राप्ति' नहीं। प्लैतो अपने 'विवेक'–विश्लेषण की धुन में व्यक्ति की 'इच्छा शक्ति' को भूल सा गया। किन्तु अरस्तू का उसका मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण अधिक प्रौढ़ दिखलाई पड़ता है। अरस्तू 'गुण' (वर्चू) को 'ज्ञान' में नहीं वरन् 'इच्छा शक्ति' में देखता था। 'इच्छा शक्ति' का रूप किसी स्थायी दशा में नहीं मिलता। उसका रूप तो एक निरन्तर क्रिया में ही दिखलाई पड़ सकता है। इस प्रकार अरस्तू के मतानुसार मनुष्य का उच्च उद्देश्य 'क्रिया' में है, न कि प्लैतो की तरह 'विवेक' या 'ज्ञान' प्राप्ति में। अरस्तू के इस विचार में कितनी वास्तविकता भरी हुई है!

२–अरस्तू के अनुसार बालक का स्वभाव-चरित्र और शिक्षा का उद्देश्य–

बालक में अरस्तू के अनुसार सभी सम्भावनायें निहित रहती हैं परन्तु प्रारम्भ में वह केवल तृष्णा और इच्छा का जीव रहता है। उसके अनुसार "बालक असभ्य मनुष्यों की तरह सुख की उत्कट इच्छा रखते हैं।*" जो मन में आता है वही वे करते हैं। अपनी सम्भावनाओं के ही कारण वे प्रौढ़ मनुष्य के रूप में आ जाते हैं, नहीं तो वे पशु की श्रेणी में ही रह जाते। मनुष्य अनेक प्रकार की

* पॉलिटिका, सातवें का ११

इच्छाओं और भावनाओं का प्राणी है। ये सब बालक के स्वभाव में भली-भाँति देखी जा सकती हैं। अनुकरण, स्पर्धा, लज्जा, भय, विस्मय और सुख के भाव से बालक के सभी कार्य प्रभावित होते हैं। अरस्तू कहता है कि बचपन में सुख मिल ही नहीं सकता। इसलिये बालक का जीवन कभी 'वांच्छित' नहीं हो सकता। आजकल के लोग अरस्तू के इन विचारों से सहमत नहीं हो सकते। अरस्तू जीवन के प्रथम २१ वर्ष में शिक्षा समाप्त कर देना चाहता है। इस दृष्टि से वह सातवें, चौदहवें और इक्कीसवें वर्ष तक—तीन भाग करता है। अरस्तू ने आदत बनाने पर बहुत ही ज़ोर दिया है। उसके अनुसार शिक्षा-क्षेत्र में इसका विशेष स्थान है। मनुष्य का चरित्र अच्छी आदतों के बनने पर ही निर्भर है। चरित्र तो मनुष्य की आदतों और आदर्शों का योग है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी चरित्र की इस परिभाषा से सहमत हैं। परन्तु वे 'संकल्प-शक्ति' को भी चरित्र के साथ जोड़ देते हैं। जो जैसा कार्य करेगा उसी के अनुसार उसका चरित्र बनेगा। इसलिये अरस्तू कहता है कि अपने चरित्र के लिये व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। व्यक्ति का चरित्र-गठन तभी अच्छा हो सकता है जब कि अच्छे कार्य वह अपनी प्रेरणानुसार करे। यदि उसे कोई कार्य बलात् करना हुआ तो उसका प्रभाव चरित्र पर बुरा पड़ेगा। अरस्तू के ये विचार संकेत करते हैं कि शिक्षा-क्रिया में किसी प्रकार का हठ हानिकारक है। वातावरण को ऐसा बना देना चाहिये कि व्यक्ति सब कुछ प्रेरणा से ही करे। प्रकृति तो केवल कुछ प्रवृत्तियाँ ही हमें देती है। अरस्तू कहता है कि इन प्रवृत्तियों को 'आदतों' और 'विवेक-वृद्धि' के बल पर चरित्र में सुन्दर परिवर्तन कर देना शिक्षा का कार्य है। इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र में अरस्तू 'प्रकृति', 'आदत' और 'विवेक' की प्रधानता मानता है। उस समय सभी शिक्षकों को अच्छे चरित्र के बनाने की समस्या जटिल दिखलाई पड़ती थी। इस समस्या का समाधान उसने उपरोक्त प्रकार से किया है। अरस्तू को एथेन्स के दासों से सहानुभूति थी। औद्योगिक कलाओं, खेती, व्यापार आदि को विशेष कर वह दासों का ही कार्य समझता था। वह समझता था कि इन सब कार्यों के करने से अवकाश के अभाव के कारण चरित्र सुन्दर नहीं बन सकता। शारीरिक परिश्रम करने से आत्म-सुख के लिये अवकाश नहीं मिल सकता। इसलिये वह एथेन्स के नागरिक को 'उदार' शिक्षा देना चाहता है और दासों को विशेषकर दैनिक आवश्यकताओं सम्बन्धी। कोरे ज्ञान की शिक्षा में उसका विश्वास न था। 'ज्ञान' को वह कुशल नागरिक बनाने में केवल योगदायक मानता था। वह कहता था, "वह व्यक्ति अवश्य ही

निरा मूढ़ होगा जो नहीं जानता कि 'नैतिकता' शक्तियों के उपयोग से ही प्राप्त होती है।"*

३—शिक्षा का रूप—

अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सुख-प्राप्ति है। सुख की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि मनुष्य की विभिन्न शक्तियों के कार्य में सामञ्जस्य हो। अरस्तू के अनुसार अच्छा स्वास्थ्य, भारी और सुखद कुटुम्ब, प्रसिद्धि, आदर, अवकाश का सदुपयोग, सुन्दर नैतिक चरित्र तथा सभी मानसिक शक्तियों का विकास होने पर ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये शिक्षा का उद्देश्य इन सब गुणों को देना है। अपने समय की शिक्षा-समस्याओं पर अरस्तू ने विचार किया है। एथेन्सवासी इस विषय में एक मत नहीं थे कि शिक्षा 'राज्य-नियन्त्रण' के अन्तर्गत हो या 'स्वतन्त्र'। किन-किन विषयों की शिक्षा देना आवश्यक है यह नहीं निश्चित हो सका था। लोगों के भिन्न-भिन्न विचार थे। गुण प्राप्त करने के साधन के विषय में लोगों का एक मत न था। अरस्तू ने इन सब मतभेदों को दूर करने की चेष्टा की है। शिक्षा के पाठ्यक्रम में उसने पढ़ना-लिखना, खेल-कूद और संगीत को प्रधान माना है। शरीर के विकास पर उसने अधिक ज़ोर दिया। शरीर की उन्नति पर वह आत्मा के विकास को आश्रित समझता है। स्पार्टा अपने बच्चों को साहसी बनाने के लिये उनके शरीर को नाना प्रकार के कष्ट दिया करते थे, परन्तु खेल-कूद और युद्ध में उनकी हार से यह स्पष्ट हो गया था कि साहस बढ़ाने का उनका यह उपाय भ्रमात्मक था। अरस्तू खेल-कूद में 'अति' के विरुद्ध था। वह अधिक शारीरिक परिश्रम के साथ मानसिक परिश्रम के विपक्ष में था। वह कहता था "मनुष्य को अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम साथ ही साथ नहीं करना चाहिये। शारीरिक परिश्रम से मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है और मानसिक परिश्रम से शरीर।"† खेलों की सार्थकता पर भी उसका ध्यान था। जीवनोपयोगी कलाओं के सीखने में खेल सहायक होने चाहिये। खेलों का मनोरंजक होना आवश्यक है। किशोरावस्था के आने पर अर्थात् १४ वर्ष के बाद तीन साल तक बच्चे को खेल-कूद और भारी व्यायाम में कम भाग लेना चाहिये। फिर इसके बाद २१ वर्ष तक शरीर विकास पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है। "शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य स्वास्थ्य, बल, स्फूर्ति और सौन्दर्य है।"§

*निकोमखीय एथिक्स, पृष्ठ ७५

† पॉलिटिका, आठ, ४,

§ पॉलिटिका, सात, २, ६, रेटोरिक, एक, ५

अरस्तू को संगीत से विशेष प्रेम न था। अतः प्लैतो के सदृश् वह अपनी शिक्षा योजना में इसे बहुत आवश्यक नहीं समझता था। वह नहीं समझ सका कि बालक के विकास में संगीत का क्या महत्व है। परन्तु यूनानियों में उस समय संगीत का प्रचार था, इसलिये संगीत को वह तिरस्कृत न कर सका। वह कहता है "दार्शनिकों के मतानुसार संगीत का उपयोग आचार, कार्य और उत्साह के बढ़ाने में किया जा सकता है। हम इनको मानते हैं, परन्तु संगीत का क्षेत्र और आगे बढ़ाया जा सकता है। हम उसका उपयोग शिक्षा में बुरी आदतों को दूर करने में तथा कठिन परिश्रम के बाद मनोरंजन और मानसिक सुख के लिये कर सकते हैं।"* अरस्तू व्यवसाय के लिये बच्चों को संगीत सिखाना पसन्द नहीं करता। शिक्षा के क्षेत्र में वह बहुत ही साधारण संगीत लाना चाहता है।

४—शिक्षा की व्यवस्था—

अरस्तू के अनुसार बालक को सब कुछ प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही सिखलाना चाहिये। शताब्दियों बाद पेस्तॉलॉज़ी ने अपने जिस 'ऑन्शाचॉङ्ग' (स्वानुभूति) सिद्धान्त का प्रचार किया उस ओर अरस्तू ने पहले ही संकेत कर दिया था। ऊँचे विषयों की शिक्षा देने के पहले बालक का मस्तिष्क उसके लिये तैयार कर लेना आवश्यक है। अरस्तू का विश्वास था कि मस्तिष्क ज्ञात वस्तु से अज्ञात की खोज में झुकता है। अतः प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा बालकों को विभिन्न विषयों का ज्ञान करा देना आवश्यक है "अनुभव से ही हमें किसी विषय-सम्बन्धी सिद्धान्तों का ज्ञान हो सकता है।"† यहाँ अरस्तू प्लैतो के सिद्धान्तों का विरोधी दिखलाई पड़ता है। प्लैतो के अनुसार तो सब कुछ स्वाभाविक 'विवेक' पर आश्रित होता है। इसके विपरीत अरस्तू इन्द्रियों के 'अनुभव' और 'तर्क' को ज्ञान का आधार मानता है। परन्तु वह अपने इन विचारों का विश्लेषण भली-भाँति न कर सका। उसने 'सिद्धान्त-प्रणाली' की विशेषता पर अधिक बल दिया। बच्चों की देख-रेख में अरस्तू प्लैतो के ही समान सचेष्ट दिखलाई पड़ता है। वह उनको नौकरों के संग में रखना हानिकर समझता है। बच्चों की रहन-सहन, खाना-पीना इत्यादि साधारण होना चाहिये। पाँच वर्ष के बाद बच्चों के लिये ऐसे खेलों का आयोजन करना चाहिये जो उन्हें भावी जीवन के लिये तैयार करने में सहायक हों। किसी

* पॉलिटिका, सात, ७,

† एनलिटिका प्रॉयोरा, एक, ३०

त्रुटि अज्ञान से हो, ज्ञान से ही कर्तव्यपरायणता, नैतिक जीवन का आधार बौद्धिक परिज्ञान, यूनानियों का पतन, परम्परा से प्रचलित विचारों में शिक्षा, नैतिक तथा बौद्धिक विचारों की ठीक परिभाषा देना, उच्च नैतिक आचरण में विवेक आवश्यक, नैतिक जीवन का सिद्धान्त रचने का प्रयत्न।

४—सुकरात की विधि—

निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहता था, गवेषणा से व्यक्ति को स्वयं सत्य पर पहुँचाना, सोफ़िस्ट शिक्षकों का बुरा प्रभाव, स्पष्ट ज्ञान देना उद्देश्य, सच्चे ज्ञान से ही अच्छे कार्य, सच्चा ज्ञान अपने अनुभव तथा तर्क से, प्रश्नों द्वारा त्रुटि दिखलाना, फिर नए विचारों का प्रादुर्भाव करना।

५—उसका प्रभाव—

ज्ञान पर अधिक महत्त्व, तर्क-विधि की श्रेष्ठता, सोफ़िस्ट प्रणाली का मान घटने लगा।

सुकरात-प्रणाली केवल आचार-शास्त्र सम्बन्धी विषयों में उपयोगी, इतिहास, भाषा आदि में ठीक नहीं; उसकी देन—१—ज्ञान का नैतिक मूल्य, २—अपने अनुभव पर सीखना, ३—शिक्षा से नए विचारों का संचार करना।

ख—प्लैतो

प्लैतो का अब भी इतना सम्मान क्यों किया जाता है? प्लैतो आधुनिक युग के प्रायः सभी शिक्षा-सिद्धान्तों की ओर संकेत करता है।

१—प्लैतो का आरम्भिक जीवन और सुकरात का सम्बन्ध—

२—अपने उद्देश्य की खोज—

यात्रायें, शिक्षा-समस्याओं के हल के लिये ही उसने बहुत से विषयों पर अपना विचार प्रगट किया, दर्शनशास्त्र तो उसके शिक्षा-सिद्धान्त का केवल प्रतिरूप है।

३—प्लैतो के अनुसार ज्ञान के तीन स्रोत—

'इन्द्रियाँ', 'अपना मत' और 'विवेक', सच्चे 'ज्ञान' सार्वभौमिक सत्य की श्रेणी में मूलरूप हैं, वे पहले से ही मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं, वातावरण के सम्पर्क से वे जाग उठते हैं, वे विचार एक दैवी सूत्र में गुथे हुए हैं, प्लैतो के सिद्धान्त में उस समय के सभी मतों की सामञ्जस्यता का आभास मिलता है।

४—आत्मा और शरीर की भिन्नता—

आत्मा के तीन अंश—तृष्णा, धृति और विवेक, तीनों की उत्पत्ति क्रमशः नाभि, हृदय और मस्तिष्क से; 'विवेक' दैवीशक्ति का अंश और सम्पूर्ण जगत का सार, 'विवेक' आत्मा का नेत्र, सत्य की खोज विवेक से ही सम्भव, मानव जीवन का उद्देश्य इस विवेक को पहचानना ही, अतः शिक्षा का भी अभिप्रायः 'विवेक' को बढ़ाना ही है।

५—नैतिक आदर्श

नैतिक जीवन का दूसरा नाम गुण होना, गुण मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव पर निर्भर, 'न्याय' के गुण का आविर्भाव सब गुणों की पराकाष्ठा, भौतिक सुख क्षणिक, श्रेय सुख का स्थायित्व, मस्तिष्क के विकास के साथ शरीर की भी उन्नति आवश्यक।

६—प्लैतो के अनुसार शिक्षा—

राज्य का प्रथम कर्त्तव्य, स्पार्टी विजय का उस पर प्रभाव, यूनानी परम्परा में उसका अनुराग, 'रिपब्लिक' की रचना, व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, राज्य के लिये उसे जीना और मरना।

मनुष्य की तरह 'राज्य' का भी एक व्यक्तित्व—

'राज्य' तीन प्रकार के व्यक्तियों का समूह—१—कृषि व व्यापार करनेवाले, २—'संरक्षक' ३—'शासनवर्ग'। प्रत्येक वर्ग के लिये उचित शिक्षा-व्यवस्था आवश्यक, नवयुवकों की शिक्षा का भार, 'राज्य' पर, कुटुम्ब पर नहीं।

प्लैतो स्त्री स्वभाव से अनभिज्ञ—

अतः उनकी शिक्षा व्यवस्था की ओर वह ठीक से संकेत न कर सका।

७—प्लैतो का शिक्षा सिद्धान्त

शिक्षा-क्षेत्र में प्लैतो की महानता के कारण, व्यक्ति और समाज का हित एक दूसरे पर निर्भर, प्लैतो का आदर्श सदा के लिये उत्साहवर्धक, उसकी शिक्षा-योजना में तत्कालीन यूनानी सभ्यता की आलोचना, उसके विचारों का ऐतिहासिक महत्त्व।

'रिपब्लिक' और 'लॉज़' का मुख्य विषय शिक्षा ही, राज्य का प्रथम कर्त्तव्य आदर्श नागरिक बनाना है न कि राज्य-नियम, शिक्षा की व्याख्या नैतिक शिक्षा, नैसर्गिक प्रवृत्तियों को सद्वृत्तियों की ओर लगाना, घृणा करनेवाली वस्तुओं से घृणा और प्यार करनेवाली वस्तुओं से प्यार, क्या गुण सिखाया जा सकता है?

८—शिक्षा का कार्य—

१—'राज्य' की एकता, रूसो और प्लैतो, २—आदर्श नागरिक बनाना, ३—सत्य के पहचानने के लिये विवेक, ४—सौन्दर्योपासना की शक्ति, ५—व्यक्ति में सामञ्जस्यता का प्रादुर्भाव, ६—आचार और नीति का ज्ञान, ७—भ्रातृभाव पैदा करना।

शिक्षा देना तो राज्य का कर्त्तव्य है, शिक्षा की व्यवस्था व्यक्तिगत योग्यतानुसार।

९—प्लैतो का 'शिक्षा-कार्यक्रम'—शिक्षा के दो कार्य—

१—दैनिक कार्यों में कुशलता तथा वृत्ति के लिये खेती, व्यापार आदि, २—राज्य-सेवा के योग्य करना, वास्तविक शिक्षा तो 'गुण' में होती है, अच्छी आदतें, प्रथम तीन वर्ष तक पीड़ा और आनन्द का कम से कम अनुभव, बालक इच्छाओं का जीव, विवेक से परिचित नहीं, तीसरे साल के बाद 'पीड़ा' और 'आनन्द' द्वारा साहस और आत्म-नियन्त्रण का बोध, परम्परा में अनुराग, संगीत, कविता और नृत्य, सैनिक शिक्षा, धार्मिक भाव, गणित, वातावरण अरुचिकर न हो

वाद्य-संगीत की शिक्षा तेरह से सोलह वर्ष तक, 'लॉज़' में वह अपने कुछ विचारों को बदल देता है, धार्मिक भजन, अंकगणित के मूल सिद्धान्त।

सोलह से बीस वर्ष तक विशेषकर स्फूर्तिमय व्यायाम और सैनिक-शिक्षा, बीस वर्ष की उम्र के बाद योग्य स्त्री-पुरुषों द्वारा दस साल तक वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन।

तीस से पैंतीस तक दर्शन-शास्त्र, भाषण देने और तर्क करने में शिक्षा, पचास वर्ष की उम्र तक राज्य-सेवा, इसके बाद अवकाश ग्रहण कर सत्य की खोज करना।

औद्योगिक कलाओं से प्लैतो को अरुचि, क्योंकि उनमें लग जाने पर व्यक्ति वास्तविक सत्य की खोज की ओर नहीं जा सकता; ये कलायें अनुकरण से सीखी जा सकती हैं, अतः इनके लिये किसी निश्चित शिक्षा-योजना की आवश्यकता नहीं।

स्त्रियों की शिक्षा—

पुरुषों के समान—पर वे बल में कुछ हीन, राज्य में एकता, समान बालक और समान शिक्षा।

व्यक्तित्व का पूर्ण विकास—

आवश्यक, प्लैतो की शिक्षा योजना एथेन्स की अराजकता दूर कर करने के लिये, प्लैतो परम्परा में परिवर्त्तन का घोर विरोधी, शिक्षा का उद्देश्य कुशल नागरिकता के लिये परिवर्तन का रोकना, हर बात में राज्य-नियन्त्रण आवश्यक, झूठी कल्पनाओं से अरुचि, होमर को पढ़ने के विरुद्ध, प्लैतो अपने युग के सर्वोत्तम विचारों का प्रतिनिधि, उसके पाठ्यक्रम का मूल सिद्धान्त अब भी जीवित, बिना संगीत प्रेम के मनुष्य क्रूर और बिना खेल-कूद में प्रेम के वह विलासी हो जाता है, प्लैतो का ध्यान दार्शनिक अध्ययन और समाज सुधार की ओर। मनुष्य-जीवन के दो पहलू— १—'तृष्णा और धृति,' २—विवेक, प्लैतो पर पिथागोरस का प्रभाव, प्लैतो अङ्कगणित में एक सार्वभौमिक तत्व देखता है।

१०—प्लैतो के सिद्धान्त के दोष—

व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीन लेता है, कड़ा राज्य-नियन्त्रण अनावश्यक, कुटुम्ब के मूल्य को भूलना, भ्रमात्मक, दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति और कुशल नागरिकता में असामञ्जस्य।

११—प्लैतो का प्रभाव—

शान्ति प्रियता और दार्शनिक जीवन का पाठ, ईसा के युग के लिये मार्ग तैयार किया। उसका प्रभाव माध्यमिक काल में, 'रिपब्लिक' और 'लॉज़' हमें उच्च आदर्श की याद दिलाते हैं।

ग—अरस्तू

१—अरस्तू और प्लैतो—

प्लैतो और अरस्तू, दोनों की गति उलटी पर निचोड़ में समानता, दोनों की दृष्टि में राज्य-नियन्त्रण आवश्यक, बचपन का महत्व दोनों स्वीकार करते हैं, कुशल नागरिकता की शिक्षा में दोनों का विश्वास, शिक्षा जीवन भर का अंग, प्लैतो में अरस्तू की अपेक्षा वैज्ञानिकता की कमी, प्लैतो के लिये व्यक्ति की जागृति, अरस्तू के लिये जाति की, अरस्तू

के अनुसार मनुष्य का उद्देश्य सुख-प्राप्ति, प्लैतो के लिये विवेक-प्राप्ति, प्लैतो इच्छा-शक्ति को भूल जाता है, परन्तु इसी को सबका आधार मानता है।

२—अरस्तू के अनुसार बालक का स्वभाव, चरित्र और शिक्षा का उद्देश्य—

बालक तृष्णा और इच्छा का जीव; उसके कार्य अनुकरण, स्पर्धा, लज्जा, लय विस्मय और सुख की सतह पर; बचपन में सुख नहीं; २१ वर्ष तक चरित्र का निर्माण आदतों और आदर्श पर, सुन्दर चरित्र-निर्माण ही शिक्षा का उद्देश्य, नागरिक को उदार शिक्षा और दासों को दैनिक आवश्यकताओं सम्बन्धी, आदर्श नागरिकता की प्राप्ति शक्तियों के उपयोग से।

३—शिक्षा का रूप—

पाठ्यक्रम में पढ़ना-लिखना, स्फूर्तिमय व्यायाम और संगीत प्रधान, आत्मा के विकास के लिये शरीर की उन्नति आवश्यक, अधिक शारीरिक परिश्रम के साथ अधिक मानसिक परिश्रम नहीं, खेलों की भावी उपयोगिता पर उसका ध्यान, संगीत का महत्त्व स्वीकृत पर उसका रूप साधारण हो।

४—शिक्षा की व्यवस्था—

अरस्तू और पेस्तॉलॉज़ी प्रत्यक्ष अनुभव सभी ज्ञान का आधार, ज्ञात से अज्ञात की ओर, प्लैतो के 'विवेक सिद्धान्त का' विरोध, बच्चों का रहन-सहन साधारण। नौकरों का संग हानिकर, 'खेलों' में भावी जीवन की तैयारी; पहले साधारण विषयों का ज्ञान, फिर अंकगणित, ज्यामिति, खगोल आदि, २१ वर्ष के बाद मनोविज्ञान, राजनीति, आचार-शास्त्र आदि, अनुभव के बाद ही राजनीति का अध्ययन।

५—अरस्तू का महत्व—

'माध्यमिक' और 'पुनरुत्थान' काल में उसका प्रभाव विशेष, पाठ्यक्रम पर उसका प्रभाव अब तक, 'उदार शिक्षा' की ध्वनि उसी से उठती है, विषयों को वैज्ञानिक रूप प्रदान।

सहायक ग्रन्थ

१—अरस्तू—की अनूदित रचनायें।
२—बर्नेट, जॉन—(अनुवादक) 'अरिस्टॉटिल ऑन एडूकेशन', लन्दन, (कैम्ब्रिज यू० प्रेस), १६०५।
३—डेविडसन, टी०—'अरिस्टॉटिल एण्ड द ऐन्शियेण्ट एडूकेशनल आइडियल' न्यूयॉर्क, (चार्ल्स स्क्रीबनर्स), १६०४।
४—उलिच—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशनल थॉट', पृष्ठ २५-४३।
५—मनरो—'टेक्स्ट-बुक इन द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', पृष्ठ १४६-६०।
६—एबी एण्ड ऐरोउड—'हिस्ट्री एण्ड फिलॉसोफ़ी ऑव् एडूकेशन ऐन्शियण्ट एण्ड मेडिवल', अध्याय ६।

३

रोमन शिक्षा

१—रोमन जीवन व शिक्षा के आदर्श तथा उद्देश्य—

रोमन आदर्श यूनानियों से भिन्न था। उन्होंने यूनानियों से शिक्षा के विषय में बहुत कुछ सीखा, परन्तु वे किसी की वस्तु को लेकर उसे अपना आवरण देने में बड़े चतुर थे। इसलिये शिक्षा-क्षेत्र में भी उनकी बहुत-सी बातें यूनानियों से निराली लगती हैं। उनमें केवल अनुकरण करने की शक्ति ही नहीं थी, अपितु अपनी मौलिकता भी थी। इसी के बल पर संसार के सभ्यता-विकास में उनका विशेष स्थान है। विचारों की उड़ान में जाना उन्हें पसन्द न था। वे वास्तविकता को तुरन्त पकड़ कर नई वस्तुओं के संगठन और निर्माण में लग जाते थे। अपनी संस्थाओं के संगठन, लैटिन भाषा और साहित्य के विकास, राज्य-नियम तथा 'लैटिन ग्रामर स्कूलों' के पाठ्यक्रम की व्यवस्था में हमें उनकी निपुणता पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। सभ्यता में उनकी देन को हम इन्हीं सब बातों में पहचान सकते हैं। रोमन तात्कालिक उपयोगिता पर विशेष ध्यान देते थे। वे अपने विचारों को सदैव कार्यान्वित करना चाहते थे। यूनानियों के समान बड़े-बड़े स्वप्न देखना उन्हें पसन्द न था। शिक्षा में तो बड़े-बड़े आदर्शों की विवेचना रहती है—चाहे आदर्श कार्यान्वित किये जा सकें या नहीं। स्पष्ट है कि रोमनों का शिक्षा पर उतना स्थायी प्रभाव क्यों नहीं पड़ा जितना कि यूनानियों का। यूनानी आत्म-सन्तोष के लिये 'गुण' और आत्मिक सुख को ही अपने जीवन का उद्देश्य मानते थे। रोमन अपने जीवन में अधिकार और कर्तव्य को प्रमुख स्थान देते थे। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-दास तथा सम्पत्ति आदि सम्बन्धी सभी कर्तव्य व अधिकार स्पष्टरूप से निर्धारित कर दिये गये। इन्हीं अधिकारों की प्राप्ति और कर्तव्यों का पालन रोमवासी अपने जीवन का प्रमुख आदर्श मानते थे। फलतः शिक्षा का उद्देश्य भी इसी ओर झुका। इन सब अधिकारों और कर्तव्यों में तथा राज्य-हित में विरोध न था। राज्य-नियम के अनुसार इन सबकी व्यवस्था की जाती थी। इन अधिकारों अथवा कर्तव्यों की अवहेलना पर राज्य-दण्ड भुगतना पड़ता था। देवभक्ति, माता-पिता की

आज्ञा का पालन, युद्ध तथा कष्ट काल में साहस, अपने पारिवारिक तथा निजी प्रबन्ध में चतुरता, गाम्भीर्य तथा आत्म-सम्मान को रोमन चरित्र के प्रधान गुणों में गिनते थे। अधिकार तथा कर्तव्य के रूप में इन गुणों की विस्तृत व्याख्या ही सभ्यता के लिये रोमनों की प्रधान देन है। अधिकारों और कर्तव्यों का संतुलन ही 'राज्य-न्याय' का लक्ष्य है। शिक्षा का उद्देश्य सदैव जीवन के आदर्शों से सम्बन्धित रहता है। स्पष्ट है कि रोमनों के लिये शिक्षा उद्देश्य अपने अधिकारों और कर्तव्य के बरतने में सफलता प्राप्त करना था। उनकी नैतिकता भी इन्हीं अधिकारों और कर्तव्यों तक सीमित रही।

२—रोमन-शिक्षा की रूप रेखा—

रोमन शिक्षा के इतिहास को हम पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं—पहला भाग रोम शहर के संस्थापन काल अर्थात् ७५३ ई० पू० से २७५ ई० पू० तक माना जाता है। इस काल में शिक्षा का पूरा भार एक प्रकार के कुटुम्ब पर ही रहता था। माता-पिता या नौकर बालकों को शिक्षा दिया करते थे। स्कूल केवल प्राथमिक शिक्षा देते थे। इस समय विदेशियों का प्रभाव बहुत कम पड़ा। दूसरा काल २७५ ई० पू० से १३२ ई० पू० तक माना जाता है। यह काल उनकी जागृति का माना जाता है। इसी समय सारे भूमध्यसागर के प्रदेशों में रोम का प्रभुत्व स्थापित हो गया। रोम की गणना अब इटली राज्य में न होकर संसार की शक्तियों में की जाने लगी। शिक्षा-क्षेत्र में यूनानियों का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्हीं के अनुकरण में ग्रामर स्कूल तथा साहित्य एवं अलंकार-शास्त्र के स्कूल खोले गये। तीसरा काल १३२ ई० पू० से ईसा से १०० वर्ष बाद तक माना जाता है। इस समम भी स्कूल अभी राज्य-नियन्त्रण में नहीं आये थे, परन्तु शिक्षा की उन्नति बहुत हो गई थी। लैटिन-साहित्य का यह स्वर्ण युग कहा जाता है। लैटिन ग्रामर स्कूल बहुत सुसंगठित रूप में चल रहा था। चिकित्सा-शास्त्र और राज्य-नियम में एक निश्चित ढंग पर शिक्षा दी जाने लगी थी। इसी काल में रोम 'साम्राज्य' के रूप में परिणित हो गया। 'क्राइस्ट' का जन्म और चर्च की स्थापना इसी समय हुई। चौथा युग सन् १०० से २७५ ई० तक माना जाता है। अब शिक्षा प्रायः राज्य-नियन्त्रण में आ गई थी। उसका कौटुम्बिक रूप समाप्त हो चला था। राज्य-नियम का अध्ययन विश्वविद्यालय के ढग पर होने लगा था। अध्यापकों को अब म्युनिसिपल सहायता मिलने लगी थी। यूनानी औषधि-पद्धति का प्रचार हो चला था। रोमन शिक्षा का पाँचवाँ काल सन् २७५ से सन् ५२६ ई० तक माना जाता है।

अब शिक्षा पर राज्य का पूरा नियन्त्रण था। बिना सरकारी आज्ञा के कोई अध्यापन नहीं कर सकता था। ईसाई धर्म धीरे-धीरे राज्य-धर्म मान लिया गया। डोनाटस, मारटियनस, कैपेला और प्रिशियन आदि विद्वानों ने विभिन्न पाठ्य-पुस्तकों की रचनायें कीं, जिनका आदर करीब १००० वर्ष तक होता रहा। यहीं से प्राचीन युग का अन्त और माध्यमिक युग का प्रारम्भ होता है। इन भिन्न-भिन्न समय की शिक्षा-प्रणालियों का अलग-अलग सविस्तार वर्णन करना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है। अतः नीचे हम केवल कुछ मुख्य बातों ही पर दृष्टिपात करेंगे।

पहले रोमन शिक्षा में कुटुम्ब ही का प्रधान हाथ था। बालक बहुत ही आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उन्हीं पर राज्य की भावी उन्नति निर्भर समझी जाती थी। इसलिये माता पिता उनके पोषण तथा शिक्षा पर विशेष ध्यान देते थे। परन्तु निर्बल बच्चों का बड़ा अनादर किया जाता था। यदि शरीर में कोई दोष देखा जाता था तो जन्म होते ही पिता या तो उन्हें सड़क पर डाल आता था या दासों की कोटि में रखने के लिये बेच देता था। उनकी यह प्रथा आज हमें अमानुषिक प्रतीत होती है, परन्तु यह कार्य वे अपनी जाति और राज्य के सौन्दर्य को जीवित रखने के लिये करते थे। यही कारण है कि उन्हें अपने अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में बड़ी रुचि थी। इसलिये स्वभावतः बच्चों की शिक्षा पर उचित ध्यान देने का प्रयत्न किया जाता था। कौटुम्बिक बन्धन धार्मिक दृष्टि से देखा जाता था। अतः पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि के अधिकार और कर्तव्य निर्धारित थे। सबसे पहले छोटे बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा का उत्तरदायित्व माता पर पड़ता था। माता की उपस्थिति में किसी को बच्चों के सामने कोई कुशब्द या भद्दा व्यवहार कहने या करने का साहस न होता था। उसी के नियन्त्रण में उनके पढ़ने-लिखने तथा सभी कार्य करने की पूरी व्यवस्था की जाती थी। इस कड़े नियंत्रण का फल यह होता था कि भावी जीवन की सारी नींव बचपन में ही पड़ जाती थी। शिक्षा में पिता का स्थान कम महत्त्व का न था। अपने पुत्र की शिक्षा की उचित व्यवस्था करना उसके सबसे बड़े कर्तव्यों में से था। दैनिक कार्यों में शिक्षा देने के लिये वह अपने पुत्र को सदा साथ रखता था। बाज़ार, खेत तथा अन्य आवश्यक स्थानों पर उसे अपने साथ ले जाता था। सभी प्रकार के ज्ञान तथा कला में शिक्षा देना पिता का ही कर्तव्य समझा जाता था। बालकों को विशेषतः रोमन इतिहास, न्यायालय तथा व्यवस्थापिका सभा (सीनेट) की कार्य-विधि,

युद्धकला, व्यापार, कृषि, व्यायाम और भाँति-भाँति के खेल, शस्त्र-प्रयोग तथा विभिन्न कलाओं में शिक्षा दी जाती थी। बालिकाओं को पारिवारिक शिक्षायें दी जाती थीं, जिससे वे मातायें होने पर अपने कर्तव्य का सुचारू रूप से पालन कर सकें। उनकी शिक्षा का भार प्रधानतः उनकी माताओं पर होता था। शिक्षा-क्षेत्र में कुटुम्ब का हाथ प्रधान अवश्य था, परन्तु रोमनों का यह विश्वास था कि माता और पिता द्वारा शिक्षा ही पर्याप्त नहीं हो सकती है। इसलिये उसके अभाव को पूरा करने की वे चेष्टा किया करते थे। किसी प्रसिद्ध रोमन के मरने पर श्राद्ध के दिन उसके कुटुम्ब के इतिहास तथा उसके अच्छे-अच्छे कार्यों की व्याख्या की जाती थी। इस अवसर पर बड़ी भीड़ हुआ करती थी। इस प्रकार युवकों में रोम के इतिहास तथा आदर्शों के प्रति भक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता था। साधारण जनवर्ग केवल अपने दैनिक कार्यों में ही शिक्षा पाता था। कभी-कभी प्रसिद्ध कुटुम्बों से योग्य नवयुवकों को चुन कर उन्हें राज्य-कार्य में शिक्षा दी जाती थी। उच्च सैनिक शिक्षा के लिये उन्हें किसी बड़े सेनापति के साथ लगा दिया जाता था। जो भाषण-कला में निपुणता प्राप्त करना चाहते थे उन्हें भी उस कला के विशेषज्ञ के साथ कर दिया जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोम में सैकड़ों वर्ष तक विशेषकर माता-पिता ही द्वारा शिक्षा दी गई। स्कूल की प्रथा अभी प्रचलित नहीं थी। इस प्रथा का प्रारम्भ २७२ ई० पू० में यूनानी नगर टेरेण्टम के पतन से होता है। विजेता रोमन अपने साथ बहुत से यूनानी कैदी ले आये। इन कैदियों में लिवियस एण्डोनिकस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह बड़ा भारी विद्वान् था। इसने होमर की ओडिसी का लैटिन में अनुवाद किया। यह अनुवाद रोमन बालकों के लिये पाठ्य-पुस्तक के उपयोग में लाया गया। एण्डोनिकस के अतिरिक्त बहुत से यूनानी विद्वान् स्वतः ही रोम में आये। उनके आने का रोमन शिक्षा-प्रणाली पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। यूनान के सदृश अब रोम में भी स्कूली-शिक्षा की प्रथा धीरे-धीरे प्रचलित हो चली। यूनानी अध्यापकों का मान बढ़ने लगा। लिवियस एण्डोनिकस रोमनों का प्रथम बड़ा अध्यापक माना जाता है। धनी रोमनों में यूनानी अध्यापकों को रखने की एक रीति-सी चल पड़ी। अब रोम में विशेषकर तीन प्रकार के स्कूल प्रचलित हो गये। प्राथमिक स्कूलों में पढ़ना और लिखना सिखलाया जाता था। 'ग्रामर' स्कूलों में व्याकरण, साहित्य, भाषण-कला, भाषा, अङ्कगणित, ज्यामित, संगीत, खगोल आदि विषयों

की शिक्षा दी जाती थी। तीसरे प्रकार के स्कूलों में जीवन के विभिन्न कार्यों में निपुणता प्राप्त करने की शिक्षा दी जाती थी। बालकों को वक्ता तथा वकील बनने की शिक्षा भी दी जाती थी। रोमनों ने अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों की एक विस्तृत सूची बना ली थी। इसके बारह भाग थे। यह सूची 'लॉज़ ऑफ़ दी ट्वैल्व टैबुल्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सूची में उनके वैयक्तिक पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा नैतिक सभी अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था पाई जाती है। रोमनों की सदैव यह चेष्टा रही कि उनकी शिक्षा प्रणाली "ट्वैल्व टेबुल्स" के अनुसार ही संचालित हो। यूनानी शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव को देखकर 'कैटो दी एल्डर' ऐसे परम्परावादी रुष्ट गये। वे रोमन चरित्र की मौलिकता की रक्षा करना चाहते थे। इसीलिये उनके प्रभाव से राज्य द्वारा यूनानियों के विरुद्ध कई कड़े नियम बनाये गये। परन्तु उनका कुछ विशेष प्रभाव न पड़ा। यह ध्यान देने की बात है कि यूनानियों का इतना प्रभाव होते हुए भी रोमनों की मौलिकता गई नहीं। उनकी शिक्षा-प्रणाली 'ट्वैल्व टेबुल्स' के अनुसार ही संचालित होती रही।

परन्तु धीरे-धीरे ग्रीक स्कूलों का प्रभाव कम होता गया। उनके स्थान पर लैटिन-ग्रामर और लैटिन-साहित्य एवं अलंकार-शास्त्र के स्कूल खुलने लगे। लैटिन भाषा और साहित्य का विकास होने लगा। विद्वान् जन लैटिन भाषा में आवश्यक पुस्तकों की रचना करने लगे। इसमें वैरो का नाम प्रधान माना जाता है। लैटिन भाषा और साहित्य में अब प्रायः व्याकरण, तर्क-शास्त्र, भाषण-कला एवं अलङ्कार-शास्त्र, ज्यामिति, अङ्कगणित, खगोल, संगीत, औषधि तथा अन्य कलाओं का विकास दिखाई पड़ने लगा। लैटिन व्याकरण की शब्दावली पर विशेष ध्यान दिया गया। संज्ञा, कारक, वचन, लिंग आदि शब्दावलियाँ निर्धारित कर दी गईं। उस समय के प्रायः सभी विद्वानों ने इस कार्य में सहयोग दिया। इनमें वैरो, नीगिडियस, रेमियस, प्रोवर्स तथा क्विन्टीलियन के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन सब के कारण शिक्षा का प्रचार पहले से बहुत हो गया। अब साधारण जनवर्ग की भी शिक्षा में रुचि उत्पन्न हुई। पुस्तकालयों के द्वार उनके लिये भी खुलने लगे। पुस्तकों की संख्या बढ़ाने के लिये दासों से उनकी प्रतिलिपि कराई गई। यह उल्लेखनीय है कि रोमनों ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में यूनानियों के सदृश खेल-कूद और नृत्य को स्थान नहीं दिया। खेल-कूद की गणना सैनिक शिक्षा के सम्बन्ध में की जाती थी। नृत्य का स्थान केवल घरों में था, स्कूलों में नहीं। होमर, वर्जिल और होरेस

की रचनाओं का लैटिन अनुवाद कर पाठ्य-पुस्तकों में अपना लिया गया था। भाषण-कला की योग्यता के लिये ऊँचे स्वर से पढ़ना अच्छा समझा जाता था। कभी-कभी कवियों की रचनाओं का थोड़ा सा अंश मौलिक लेख लिखने के लिए दे दिया जाता था। इस प्रकार लोगों का ध्यान आलङ्कारिक भाषा की ओर बढ़ रहा था। रोमन 'विद्या' का अध्ययन 'विद्या' के लिये नहीं करना चाहते थे। 'विद्या' की जीवन में उपयोगिता उनके लिये प्रधान वस्तु थी। यूनानियों का ध्यान बौद्धिक विकास की ओर विशेष था। परन्तु रोमन भाषण-कला को अपने जीवन के लिये अधिक उपयोगी समझते थे। वे भाषण-वक्ता को दार्शनिक से बड़ा मानते थे, क्योंकि उनके मतानुसार पहले में दूसरे का 'गुण' निहित रहता था। 'ग्रामर' स्कूल से शिक्षा प्राप्त कर लेने पर युवक यदि अपने को सार्वजनिक जीवन के लिये तैयार करना चाहते थे तो उन्हें उच्च साहित्य तथा भाषण-शिक्षणालयों में प्रवेश होना पड़ता था। इस स्कूल में विशेषकर वाद-विवाद में अधिक समय बिताया जाता था। स्कूलों की संख्या इतनी बढ़ गई कि साम्राज्य में कोई ऐसा प्रान्त न था जहाँ कि कम से कम एक 'ग्रामर' स्कूल न हो। परन्तु स्कूलों पर कोई राज्य-नियन्त्रण न था। इसलिये उनके संचालन और संगठन में समानता का कुछ अभाव था। पर सरकार की ओर से स्कूलों को सहायता मिलती रही। म्युनिसिपैलिटियों का इसमें प्रधान हाथ था। अध्यापकों को वेतन दिया जाता था। सरकार उन्हें कुछ करों से मुक्त कर देती थी। बड़े-बड़े आचार्यों का मान सीनेटरों की तरह किया जाता था।

३—क्विन्टीलियन—

क्विन्टीलियन का महत्त्व—

हम देख चुके हैं कि रोमनों का शिक्षा-आदर्श यूनानियों से भिन्न था। शिक्षा और राज्य-हित में वे उनकी तरह सामञ्जस्य का अनुभव कर सके। शिक्षा के आदर्शों तथा विज्ञान और आचार-शास्त्र के सिद्धान्तों की एकता को वे न पहचान सके और न यूनानियों के सदृश् 'नैतिक और सामाजिक जीवन' से शिक्षा की घनिष्ठता ही समझ सके। यही कारण है कि वे शिक्षा-क्षेत्र में यूनानियों की भाँति उत्कृष्ट आदर्श न रख सके। उनमें सेनेका, सिसरो और क्विन्टीलियन सदृश् विचारक अवश्य निकले, परन्तु वे प्लैतो और अरस्तू के समान प्रभावशाली न हो सके। पर शिक्षा की दृष्टि से क्विन्टीलियन का महत्त्व रोमन विचारकों में सबसे अधिक है, क्योंकि उसके जीवन और रचना के अध्य-

यन से हम रोम की उच्च शिक्षा का अनुमान लगा सकते हैं। दूसरे, उसके शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रभाव पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक बहुत रहा है। 'पुनुरुत्थान काल' के बाद पश्चिमी योरोप में तीन शताब्दियों तक 'लैटिन ग्रामर' स्कूलों का ही बोलबाला था। क्विन्टीलियन की रचनायें उनके रूप की स्पष्ट व्याख्या करती है। अतः उस पर कुछ विशेष यहाँ ध्यान देना अनुपयुक्त न होगा। क्विन्टीलियन का जन्म स्पेन में कैलागरिस स्थान पर सन् ३५ ई० के लगभग हुआ था। शिक्षक पैलीमन के नियन्त्रण में रोम में उसने ऊँची शिक्षा पाई थी। उसके जीवन का उद्देश्य भाषणवक्ता (ओरेटर) बनना था। सम्राट पेस्पसियन के काल में वह रोम में वैतनिक शिक्षक नियुक्त किया गया। वह सन् ८८ ई० में शिक्षक का पद छोड़ कर लिखने के कार्य में लग गया। उसकी "इन्स्टीस्यूट्स ऑव ओरेटरी" नामक पुस्तक शिक्षा की दृष्टि से पढ़ने के योग्य है। रोमनों द्वारा दी हुई शिक्षा विषयक यह पहली पुस्तक है। इसमें भाषण-वक्ता के भिन्न-भिन्न गुणों तथा विद्याध्ययन के नियमों का उल्लेख किया गया है। हम कह चुके हैं कि रोमन जीवन में भाषण-वक्ता का प्रधान स्थान था। भाषण-कला में निपुण व्यक्ति विभिन्न सामाजिक अवसरों पर जनता में इच्छित भावनाओं को जगा सकता था। राज्य की नीति-निर्धारण में, युद्ध के अवसर पर, न्यायालयों में तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों को श्रद्धाञ्जलि देने के समय रोम में भाषण का बड़ा महत्त्व था। इसलिये क्विण्टीलियन ने अपनी पुस्तक में इसकी मनोवैज्ञानिक विवेचना की है। वह कहता है कि भाषणवक्ता को चरित्रवान् होना चाहिये। उसे मानव स्वभाव का ज्ञान होना चाहिये, जिससे वह सबकी आवश्यकताओं को समझ सके। यदि उसमें चरित्र-बल नहीं है तो वह लाभ के स्थान पर बड़ी भारी हानि कर सकता है। क्विन्टीलियन कहता है—"भाषण-वक्ता को बुद्धिमान, नैतिकता में शुद्ध.........विज्ञान में निपुण तथा बोलने में चतुर होना चाहिये।"* भाषणवक्ता को यह जानना चाहिए कि शब्दों के उच्चारण का उतार, चढ़ाव तथा भारीपन कब और कैसे करना चाहिये। अंगों के उचित संचालन का उसे ज्ञान होना चाहिये। उसकी प्रणाली ऐसी हो कि मानो शब्द-धारा उसके हृदय से स्वतः ही प्रभावित हो रही है। उसे विभिन्न विषयों का ज्ञान होना चाहिये, जिससे अवसर पर इतिहास तथा राष्ट्र और जीवन के आदर्शों की ओर वह संकेत कर सके।

---

* इन्स्टीस्यूट ऑव ओरेटरी, भाग १, भूमिका, १८

क्विन्टीलियन का शिक्षा-सिद्धान्त—

क्विन्टीलियन शिक्षा के लिये माता-पिता को उत्तरदायी समझता था। पिता को अपने बच्चों की शिक्षा के विषय में बहुत ही सतर्क रहना चाहिये। प्रारम्भिक जीवन में शिक्षा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि बचपन में जो संस्कार आ जाते हैं उनसे मुक्त होना सरल नहीं। क्विन्टीलियन के विचार हमें आधुनिक विचारों का स्मरण कराते हैं। बच्चों की बुद्धि-प्रखरता में उसका विश्वास था, परन्तु उसने बच्चों की शक्तियों का ठीक अनुमान न लगाया, क्योंकि उसके अनुसार बच्चे युवापुरुषों की अपेक्षा शारीरिक परिश्रम अधिक देर तक सह सकते हैं। उसके इस विचार का प्रभाव बड़ा बुरा पड़ा। बच्चों को तोते के समान व्याकरण रटने के लिये वाध्य किया गया। यह प्रथा बहुत दिन तक प्रचलित रही। रूसो ने सब से पहले इस प्रथा के अवगुण की ओर संकेत किया। क्विन्टीलियन ने अध्यापन-कार्य का विश्लेषण भली-भाँति किया है। उसका प्रयोग तत्कालीन अध्यापक के लिये लाभकर सिद्ध हुआ। क्विन्टीलियन का प्रधान उद्देश्य साहित्यिक-शिक्षा था। इसलिये शारीरिक शिक्षा पर वह विशेष बल नहीं देता है। उसके अनुसार बालकों के स्वभाव की पहचान उनके खेलों द्वारा की जा सकती है। यहाँ पर वह हमें फ्रोबेल का ध्यान दिलाता है जिसने हमें यह बतलाया है कि छोटे बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा खेलों द्वारा कैसे दी जा सकती है। क्विन्टीलियन के अनुसार बच्चों को वही खेल खेलाना चाहिये जिससे उनकी बुद्धि का विकास हो। खेल के बहाने बालकों में आलस्य आना उसे पसन्द न था। क्विन्टीलियन पेस्तालॉजी और मॉन्तेसरी के आदर्शों की ओर भी संकेत करता है। उसके समय में रोमन स्कूलों में बच्चों पर बड़ी मार पड़ती थी।
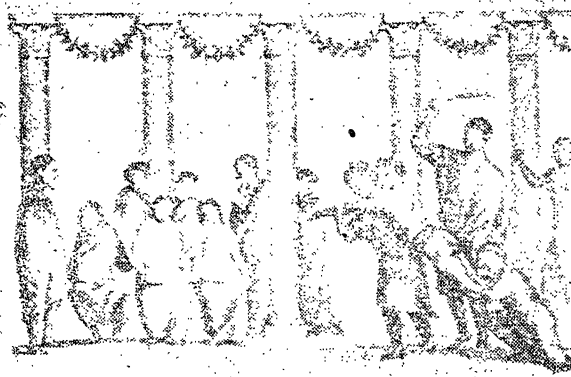
रोमन स्कूल।

अध्यापक का नाम ही बच्चों के लिये 'हउआ' हो गया था। इसका उनके

कोमल सद्वृत्तियों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता था। क्विन्टीलियन ने स्कूलों में शारीरिक दण्ड की कड़े शब्दों में निन्दा की। परन्तु उसका कुछ प्रभाव न हुआ। 'शारीरिक दण्ड' की निन्दा तो अठारहवीं सदी में पेस्टॉलॉज़ी के प्रभाव से ही आरम्भ होती है। क्विन्टीलियन ने यह बतलाया कि शिक्षक को स्नेह व प्रशंसा की सहायता से बच्चों को पढ़ाना चाहिये। स्नेह, प्रशंसा और सहानुभूति ही उनके लिये सबसे बड़ा पुरस्कार है। क्विन्टीलियन शिक्षक के चरित्र पर बहुत बल देता है। शिक्षक का चरित्र ऐसा हो कि बच्चे उसका आदर करें। उसे अपने विषय का पण्डित होना चाहिये। उसे बच्चों की आवश्यकतानुसार अध्यापन का आयोजन करना चाहिये। उसका ढंग रोचक होना चाहिये। उसका स्वभाव रूखा न हो। क्विन्टीलियन कहता है, "बच्चों से रूखे अध्यापक को उतना ही दूर रखना चाहिये जितना कि सूखी मिट्टी को एक कोमल पौधे से। ऐसे अध्यापकों के प्रभाव में वे शुष्क बन जाते हैं।" *

क्विन्टीलियन विभिन्न विषयों की शिक्षा एक साथ ही देने का पक्षपाती है। एक ही प्रकार का विषय बहुत देर तक पढ़ने से जी ऊब जाता है। अतः मनोरंजन तथा मस्तिष्क के विश्राम के लिये विषय का परिवर्तन आवश्यक है। ग्रामर के साथ-साथ ज्यामिति तथा संगीत आदि विषय भी पढ़ाये जा सकते हैं। क्विन्टीलियन 'ग्रामर' के दो भाग करता है—(१) शुद्ध बोलने की कला, और (२) कवियों की व्याख्या करना। इन दोनों भागों में क्रमशः लिखना और पढ़ना निहित है। साहित्यिक आलोचना के सिद्धान्तों की ओर भी क्विन्टीलियन अपनी पुस्तक में संकेत करता है। भावी भाषण-वक्ता के लिये खगोल, दर्शन, ज्यामिति तथा संगीत का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। संगीत की सहायता से वह अपनी वाणी का उतार-चढ़ाव अपने अधिकार में कर सकता है। ज्यामिति के ज्ञान से वह प्रकृति को सरलता से समझ सकता है। उसकी सहायता से अन्ध विश्वासों में उसका मन न बँटेगा। क्विन्टीलियन का विचार था कि भाषण-कला सीखने के पहले प्रायः सभी विषयों का ज्ञान हो जाना आवश्यक है। इसलिये उसने स्मरण-शक्ति पर बहुत बल दिया है। वह भाषण-वक्ता के लिये व्याकरण को बहुत उपयोगी समझता है, क्योंकि इसके अध्ययन से किसी विषय के विभिन्न अंगों के समझने की शक्ति शीघ्र प्राप्त हो जाती है। भाषा का बोध अनुकरण पर बहुत निर्भर है, इसलिये बालकों के सामने अशुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये। छोटे-छोटे बच्चों को खिलौने के साथ खेलते समय अक्षरों तथा शब्दों

---

१ इन्स्टीट्यूट ऑव् ओरेटरी, भाग २, ४, ९,

का ज्ञान कराना चाहिये। जब बालक को पढ़ने और सोखने का ज्ञान भली प्रकार हो जाय तो उसे व्याकरण पढ़ाया जा सकता है। क्विन्टीलियन कहता है कि लैटिन के पहले ग्रीक को पढ़ाना चाहिये क्योंकि मातृभाषा का ज्ञान बच्चे बाद में भी सरलता से प्राप्त कर सकते हैं। ग्रीक को पहले पढ़ाना चाहिये क्योंकि लैटिन की उत्पत्ति ग्रीक से ही हुई है। परन्तु यह ध्यान रहे कि मातृभाषा के प्रति बालक उदासीन न हो जाय। अतः कुछ समय बाद दोनों भाषाओं की शिक्षा समानान्तर चलनी चाहिये। अपनी मातृभाषा के साथ, एक अन्य भाषा के 'अध्ययन का सिद्धान्त' पश्चिमी शिक्षा के लिये क्विन्टीलियन की देन है। रोम में अपने घर पर पढ़ाने की एक प्रथा-सी निकल गई थी। सम्पत्तिवान् पिता अपने बच्चे को स्कूल में भेजना पसन्द न करता था। उसका विश्वास था कि स्कूलों में लड़के गन्दी आदतें सीखते हैं। स्कूल में एक ही अध्यापक बहुत से विद्यार्थियों पर समुचित ध्यान नहीं दे सकता। क्विन्टीलियन ने इस प्रथा का विरोध किया। उसने कहा कि बालकों को स्कूल के सामाजिक जीवन में आना आवश्यक है। बालक गन्दी आदत स्कूलों में नहीं सीखते, वरन् वे उसे अपने घरों पर सीखते हैं। बालक की शिक्षा घर पर भली-भाँति नहीं हो सकती क्योंकि योग्य शिक्षक घर पर आकर पढ़ा देने को सदा सहमत न होंगे। विद्यार्थियों की संख्या अधिक रहती है तो अध्यापक का मन भी पढ़ाने में अधिक लगता है, उसे एक जोश आ जाता है। क्विन्टीलियन ने इस प्रकार स्कूल-शिक्षा की अभ्यर्थना की। उसके इन विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। धनी लोग अपने बच्चों को अधिक संख्या में स्कूलों में भेजने लगे। कहना न होगा कि क्विन्टीलियन के ये विचार आज भी अमर हैं।

क्विन्टीलियन का प्रभाव—

क्विन्टीलियन के विचारों का प्रभाव उसके काल में भी अवश्य पड़ा, परन्तु उसका वास्तविक प्रभाव योरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में मानवतावादी 'मध्यकालीन विद्वद्वाद (मेडिवल स्कॉलस्टिसिज्म) का विरोध कर रहे थे। वे एक दूसरी शिक्षा-प्रणाली की खोज में थे। क्विन्टीलियन के सिद्धान्तों में उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति दिखाई पड़ी। उसके 'इन्स्टीट्यूट्स ऑव ओरेटरी में उन्हें शिक्षा-मनोविज्ञान तथा अध्यापन-प्रणाली के सभी बीज दिखलाई पड़े। क्विन्टीलियन बहुत-से विषयों को साथ ही साथ पढ़ाने का पक्षपाती था। उन्हें यह सिद्धान्त बहुत पसन्द आया। क्विन्टीलियन की पुस्तक से उन्हें यह पता लगा कि प्राचीन काल में लोग साहित्यिक शैली

तथा उच्चारण पर कितना बल देते थे। माध्यमिक युग के स्कूलों में संगीत तथा कविता जैसे कलात्मक विषयों पर कम ध्यान दिया जाता था। हम देख चुके हैं कि क्विन्टीलियन ने इन विषयों की बड़ी प्रशंसा की थी और अपने शिक्षा-विधान में उनको विशेष स्थान दिया था। क्विन्टीलियन के हृदय में मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये पूरा स्थान था।

मानवतावादियों तथा पुनरुत्थान काल की शिक्षा-धारा पर इन सब विचारों का बहुत प्रभाव हुआ। उनकी सारी शिक्षा-प्रणाली क्विन्टीलियन के सिद्धान्तों से प्रभावित दिखाई पड़ती है।

४—रोमन-सभ्यता का ह्रास और नई शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता—

रोमन साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ जाने से नागरिकों की स्वतन्त्रता कम हो गई। रोमनों के चरित्र का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पड़ोस के प्रदेशों में जाकर लूट-पाट मचाना उनके लिये अब बहुत कठिन न था। जब राज्य का रूप बहुत छोटा था तो प्रायः सभी नागरिक राज्य-संचालन में कुछ न कुछ भाग ले सकते थे, परन्तु साम्राज्य का रूप बहुत विस्तृत हो जाने से उनको अब उतनी राजनैतिक सुविधायें प्राप्त न थीं। सरकारी नौकरों तथा साधारण जनता का नैतिक पतन हो चला था। इन परिवर्त्तनों का शिक्षा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। हम कह चुके हैं कि रोमन शिक्षा में साधारण जनवर्ग का ध्यान कम रखा गया था। उससे विशेषकर धनी लोग लाभ उठा सकते थे। यों तो ईसा के पहली शताब्दी से ही रोमन शिक्षा का महत्व घटने लगता है, परन्तु उसका पतन तीसरी और चौथी शताब्दी में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। सामाजिक तथा राजनैतिक आवश्यकताओं के परिवर्त्तन के साथ शिक्षा प्रणाली का भी परिवर्त्तन अनिवार्य था। रोमन शिक्षा अब जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये पहले जैसी उपयोगी सिद्ध नहीं हो रही थी। ईसाई धर्म के प्रचार से लोग नये आदर्शों की खोज में थे। दर्शनशास्त्र के अध्ययन की ओर लोगों का झुकाव हो रहा था। अब भाषण देने की कला का उतना मान न रहा। रोमन शिक्षा की अवास्तविकता की पोल खुल गई। लोगों का विश्वास हो गया कि उसमें पलकर कोई उच्च आदर्शवाला नहीं हो सकता। इस समय 'चर्च' के तत्वावधान में एक नई शिक्षा का निर्माण किया जा रहा था। लोगों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। यह नई शिक्षा-प्रणाली रोमन शिक्षा के स्थान पर प्रतिष्ठित हुई। अगले अध्याय में हम इसी का अध्ययन करेंगे।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

रोमन शिक्षा

१—रोमन जीवन व शिक्षा के आदर्श तथा उद्देश्य—

रोमन का ध्यान तात्कालिक उपयोगिता पर अपने विचारों को कार्यान्वित करना, अधिकार और कर्तव्य को प्रमुख स्थान, उनके संतुलन में ही 'राज्य-न्याय' का स्थान।

२—रोमन शिक्षा की रूप रेखा—

१—शिक्षा का कौटुम्बिक रूप, स्कूलों द्वारा केवल प्राथमिक शिक्षा। २—जागृति का युग, यूनानियों का प्रभाव। ३—लैटिन साहित्य का स्वर्णयुग, ग्रामर स्कूलों का सुसंगठित रूप, औषधियों और राज्य-नियम में उच्च शिक्षा। ४—शिक्षा पर राज्य नियन्त्रण बढ़ा, कौटुम्बिक रूप समाप्त, अध्यापकों को म्युनिसिपिल सहायता, ५—कड़ा राज्य-नियन्त्रण, पाठ्य-पुस्तकों की रचना।

पहले शिक्षा में कुटुम्ब का प्राधान्य, बालक सम्मान का पात्र, छोटे बच्चों के पोषण और शिक्षा का भार माता पर, भावी जीवन की सारी नींव बचपन ही में; पिता का स्थान कम महत्व का नहीं, दैनिक कार्यों में शिक्षा देने के लिये पुत्र को अपने साथ रखना; बालकों को प्रधानतः इतिहास, न्यायालय और सीनेट की कार्यविधि व युद्ध-कौशल आदि में शिक्षा; बालिकाओं की शिक्षा का भार पूर्णतः माताओं पर, कुशल माता बनने की उन्हें शिक्षा, मरे हुये प्रसिद्ध रोमनों के उच्च कार्यों की व्याख्या से रोम के इतिहास तथा आदर्श में रुचि का उत्पन्न किया जाना; राज्य-कार्य, उच्च सैनिक तथा भाषण-कला में शिक्षा उनके विशेषज्ञों द्वारा।

स्कूल प्रथा का प्रारम्भ, यूनानी नगर टेरेन्टम के पतन से बहुत से यूनानी विद्वानों का आगमन, एण्डोनिकस, 'ओडिसी' का लैटिन अनुवाद, रोमन शिक्षा-प्रणाली पर यूनानियों का प्रभाव; पढ़ना, लिखना, विभिन्न विषयों की शिक्षा; 'लॉज़ आव् दी ट्वैल्व टेबुल्स' के अनुसार रोमन शिक्षा का संचालन।

"लैटिन ग्रामर" स्कूलों की स्थापना, लैटिन भाषा और साहित्य का विकास, आवश्यक पुस्तकों का लैटिन अनुवाद, व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का निर्माण, साधारण जन वर्ग की शिक्षा में रुचि, शिक्षा में खेल-कूद और नृत्य को स्थान नहीं, भाषण की योग्यता आवश्यक, विद्याध्ययन जीवन की उपयोगिता के लिये, स्कूलों पर राज्य नियन्त्रण नहीं, सरकार और म्युनिसिपैलिटी द्वारा सहायता।

३—क्विन्टीलियन—

क्विन्टीलियन का महत्व—

"इन्स्टीट्यूट ऑव् ओरेटरी",–भाषण-कला की योग्यता रोमन-जीवन में आवश्यक, क्विन्टीलियन ने भाषण-कला की व्याख्या की है, भाषण वक्ता को मानव स्वभाव तथा विभिन्न विषयों का ज्ञान, सुन्दर चरित्र आवश्यक, बोलने में चतुरता तथा उचित अंग संचालन।

क्विन्टीलियन का शिक्षा-सिद्धान्त—

माता-पिता का उत्तरदायित्व, प्रारम्भिक बचपन का महत्त्व, बच्चों की शक्तियों का उसे ठीक अनुमान नहीं, अध्यापन-कार्य का भली-भाँति विश्लेषण, शारीरिक शिक्षा की ओर उसकी दृष्टि कम, बालकों के स्वभाव की पहचान उसके खेलों द्वारा, फ्रोबेल, पेस्ता-लॉज़ी तथा मॉन्तेसरी सिद्धान्तों की ओर संकेत; शारीरिक दण्ड के विरुद्ध, शिक्षा में स्नेह, प्रशंसा और सहानुभूति; अध्यापन की प्रणाली रोचक, अध्यापक रूखे स्वभाव का न हो।

विभिन्न विषयों की शिक्षा एक साथ ही; भावी भाषण-वक्ता के लिये, खगोल, दर्शन ज्यामिति तथा संगीत आदि का ज्ञान आवश्यक; भाषण-वक्ता के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक, बच्चों को वर्ण-ज्ञान खेलते समय, लैटिन के पहले ग्रीक को पढ़ाना चाहिये, घर की शिक्षा की अपेक्षा स्कूल की शिक्षा अधिक लाभदायक।

क्विन्टीलियन का प्रभाव—

पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक।

४—रोम सभ्यता का ह्रास और नई प्रणाली की आवश्यकता—

सामाजिक तथा राजनैतिक आवश्यकताओं में परिवर्त्तन; रोमन शिक्षा जीवन के लिये अब कम उपयोगी, ईसाई धर्म का प्रचार, नए आदर्श की खोज, चर्च के तत्वावधान में नई शिक्षा-प्रणाली।

सहायक ग्रन्थ

१—ग्विन, ऑब्रे—रोमन एड्डकेशन फ्रॉम सिसरो टू क्विन्टीलियन,' कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १६२६।

२—लॉरी, एस० एस—हिस्टॉरिकल सर्वे ऑव् प्री-क्रिस्चियन एड्डकेशन, न्यूयॉर्क, लाँङ्गमैन्स, १६२४।

३—मनरो, पॉल—'सोर्स बुक इन द हिस्ट्री ऑव् एड्डकैशन फ़ॉर द ग्रीक एण्ड रोमन पीरियड, न्यूयॉर्क : दी मैकमिलन क०, १६७१।

४—क्लार्क—'दी ऐड्डकेशन ऑव् चिल्ड्रेन, न्यूयार्क, १८६६।

५—क्विन्टीलियन—'इन्स्टीट्यूटस ऑव् ओरेटरी' (एच० एच० हॉर्म द्वारा), न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी बुक स्टोर, १६३६।

६—विल्किन्स, ए० एस०—'रोमन एड्डकेशन'—कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १६३१।

७—सैण्डीज़, जे० ई०—'ए हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल स्कॉलरशिप'—तीसरा संस्करण, कैम्ब्रिज यू० प्रे०, १६२१।

८—मनरो—'टेक्स्ट-बुक इन द हिस्ट्री ऑव् एड्डकेशन', अध्याय ४।

९—एबी ऐण्ड एरोउड—'दी हिस्ट्री ऐण्ड फ़िलॉसोफ़ी ऑव् एडूकेशन ऐन-शियण्ट ऐण्ड मेडिवल', अध्याय १२।
१०—ग्रेव्ज़ एरोउड—'ए स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय ३।
११—ग्रेव्ज़—'बिफ़ोर द मिडिल एजेज़' (मैकमिलन), अध्याय १३।
१२—कबरली—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय ३।
१३—कबरली—'रीडिंग्ज़..............अध्याय ३।

४

मध्य युग

क—प्राचीन चर्च

१—ईसाई धर्म के प्रचार से नई जागृति और शिक्षा में नया दृष्टिकोण—

ईसाई धर्म के प्रचार से योरोपीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक नई जागृति आई। ईसाई धर्म ने नैतिकता के उच्च आदर्श को ही नहीं माना, वरन् व्यक्तित्व और समाज के पूरे संगठन को भी फिर से निर्मित किया। विश्वास, आशा और प्रेम की लहर चारों ओर फैल गई। भ्रातृत्व और समानता में पहिले से अधिक लोगों का विश्वास हो चला। हृदय, बुद्धि और इच्छा में सामञ्जस्य की प्राप्ति में सबका विश्वास जमने लगा। पहिले नैतिकता का आधार राज्य अथवा जातीयता की रक्षा थी। 'राज्य'-भक्ति ही प्रत्येक नागरिक का आदर्श था। पर यहूदियों और यूनानी राज्यों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का लोप हो जाने पर 'देश भक्ति' नैतिकता का 'आधार' न रह सकी। फलतः लोगों में व्यक्तिवाद की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। यह भावना ही प्राचीन सभ्यता के पतन का प्रधान कारण है। 'क्राइस्ट' ने इस भावना की जगह सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाया और जीवन का नया आदर्श उपस्थित किया। जीवन-आदर्श के परिवर्त्तन के साथ शिक्षा के रूप का बदलना भी स्वाभाविक ही था। यूनानी दार्शनिकों के अनुसार बौद्धिक विकास ही शिक्षा का उद्देश्य था। यूनानियों और रोमनों के लिये धर्म एक राजनैतिक विषय था। व्यक्तिगत नैतिकता से उसका बहुत कम सम्बन्ध था। ईसाई धर्म के प्रचार से ये विचार बदलने लगे। जीवन में नैतिकता को प्रधान स्थान दिया गया। धर्म राजनीति क्षेत्र से अलग होकर व्यक्तिगत हो गया। शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास से बदल कर नैतिक विकास हो गया। सारी सामाजिक कुरीतियों को शिक्षा के प्रभाव द्वारा दूर करने का निश्चय किया गया।

प्रारम्भ में चर्च की संरक्षता में स्कूल नहीं थे। चर्च के अभिभावकों का विश्वास था कि 'क्राइस्ट' शीघ्र ही मनुष्यरूप में अवतार लेंगे इसलिये किसी प्रकार की शिक्षा व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उस समय ईसाई धर्मावलम्बियों में

ज्ञान प्राप्त करने की विशेष इच्छा न थी क्योंकि वे छोटे वर्ग से आये थे और उनमें शिक्षा का विशेष प्रचार न था। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ से ईसाई धर्म राज्य-धर्म मान लिया गया। फलतः ईसाई धर्मावलम्बियों की संख्या बढ़ गई। उस समय भी बहुदेववादियों (पेगन) के स्कूल सुव्यवस्थितरूप से चल रहे थे। परन्तु ईसाइयों के लिये शिक्षा की व्यवस्था ठीक से नहीं हो पाई थी। कुछ लोग पेगन स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने के पक्षपाती थे। उन्हें उनमें बहुत-से गुण दिखलाई पड़ते थे पर कुछ दूसरों को उनसे अरुचि थी। उनकी दृष्टि में उनमें धार्मिक कुसंस्कारों का समावेश था। बच्चों को पुरानी कथायें पढ़ाई जाती थीं। ईश्वर के बदले विभिन्न देवताओं में विश्वास उत्पन्न किया जाता था। इसलिये उनमें बच्चों को भेजना वे अपने धर्म के विरुद्ध समझते थे। 'क्राइस्ट' ने बच्चों के प्रति प्रेम और सहानुभूति का सन्देश दिया था। उनमें उसने 'ईश्वर का वास' (किङ्गडम ऑव् हेवेन) पहचाना था। अतः बच्चों में लोगों की स्वाभाविक सहानुभूति हो चली थी। माता-पिता उनकी शिक्षा के लिये अपने को विशेषरूप से उत्तरदायी समझने लगे। घर पर प्रारम्भ में धार्मिक शिक्षा बड़ी निष्ठा से दी जाने लगी। ऑगस्टाइन और ग्रेगरी को प्रारम्भिक शिक्षा घर पर बड़े सुचारुरूप से दी गई थी। क्रिसोस्टम (३४७-४०७) ने अपने लेख में माता-पिता के शिक्षा-सम्बन्धी कर्त्तव्यों का उल्लेख बड़े सुन्दर ढंग से किया है। शिक्षा के विषय में दृष्टि, श्रवण, घ्राण और स्पर्श के महत्त्व को उसने भली-भाँति समझाया है। काम-सम्बन्धी (सेक्स) शिक्षा पर उसने एक ऐसा सुन्दर लेख लिखा कि उसका अब भी बड़ा आदर है। यह ध्यान देने की बात है कि प्रारम्भ में अध्यापन-कार्य किसी वर्ग विशेष का ही कर्त्तव्य नहीं समझा जाता था। वास्तव में पढ़ाने का कर्त्तव्य तो चर्च के सभी पदाधिकारियों का समझा जाता था। प्रवर्तक (एपॉस्टिल्स), पैग़म्बर (प्राफेस्ट्स) तथा पादरी (विश्प्स) आदि सभी अध्यापन करना अपना कर्तव्य समझते थे। ईसाई धर्म के प्रचार में अध्यापन का उतना ही हाथ था जितना कि धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या (प्रिचिङ्ग) का। 'क्राइस्ट' स्वयं ही एक बड़े अध्यापक थे। अध्यापन-कला में कभी-कभी सुकरात से उनकी तुलना की जाती है।

२—कैटेक्यूमेनल स्कूल (ईसाई धर्म और नैतिक सिद्धान्त-सम्बन्धी शिक्षालय)—

यहूदियों को ईसाई बनाने में पादरियों को सरलता होती थी, क्योंकि उनका मानसिक विकास पहले से ही इतना रहता था कि नये धर्म के सिद्धान्तों को वे शीघ्र समझ लेते थे। परन्तु दूसरों (पेगन्स) के सम्बन्ध में ऐसी बात न

थी। वे धर्म के सिद्धान्तों को नहीं समझ पाते थे। ईसाई हो जाने पर भी वे अपने नीच कार्यों में लगे रहते थे। यह गड़बड़ पादरियों को खटकने लगी। इसलिए उन्हें ईसाई बनाने के पहले दो-एक साल या कुछ महीनों तक उनके लिये कुछ शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक जान पड़ी। इस शिक्षा में केवल धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों का समावेश रहता था। इसके लिये अच्छे चरित्रवाला कोई भी ईसाई योग्य समझा जाता था। इस प्रकार जहाँ शिक्षा दी जाती थी उसे "कैटेक्यूमेनल स्कूल" कहते थे। शिक्षार्थी "कैटेक्यूमेन्स" कहे जाते थे। ऐसे स्कूलों की व्यवस्था दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ होकर पाँचवीं शताब्दी तक खूब चलती रही। परन्तु नवीं शताब्दी के बाद ये एकदम बन्द कर दिये गये, क्योंकि तब तक लोगों का ईसाई धर्म से परिचय हो चला था। इसके अतिरिक्त अब छोटे-छोटे बच्चे भी ईसाई बनाये जा रहे थे।

३—कैटेकेटिकल स्कूल (प्रश्नोत्तर शिक्षालय)—

यूनानी सभ्यता तथा विचार-प्रथा के माननेवालों से ईसाइयों का बहुधा वाद-विवाद हुआ करता था। धीरे-धीरे पादरी यह समझने लगे कि अपनी स्थिति दृढ़ करनी चाहिये। इसके लिये उन्होंने यूनानी विचारों के निचोड़ का समावेश अपने धर्म-सिद्धान्तों में करना चाहा। हम कह चुके हैं कि दूसरी शताब्दी का अन्त होते-होते यह विश्वास जाता रहा कि 'क्राइस्ट' फिर अवतार लेंगे। इसके अतिरिक्त अब ईसाई धर्म को ऊँचे वर्ग वाले भी अपनाने लगे थे। इन सब कारणों से यूनानी सभ्यता के उच्च आदर्शों तथा ईसाई धर्म के सिद्धान्तों में कुछ समझौता होने लगा। उस समय के बड़े-बड़े ईसाई विद्वान इस समझौते के बड़े इच्छुक थे। इस सम्बन्ध में दूसरी शताब्दी के जस्टिन मारटर तथा थ्योडॉटस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। थ्योडॉटस ने अरस्तू के तर्क पर ईसाई धर्म-सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। सिकन्दरिया उस समय का बड़ा भारी विद्या केन्द्र था। वहाँ प्रायः सभी मतावलम्बियों का जमघट था। एक दूसरे के मत का कड़ाई के साथ खण्डन किया जाता था। ऐसे वातावरण में 'कैटेक्यूमेन्स' शंका-समाधान के लिये भाँति-भाँति के प्रश्न पूछा करते थे। इनकी आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये ईसाई धर्म तथा अन्य धर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा कुछ नवयुवकों को देनी आवश्यक जान पड़ी, जिससे वे योग्य होकर दूसरों की शंका समाधान कर सकें। ऐसे युवकों को शिक्षा देनेवाले स्कूल 'कैटेकेटिकल स्कूल' के नाम से प्रसिद्ध हुये। ऐसे स्कूल धीरे-धीरे पश्चिमी योरोप

में चारों ओर स्थापित हो गये। क्लीमेण्ट और ऑरिजेन ऐसी शिक्षा देने में बहुत ही योग्य निकले। 'कैटेकेटिकल स्कूलों' की स्थापना विशेषकर प्रचार के लिये ही की गई। इनके लिये कोई अलग भवन न होने से अध्यापक के घर पर शिक्षा दी जाती थी। स्त्री और पुरुष दोनों इस शिक्षा के अधिकारी माने जाते थे। यहाँ पर प्रायः तर्कशास्त्र, भौतिकशास्त्र, ज्यामिति, खगोल तथा दर्शन-शास्त्र आदि विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा विश्वविद्यालयों के ढंग पर दी जाती थी। प्रारम्भिक विषयों की भी शिक्षा सहायक अध्यापकों द्वारा दी जाती थी। * एपीक्यूरिन मत को छोड़ सभी प्रकार के यूनानी मतों की गोपनीय चर्चा यहाँ की जाती थी। 'कैटेकेटिकल' स्कूलों की देन शिक्षा में उतनी नहीं है जितनी कि ईसाई धर्मशास्त्र के विस्तृत व्याख्या करने में। क्लीमेण्ट और ऑरिजेन की धर्म-सम्बन्धी रचनाएँ तर्क की कसौटी पर भली-भाँति कसी जा सकती हैं। इस क्षेत्र में उनका यह पहला प्रयत्न था। यद्यपि ये स्कूल बहुत दिन तक स्थायी नहीं रह सके परन्तु इनका कार्य सदा के लिये स्थायी है। उस काल की सिकन्दरिया विश्वविद्यालय की कोटि में कुछ अंश तक इनकी गणना की जा सकती है।

४—एपिसकोपल ऐण्ड कैथेड्रल स्कूल्स—

धीरे-धीरे पादरियों के लिये चर्च के पास ही रहने की प्रथा चल पड़ी। दस-बारह पादरी साथ ही रहते थे। ये छोटे-छोटे बच्चों को अपनी संरक्षता में पादरी बनने के लिये शिक्षा देने लगे। माताएँ भी अपने बच्चे देने में हिच-कती न थीं। वे उसे अपनी धर्म-प्रथा के अनुसार पवित्र मानती थीं। ऐसे बच्चे पढ़ने, लिखने, संगीत तथा धर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा पाते थे। पादरियों का निवास स्थान इस प्रकार स्कूल बन गया। ऐसे स्कूल "एपिसकोपल ऐण्ड कैथेड्रल स्कूल्स" के नाम से प्रसिद्ध हुए। पाठ्यक्रम में संगीत का समावेश एक नई बात थी। इसका प्रभाव अच्छा न हुआ, क्योंकि इसके कारण पादरियों का व्यवहार बाह्याडम्बर लेकर होने लगा। फलतः 'ग्रेगरी दी ग्रेट' ने ५६५ ई० में 'चर्च सर्विस' (प्रार्थना) के समय संगीत प्रयोग के विरुद्ध एक नियम पास किया।

५—स्त्री शिक्षा—

अब हम यह देखेंगे कि ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल में स्त्री-शिक्षा की

* एपिक्यूरियन मत अर्थात् 'मस्तीवाद' का प्रवर्तक एपिक्यूरस (३०० ई० पू०) था। इसका तात्पर्य 'खाओ, पीओ और मौज करो' से है।

क्या अवस्था थी। अब ईसाई समाज में स्त्रियों को उचित स्थान दिया गया है। पर प्रारम्भ में ऐसी बात नहीं थी। स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी सेण्ट जेरोम के विचार माध्यमिक युग तक प्रचलित रहे। स्त्रियों को पारिवारिक कार्य में निपुण बनाने की ओर ध्यान देना आवश्यक समझा जाता था। स्त्रियों को विचार-स्वातन्त्र्य नहीं था। वे अकेले इधर-उधर जा भी नहीं सकती थीं। साहित्य के क्षेत्र में धर्म-पुस्तकों का अध्ययन उनके लिये प्रधान था। नवयुवकों के साथ मिलना-जुलना उन्हें मना था। उन्हें प्रतिदिन एक या दो भजन याद करने को कहा जाता था। संगीत अथवा थियेटर में स्वेच्छानुसार भाग लेना उन्हें मना था। उन्हें नित्य स्नान करने की भी स्वतन्त्रता न थी। परन्तु स्नान करने पर बन्धन कदाचित् इसलिये लगाया गया था कि सार्वजनिक स्नान-स्थानों पर वे स्नान करने न आया करें।

इस प्रकार हम छठी शताब्दी तक चर्च के प्रभाव में शिक्षा का रूप देखते हैं। शिक्षा का ध्येय इस काल में व्यक्ति की विभिन्न शक्तियों का विकास न रहा। शिक्षा का क्षेत्र केवल आत्मा की शुद्धि के लिये धार्मिक सिद्धान्तों तथा विधानों तक ही सीमित रहा। पर सातवीं सदी के प्रारम्भ से हम शिक्षा में उदार-विषयों का भी समावेश पाते हैं।

ख—मठीय शिक्षा का प्रारम्भ

१—नये ईसाइयों को कष्ट और नये जीवन-आदर्श की उत्पत्ति—

प्रारम्भ में जब ईसाई धर्म राज्य-धर्म नहीं माना जाता था तब इस धर्म के स्वीकार करने वालों को अनेक कष्ट दिये जाते थे। इसलिये डरपोक प्रकृति के लोग ईसाई धर्म स्वीकार करते ही न थे। ईसाइयों की गर्दन पर सदैव नग्न तलवार लटकती रहती थी। ६४ ई० से ३११ ई० तक तो इन्हें विशेष कष्ट भोगना पड़ा। धीरे-धीरे इनमें कष्ट सहने की आदत-सी पड़ गई। कष्ट से डरना इनके लिये अपने धर्म पर आक्षेप लगाना था। वीर सिपाहियों की भाँति कष्ट सहने के लिये ये सदा तैयार रहने लगे। कष्ट सहने की सामर्थ्य आत्म-त्याग से ही आ सकती थी। इसलिये ईसाई धर्म-सम्बन्धी सभी प्रारम्भिक रचनाओं में हम आत्म-त्याग का गुण-गान पाते हैं। धर्म के नाम पर प्राण उत्सर्ग कर देना जीवन का आदर्श बन गया। इस आदर्श की प्राप्ति के लिये शरीर और मन दोनों पर संयम आवश्यक था। बड़े बड़े धार्मिक संयम की प्राप्ति के लिये लोग शरीर को अपने आप कष्ट देने लगे। ऐसी तपस्या के उदाहरण हमें ईसाइयों के बहुत

पहले प्राचीन यूनानी पिथागोरियन तथा यहूदी एसीन्स में अनेक मिलते हैं। सिनिसिज़म् तथा निओप्लैटोनिज़म् के अनुसार चलनेवालों को सांसारिक सुख से अरुचि थी। वे सारे संसारिक बन्धन से अपना गला छुड़ाना चाहते थे। २५० ई० तक ऐसे बहुत से स्त्री-पुरुष हुए, जो आध्यात्मिक विकास के लिये अपनी सारी सम्पत्ति दान दे, आजीवन अविवाहित रह उपवासादि से अपने ऊपर विजय पाना चाहते थे। डेसियन के अत्याचार-काल में बहुत से ईसाई सिरिया और उत्तरी अफ्रीका के रेगिस्तान में जाकर वैरागी जीवन व्यतीत करने लगे। 'पॉल दी हरमिट' और सेण्ट ऐन्थॉनी के प्रभाव में बहुत-से लोग योगी बन गए। तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ में धार्मिक-मनुष्यों की अलग-अलग टोलियाँ बना दी गईं। इस प्रकार 'ईसाई मठवाद' (क्रिश्चियन मॉनास्टिसिज़म्) का जन्म हुआ। सेण्ट ऐन्थॉनी और सेण्ट पकोमियस का इसमें विशेष हाथ था। धीरे-धीरे चारों ओर मठ स्थापित किये जाने लगे और 'मठवाद' ('मॉनस्टिसिज़म') की लहर मिश्र, इटली, यूनान तथा उत्तर-पश्चिम योरोप में फैलने लगी। साधारण जनवर्ग में भी धार्मिक भावना दृढ़ होने लगी। आध्यात्मिक विकास के लिये जो अपने शरीर को जितना कष्ट दे सकता था उसका समाज में उतना ही मान किया जाता था। शरीर को भाँति-भाँति के कष्ट देनेवाले ईसाई 'साधु' कहे जाने लगे। इन सन्तों के यम-नियम का लोगों के चरित्र-विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन सन्तों के रहने के लिये स्थान-स्थान पर मठ स्थापित हो गए। फलतः बहुत से सन्त समूह बनाकर एक स्थान पर रहने लगे।

२—मठीय शिक्षा के नियम—

इन समूहों के अपने अलग-अलग नियम थे। परन्तु सेण्ट बेनडिक्ट के प्रभाव से बाद में सब नियम एक ही में मिल गये। सेण्ट बेनडिक्ट केवल शरीर को कष्ट देने में ही विश्वास नहीं करता था। उसने मठवाद (मॉनस्टिसिज़म्) को शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का साधन समझा। उसके इन सिद्धान्तों का छठी से तेरहवीं शताब्दी तक विभिन्न कलाओं के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। सेण्ट बेनडिक्ट का जन्म सन् ४८० ई० में हुआ था। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा रोम में हुई थी। समाज की कुरीतियों से दुःखी होकर उसने योगी का जीवन बिताना निश्चय किया था। उसके बहुत से शिष्य हो गये। ५२० ई० में उसने मॉन्टि कैशिनो (नेपुल्स के पास) में एक मठ स्थापित किया जो कि शताब्दियों तक पश्चिमी योरोप का सबसे

बड़ा धार्मिक केन्द्र रहा। वह ५४६ ई० अर्थात् अपने मृत्यु पर्यन्त तक इसका नियन्त्रण करता रहा। सेण्ट बेनडिक्ट मठ को ईश्वर-सेवा का स्थान समझता था। उसने मठ में रहनेवाले मॉङ्क्स (साधुओं) के लिये ऐसे नियम बनाये जो प्रायः सभी मठों के लिये आदर्शरूप हो गए। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्त्तन अवश्य किए गये, परन्तु उनका प्रधान भाव एक ही था। पोप ने भी इन नियमों के लिये अपनी स्वीकृत दे दी। बेनडिक्ट के अनुसार, किसी मॉङ्क के लिये विनम्रता बड़ा भारी गुण था। मॉङ्क का प्रत्येक काम नियम से हो, वे भोगविलास से दूर रहे, अपनी जीविका के लिये वे स्वयं प्रतिदिन कुछ काम करें, जिससे उन्हें दर-दर घूमना न पड़े। अपने धार्मिक गुरु की आज्ञा पालन प्रत्येक का धर्म है। उन्हें दानशील, शुद्ध तथा निस्पृह होना चाहिये। सांसारिक वस्तुओं से ममता करना उनके आदर्श के विरुद्ध है। गुणी मॉङ्क्स को अपनी योग्यता का उपयोग समाज हित के लिये आवश्यक था। उन्हें प्रतिदिन कुछ न कुछ काम करना पड़ता था। अपनी कला को दूसरों को सिखलाना भी उनका कर्त्तव्य था। कम से कम दो से पाँच घण्टे तक पढ़ना हरएक मॉङ्क के लिए आवश्यक था। उसे छः या सात घण्टे नित्य काम करना पड़ता था। मॉङ्क के जीवन में शारीरिक परिश्रम के समावेश का बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। शिक्षा में शारीरिक परिश्रम का महत्त्व इस तरह से पहली बार स्वीकार किया गया। शारीरिक परिश्रम अनिवार्य कर देने से मठ-जीवन के बहुत से दुर्गुण दूर हो गए। मठों में अब आलस्य और व्यर्थ की बातचीत करने का समय न रहा। बेनडिक्ट की पद्धति से कृषि, व्यापार तथा विभिन्न कलाओं के विकास में बड़ा प्रोत्साहन मिला। विद्याध्ययन तथा धर्म की उन्नति भी इसके कारण अधिक हुई। लकड़ी, चमड़े तथा कपड़े की विभिन्न हस्तकलाओं का प्रारम्भ मठों में किया गया। मठ-जीवन स्थायी रूप से बहुत दिनों तक चलता रहा। राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्त्तनों का उनकी प्रथा पर विशेष प्रभाव न पड़ा। मठों के आदर्शों का समाज पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। आज्ञा-पालन, यम-नियम का पालन तथा दानशीलता मठ के वैरागियों का आदर्श था। रोमनों के व्यक्तिवाद के लिये इनके अनुशासन का आदर्श खरा उतरा था। उस समय की सारी शिक्षा-व्यवस्था पर इनके आदर्शों की पूरी छाप थी। इतना ही नहीं, वरन् भावी धर्म-युद्ध में भी इन्हीं आदर्शों की प्रेरणा दिखलाई पड़ती है।

३—मठीय शिक्षा के उद्देश्य—

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि 'मठवाद' (मॉनस्टिसिजम्) का

प्रधान उद्देश्य शिक्षा का प्रसार नहीं था। उसकी प्रगति तो नैतिक और आध्यात्मिक विकास की ओर थी परन्तु शिक्षा-क्षेत्र में भी उसका एक स्थान था, क्योंकि उस समय मठों के अतिरिक्त और कहीं शिक्षा की सुव्यवस्था न थी। मॉङ्क ही अध्यापन का कार्य भी करते थे। शिक्षा-संचालन का कार्य उन्हीं के हाथ में आ गया। प्रायः तेरहवीं शताब्दी तक शिक्षा पर राज्य का विशेष नियन्त्रण न रहा। फलतः शिक्षा-नीति निर्धारित करने में चर्च शताब्दियों तक स्वतन्त्र रही। मठों की साहित्यिक शिक्षा नीति पर सेण्ट ऑगस्टाइन (३५४–४३०) और सेण्ट जेरोम के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसलिये उनके विचारों पर दृष्टिपात कर लेना अच्छा होगा। सेण्ट ऑगस्टाइन उच्च विद्याध्ययन का पक्षपाती न था। वह विशेषकर धर्मशास्त्र और जीवनोपयोगी कलाओं में शिक्षा देने का पक्षपाती था। वह गणित, खगोल तथा दूसरे उच्च-श्रेणी के विज्ञान को शिक्षा में प्रधान स्थान नहीं देना चाहता था। बालक के स्वभाव में उसका विश्वास न था। इसलिये चरित्र निर्माण के लिये शारीरिक दण्ड-विधान की व्यवस्था उसे लाभप्रद प्रतीत हुई। विद्याभिमान से वह घृणा करता था। इसलिये उच्च शिक्षा वह नहीं देना चाहता था। रोमन साम्राज्य-वाद के प्रसार से लोगों का नैतिक पतन हो चला। इसलिए ऑगस्टाइन के इस कठोर नियन्त्रण का नैतिक-चरित्र के विकास में योग देना स्वाभाविक था। इसके फलस्वरूप उत्तर-माध्यमिक युग में सभी प्रकार की ललित कलाओं तथा विद्या की उन्नति के लिये वातावरण तैयार हो गया। हम देख चुके हैं कि सेण्ट जेरोम स्त्रियों की स्वतन्त्रता का कितना विपक्षी था, उसके विचारों का माध्यमिक युग की शिक्षा-नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। स्त्री-शिक्षा की नीति तो उसी के सिद्धान्तों द्वारा निर्धारित की गई। सेण्ट जेरोम के पत्र तथा बाइबिल के उसके लैटिन अनुवाद (दी वलगेट) से शिक्षा-क्षेत्र में चौदहवीं शताब्दी तक प्रोत्साहन मिलता रहा।

४—मध्य युग के शिक्षा-सम्बन्धी कुछ प्रधान लेखक—

यहाँ पर पूर्व माध्यमिक युग की शिक्षा-सम्बन्धी कुछ प्रधान रचनाओं पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि इनका उस समय की शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पाँचवीं शताब्दी में 'मारटियनस कैपेला' ने (४१०–४२७ ई०) के बीच "मैरेज ऑव् फायलालॉजी एण्ड मरकरी" नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें गणित, संगीत तथा खगोल आदि विषयों का पाण्डित्यपूर्ण उल्लेख किया गया है। मठीय युग में यह पाठ्य-पुस्तक के रूप में आदर्श मानी जाती

थी। बोथियस (४८०–५२४) की संगीत और अंकगणित-सम्बन्धी पुस्तकें पाठ्य-पुस्तक के उपयोग में आईं। उसकी संगीत की पुस्तक तो सत्रहवीं शताब्दी तक कैम्ब्रिज और ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में चलती रही। उसकी 'कनसोलेशन ऑव् फ़िलॉसोफ़ी' नामक पुस्तक का विशेष आदर किया गया। प्राचीन दार्शनिकों के विचारों का इसमें मार्मिक ढङ्ग से विवेचन किया गया है। बोथियस ईसाई नहीं था, तथापि चर्च ने उसकी रचनाओं को अपनी परम्परा के अनुकूल मान लिया। इस प्रकार उसने 'प्राचीन विद्या' के प्रकाश को चर्च के वातावरण में फैलाया। कैशिओडोरस [४६०–५८५] को साहित्य से प्रेम था उसने वैरागियों का ध्यान प्राचीन साहित्य की ओर आकर्षित किया। उसने मठों के पूरे साहित्यिक कार्यों का पुनर्संगठन किया। इस प्रकार उच्च विद्या की माध्यमिक युग में उसने बड़ी उन्नति की। उसका यह विचार था कि प्रत्येक साधु को साहित्य में रुचि रखनी चाहिये और जिनकी इसमें रुचि न हो उन्हें कृषि में लग जाना चाहिये। कैशिओडोरस ने 'सात उदार कलाओं' का बड़े ही साहित्यिक रूप में वर्णन किया है। उन्हें वह 'ज्ञान के सात स्तम्भ' मानता है। माध्यमिक युग की शिक्षा-नीति पर इन 'सात उदार कलाओं' का बहुत प्रभाव पड़ा। हम अब इन्हीं का विवरण करेंगे क्योंकि बिना उनका परिचय प्राप्त किये मध्यकालीन शिक्षा के महत्त्व को समझना कठिन है।

सात उदार कलाएँ—

'सात उदार कलाओं' के अन्तर्गत व्याकरण, भाषण-कला व तर्क-विद्या अंकगणित, रेखागणित, खगोल-विद्या तथा संगीत की गणना की जाती थी। माध्यमिक युग में विशेषकर इन्हीं विषयों में शिक्षा दी जाती थी। आठवीं शताब्दी से मठों की शिक्षा-पद्धति में इन विषयों का समावेश हो चला था। किन्तु मठीय युग में विशेष ध्यान धर्मशास्त्र तथा उपयोगी कलाओं पर दिया जाता था। इन 'सात उदार कलाओं' का रूप रोमन था। इन कलाओं की व्याख्या उपर्युक्त सभी लेखकों ने अपनी पुस्तकों में की है। इनका प्रभाव शिक्षा के पाठ्यक्रम में बहुत दिनों तक रहा। छपाई की कलों के आविष्कार न होने से उस समय पुस्तकों का अभाव था, इसलिये लोग पुस्तकों पर कम निर्भर रहते थे। उन दिनों व्याकरण का बड़ा मान था। किसी भी विषय के पढ़ने के लिये व्याकरण से परिचय आवश्यक समझा जाता था। व्याकरण-विद्या के अन्तर्गत लैटिन और साहित्य का भी अध्ययन किया जाता था। बोलने और लिखने की शक्ति प्राप्त करने पर अधिक बल दिया जाता था। व्याकरण के नियम तोते के

सदृश् रटाये जाते थे। शब्द-सूची, कोष तथा रोमन-साहित्य की ऊँची पुस्तकों का उपयोग धड़ल्ले से किया जाता था। संवादात्मक प्रश्नोत्तर की सहायता से शब्द-चयन की वृद्धि की जाती थी। विद्यार्थियों को गद्य और पद्य दोनों में लेख लिखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता था।

माध्यमिक युग में भाषण-कला तथा साहित्य-शास्त्र के सीखने पर विशेष बल नहीं दिया जाता था क्योंकि पहले के सदृश् अब उसका महत्त्व नहीं रह-गया था। व्याकरण और तर्क-विद्या ने दोनों ओर से उसकी गति को रोक दिया था क्योंकि लोगों की इन विषयों में अधिक रुचि थी। शिक्षा का प्रधान ध्येय अब धार्मिक, नैतिक तथा उपयोगिता था। इसलिये ऐसी रुचि का होना स्वाभाविक था। सिसरो व क्विन्टीलियन आदि की रचनाओं का प्रयोग इस सम्बन्ध में कुछ-कुछ किया जाता था। इस विद्या का अभ्यास पत्र तथा लेख लिखने तक ही सीमित था।

मध्यकाल में तर्क-विद्या के अध्ययन में लोगों की विशेष रुचि थी, क्योंकि धार्मिक वाद-विवाद में इससे बहुत सहायता मिलती थी। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो इसके लिये मानसिक रुचि विशेष हो गई थी। यह गति पुनरुत्थान काल तक चलती रही। अरस्तू की 'पोस्टेरियर एनलिटिक्स' (नई तर्क-विद्या) पर लोगों का ध्यान गया। 'विद्वद्वाद' काल में हम इसका विवरण सविस्तार करेंगे।

हम कह चुके हैं कि मठवाद काल (मॉनस्टिसिज़्म्) में सेण्ट ऑगस्टाइन के विचारों का शिक्षा-नीति पर विशेष प्रभाव पड़ा। वह गणित के उच्च अध्ययन का विरोधी था। फलतः मध्यकाल में अंकगणित, रेखागणित, खगोल तथा संगीत जैसे विषयों की उन्नति न हो पाई। छठी शताब्दी के मध्य से ग्यारहवीं शताब्दी तक ग्रीक और रोमन गणित-शास्त्र का विशेष मूल्य नहीं था परन्तु चर्च में प्रार्थना के अवसर पर संगीत का उपयोग अपने ढङ्ग से किया जाता था। इसलिये उत्तम धार्मिक संगीत का इस काल में प्रादुर्भाव हुआ। दसवीं शताब्दी के अन्त में गरबर्ट (जिसका जन्म ९५० ई० में हुआ था) के अथक परिश्रम के फलस्वरूप गणित के अध्ययन में कुछ प्रगति हुई। उसने गणित के सारे अध्ययनों का सङ्कलन किया। ग्यारहवीं शताब्दी में अरब विद्वानों के आगमन से इसको और प्रोत्साहन मिला। अब गणित के अध्ययन में खगोल, भूगोल आदि विषयों को भी मिला लिया गया।

इन उदार कलाओं के विकास में ही हम माध्यमिक काल की सभ्यता

की गहराई का अनुमान लगा सकते हैं। हम नीचे देखेंगे कि पूर्व माध्यमिक अर्थात् मठवाद युग में इन कलाओं के विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था, पर उनका प्रभाव अवश्य दिखलाई पड़ता है।

६—मठों में शिक्षा—

पूर्व मध्य युग में योरोप की राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति सुदृढ़ न थी। इसी समय इस्लाम धर्म का अधिकता से प्रचार किया जा रहा था। इससे दक्षिणी योरोप कुछ भयभीत हो रहा था। सारे पश्चिमी योरोप भर में ईसाई धर्म का प्रचार हो गया था। परन्तु नये धर्म के प्रति लोगों की शंका का समाधान नहीं हो पाया था। सेण्ट ऑगस्टाइन के अनुसार स्वयं ईसाई धर्म में चौरासी प्रकार के मतावलम्बी थे। फ्रैंकिश* साम्राज्य का पतन हो चला था तथा 'होली रोमन साम्राज्य' अपनी नींव जमाने के प्रयत्न में था। स्कैण्डिनेविया के समुद्री डाकू सारे पश्चिमी योरोप को सन्तप्त किये हुये थे। इन सब कारणों से लोगों में कुछ अशान्ति थी। शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिये कुछ लोगों ने साधु बनना अच्छा समझा और मठों में अपना नाम लिखा लिया। इनमें प्रायः सभी अशिक्षित थे। पोप के नियमानुसार पादरी बनने की इच्छा रखने वाले युवकों को चर्च के तत्वावधान में शिक्षा पाना अनिवार्य हो गया। इन सब कारणों से मठाधीशों को एक शिक्षा-क्रम चलाना आवश्यक जान पड़ा। धीरे-धीरे मठ विद्या केन्द्र हो चले। धार्मिक तथा साहित्यक अन्वेषण का स्थान वहीं हो गया, पर अपना प्रधान उद्देश्य धार्मिक और जीवन की उपयोगिता रखने से इस काल के स्कूल साहित्य तथा ललित कलाओं के क्षेत्र में विशेष उन्नति न कर सके, परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हीं की डाली हुई नींव पर 'विद्वद्वाद' तथा पुनरुत्थान काल में ललित कलाओं की विशेष उन्नति की जा सकी। जर्मनी में फुल्डा और हरशी, स्विट्ज़रलैण्ड में सेण्ट गॉल, इटली में मॉन्त कैशिनो, फ्रान्स में टूर्स, कॉर्बी, वेक तथा क्लूनी, और इङ्गलैण्ड में कैण्टरबरी उच्च शिक्षा देनेवाले मठों में प्रधान कहे जा सकते थे। इनके अतिरिक्त दूसरे भी मठ थे जिनका धार्मिक शिक्षा-दान में पक्का विश्वास था। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इन मठों की शिक्षा-पद्धति का ध्येय धार्मिक और नैतिक था। यूनानियों का 'ज्ञानाय ज्ञानम्' वाला सिद्धान्त उसमें लागू न था। मठों में रहने वालों की अन्वेषण और जिज्ञासा की प्रवृत्ति दबा दी जाती थी। कुछ शताब्दियों तक वे बहुत ही साधारण शिक्षा दे रहे थे। साधारण पढ़ना-लिखना और गिनना

* इसका विस्तार वर्त्तमान फ्रान्स और जर्मनी की भूमि तक था।

सिखा देना ही सब कुछ था। चर्च का कैलेण्डर भी बनाना किसी-किसी को सिखला दिया जाता था। प्रारम्भ में ये मठ केवल पादरी बननेवालों को ही शिक्षा देते थे, परन्तु सम्राट चार्ल्स महान् के राज-नियमानुसार उन्हें दूसरे बालकों को भी शिक्षा देना अनिवार्य हो गया। उस समय शिक्षा की माँग भी बहुत कम थी। इसलिये निम्न कोटि की शिक्षा देने में इन मठों का विशेष दोष नहीं था। दसवीं शताब्दी तक मठों की यही अवस्था रही।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से मठों की शिक्षा कुछ उच्च कोटि की होने लगती है। छपाई की कलों के न होने से पुस्तकों का बड़ा अभाव था। सेण्ट बेनडिक्ट के नियमों के अनुसार तथा कैशिओडोरस आदि उपर्युक्त लेखकों के प्रभाव से लोगों में साहित्य के प्रति कुछ अनुराग उत्पन्न होने लगा था। हरएक मठ में छोटे या बड़े पुस्तकालय स्थापित होने लगे। कुछ 'मॉङ्क्स' प्राचीन पुस्तकों की प्रतिलिपि करने लगे। धीरे-धीरे मठ मानसिक विकास के केन्द्र होने लगे क्योंकि इसके लिये कहीं दूसरे स्थान पर आयोजन नहीं था। परन्तु जब बड़े-बड़े राजाओं के दरबार, धनियों के घर तथा विश्वविद्यालय में उच्च विद्या के लिये स्थान मिल गया तब मठों का महत्त्व इस विषय में कम होने लगा। उत्तर मध्य युग में पुरानी पुस्तकों के प्रतिलिपि करने का एक व्यवसाय खुल जाने से मॉङ्क्स में पुस्तक की प्रतिलिपि करने का कार्य भी कम हो गया। बारहवीं शताब्दी में सिस्टर्शियन (ग्रे मॉङ्क्स) नाम का एक आन्दोलन चला जिससे पशुओं के पालन, कृषि तथा व्यापार को बड़ा प्रोत्साहन मिला। धर्म की दीक्षा पाकर जो दूसरे कार्यों में लग जाते थे वे ही विशेषकर सिस्टर्शियन कहलाये। ये सिस्टर्शियन सभी मठों में बड़ी संख्या में पाये जाने लगे। इनके बढ़ जाने से मठों में रहनेवालों का विद्यानुराग कम हो गया। एक प्रकार से सिस्टर्शियन आन्दोलन मठों में बेनडिक्टाइन के समय की सरलता, भक्ति तथा साधना को लाना चाहता था। इस आन्दोलन के फल-स्वरूप जो मॉङ्क्स चर्च-प्रार्थना के समय विशेष कार्य नहीं करते थे वे कृषि, हस्तकला तथा व्यापार आदि में रुचि लेने लगे; परन्तु इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न प्रदेश के मॉङ्क्स, यात्रियों तथा व्यापारियों के लिये मठ एक मिलने का स्थान था। यहाँ आपस में विचार विनिमय होता था। लोग एक दूसरे की सभ्यता तथा आचार-व्यवहार से परिचित होते थे।

पूर्व मध्य युग में चार्ल्स महान् का शिक्षा के प्रसार में प्रधान हाथ था। अतः उसके काल की शिक्षा की उन्नति का विवरण देना आवश्यक है। रोमन

सभ्यता के पतन तथा विदेशियों के आक्रमण से पश्चिमी योरप में उच्च विद्याध्ययन का ह्रास हो रहा था। परन्तु फ्रैंकिश साम्राज्य के तत्वावधान में इसमें प्रगति दिखलाई पड़ने लगी। सेण्ट जेरोम, सेण्ट एमब्रोस, सेण्ट ऑगस्टाइन, ग्रेगरी महान् तथा आयरलैण्ड के विद्वानों के उद्योग व रचनाओं के फलस्वरूप उच्च विद्या की ओर लोगों का ध्यान पुनः आकर्षित होने लगा। कैरोविङ्ग वंश के चार्ल्स महान् ने विद्यानुराग में विशेष रुचि दिखलाई। उसने राज-नियमानुसार प्रत्येक पादरी के लिये पढ़ना अनिवार्य कर दिया। उसने दूसरे प्रदेशों के विद्वानों को बुलाकर अपने दरबार में रक्खा। चार्ल्स महान् ने शिक्षा-संचालन का उत्तरदायित्व मठों को दिया और राज-नियम द्वारा यह निश्चय कर दिया कि बालकों को वहाँ संगीत, अङ्कगणित तथा व्याकरण सीखने के लिये पूरा आयोजन रहेगा। मठों में अब दो तरह के स्कूल हो गये। एक तो केवल धार्मिक शिक्षा के लिये और दूसरे प्रायः सभी विषयों के लिये। उदार कलाएँ, संगीत आदि विषय सभी को पढ़ाये जाते थे। सभी स्कूलों की भाषा लैटिन थी। स्कूलों में शासन का नियम बड़ा कठोर था। चार्ल्स महान् के शिक्षा उद्योग में नॉर्दम्ब्रिया के विद्वान् एलकिवन का विशेष हाथ था। वह अपने समय का सबसे बड़ा विद्वान् था। सम्राट् ने अपने साम्राज्य में उच्च शिक्षा के प्रचार के लिये उसे अपने दरबार में रक्खा। वह अपने साथ दूसरे विद्वानों को भी लाया था। उनकी सहायता से वह स्वयं स्कूलों में कभी-कभी पढ़ाता था। अपने विद्यार्थियों के लिये उसने पुस्तकों का संकलन किया और स्वयं भी उनके लिये बहुत-सी पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। एलकिवन की प्रेरणा से पश्चिमी योरप में उच्च विद्या में लोगों की रुचि पुनः उत्पन्न होने लगी। उसने बहुत से मॉङ्क्स को यार्क के 'कैथेड्रल' पुस्तकालय में भेजकर बहुत-सी प्राचीन पुस्तकों की प्रतिलिपि करवाई। चार्ल्स महान् अपने बनाये हुए नियमों के पालन में बड़ा दृढ़ था। उसने मठों की शिक्षा-प्रणाली की जाँच करने के लिये पदाधिकारियों को नियुक्त किया। उसने 'बाइबिल' को दुहराने तथा उसमें आई हुई त्रुटियों को दूर करने की आज्ञा दी। वह चाहता था कि सेण्ट बेनडिक्ट के नियमों का पालन प्रत्येक मठ में किया जाय। उसने मॉन्त कैशिनी नामक मठ के प्रधान से उन नियमों की प्रतिलिपि भेजने की प्रार्थना की। इस प्रतिलिपि का कुछ भाग अब तक भी सुरक्षित है। चार्ल्स महान् पादरियों की उच्च साहित्य-शिक्षा पर विशेष बल देता था। मठाधिकारियों और पादरियों का पद वह उच्च विद्वानों

को ही देना पसन्द करता था। उसकी प्रेरणा से थ्योडलफ़स नामक पादरी ने यह नियम बना दिया कि सभी पुरोहित गाँवों में जाकर स्कूल स्थापित कर बच्चों को शिक्षा दें। चार्ल्स महान् के प्रोत्साहन से फ़्रान्स में तथा योरप के अन्य भागों में उच्च साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। टूर्स में एक बड़ा भारी पुस्तकालय बनाया गया जिसका संरक्षक एलक्विन था। एलक्विन के शिष्यों ने नवीं शताब्दी में योरप भर में उच्च शिक्षा का प्रचार किया। वे उस समय के सबसे प्रसिद्ध अध्यापक, विद्वान तथा लेखक गिने जाते थे।

एलक्विन के शिष्यों में रबनस मॉरस (७७६-८५६) और जॉन द स्कॉट (८१०-८७७) प्रधान माने जाते हैं। रबनस ने जर्मनी में शिक्षा और साहित्य के प्रचार के लिये इतना अधिक कार्य किया कि उसको जर्मनी का पहला अध्यापक (दी फ़र्स्ट टीचर ऑव् जर्मनी) कहते हैं। उसके शिष्य जर्मन चर्च के सभी उच्च पदों पर विराजमान थे। वह अपने समय का बड़ा भारी लेखक था। फिल्डा मठ में उसने प्राचीन साहित्य का एक बहुत बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया। उसके कार्य का सेण्ट गॉल, स्विटजरलैण्ड तथा वेस्टफेलिया में बहुत प्रभाव पड़ा। जॉन दी स्कॉट स्वतन्त्र विचारक था। वह ग्रीक भाषा का अनुरागी था, इसलिये अपने समय के स्कूलों में इसका उसने प्रचार किया। इसने स्कूलों की पाठ्य-पुस्तक के लिए कैपेला की पुस्तकों को चुना। तर्क-विद्या में भी उसका प्रेम था। इन विद्वानों ने कुछ ऐसे प्रश्नों की ओर संकेत किया जिनका समाधान आवश्यक सा जान पड़ा। फलतः उत्तर मध्ययुग में हम 'विद्वद्वाद' का प्रादुर्भाव पाते हैं। आगे हम यही पढ़ेंगे।

ग—विद्वद्वाद

पीछे हम संकेत कर चुके हैं कि बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही उच्च विद्या का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। उस समय साहित्य के अध्ययन का आधार व्याकरण माना जाता था। विद्वानों का ध्यान भाषा-विज्ञान की ओर भी था। उनका अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टि से होता था। वे दर्शन-शास्त्र में भी अपनी रुचि दिखलाने लगे—जिसकी चरमसीमा आध्यात्म-विद्या के अध्ययन तक पहुँच गई। आध्यात्म-विद्या के विकास का एक दूसरा भी कारण था। ग्यारहवीं शताब्दी में पूर्व-मध्य-एशिया से आये हुए नास्तिकों का प्रभाव पश्चिमी योरप की जनता पर पड़ रहा था। साधारण जनता के मन में धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति कुछ सन्देह सा होने लगा था। तर्क तथा अध्यात्म-विद्या के ज्ञान से इन नास्तिकों को परास्त करना आवश्यक

जान पड़ा क्योंकि तभी लोगों की शंकायें दूर हो सकती थीं। दर्शन-शास्त्र और आध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिये मध्यकालीन विद्वान विशेष प्रसिद्ध हैं। आध्यात्म-विद्या में रुचि होने से तर्क-विद्या का अध्ययन स्वाभाविक था। अरस्तू और प्लैतो के विचारों की आलोचना विद्वानों में होने लगी। इस काल में अरस्तू के सिद्धान्तात्मक तर्क-विद्या का पुनरुद्धार हुआ। इसका रूप प्रयोगात्मक न होकर मौखिक विश्लेषण और संकलन था। 'विवेक' ईश्वर प्रदत्त माना जाता था। नीति तथा धर्म-सम्बन्धी बातों में चर्च के प्रमाण में किसी को सन्देह करने का साहस शीघ्र न होता था। 'विश्वास' ही सब ज्ञान का मूल था और 'विवेक' से वह उच्च माना जाता था। एनसेल्म (१०३४–११०६) का यह सिद्धान्त कि "मैं विश्वास करता हूँ जिससे कि मैं जानू" चारों ओर माना जाता था। इन सब प्रगतियों के कारण लोगों का ध्यान उच्च विद्या की ओर गया। पाण्डित्य प्राप्त करना ही अब बहुत से लोगों का ध्येय हो गया। अतः इस काल को विद्वद्वाद-काल (स्कॉलस्टिसिज़म्) कहते हैं। 'विद्वद्वाद' का ध्येय तर्क के बल पर सत्य की खोज करना था। फलतः सिद्धान्तात्मक तर्क-विद्या कीबहुत उन्नति हुई। विचारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की कला अधिक विकसित हुई। इससे बहुत-से योग्य विचारक उत्पन्न हुए। ये आगे चलकर विद्वद्वाद की शिक्षा-पद्धति में अनेक त्रुटियाँ निकालने लगे। इसके अतिरिक्त आध्यात्म तथा राज्य-नियम विद्या के क्षेत्र में बड़े-बड़े विद्वान उत्पन्न हुए। ये भिन्न-भिन्न विचारों को व्यवस्थित रूप में क्रमबद्ध करना चाहते थे जिससे लोग उनका सरलता से ज्ञान प्राप्त कर सकें। तर्क-शक्ति की वृद्धि की ओर भी इनका ध्यान था।

१—अरस्तू और प्लैतो का प्रचार—

हम देख चुके हैं कि प्लैतो का सारा तत्वज्ञान उसके 'विचारों के सिद्धान्त' पर अवलम्बित था। प्रारम्भिक ईसाई आध्यात्मवादियों का उसके सिद्धान्तों में बड़ा विश्वास था। प्लैतो सांसारिक वस्तुओं को मिथ्या मानता था। उनको वह एक परम सार्वभौमिक सत्य की केवल छायामात्र ही मानता था। सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान हम अपनी इन्द्रियों से कर सकते हैं। पर उस परम सत्य का ज्ञान केवल विचार द्वारा ही किया जा सकता है। 'विचार' परम सत्य को उत्पन्न नहीं कर सकता वरन् वह तो कारण मात्र है। ईश्वर ही परम सत्य है। प्लैतो के इस सिद्धान्त को माननेवाले यथार्थवादी कहलाये। इसके विपरीत अरस्तू का सिद्धान्त भी कुछ प्रचलित था। जो हम अपनी आँखों

से स्थूल पदार्थ देखते हैं वही सत्य है और दूसरे विचार जैसे, सौन्दर्य अथवा सत्य आदि तो नाममात्र हैं। इस सिद्धान्त को मानने वाले 'नामवादी' (नामिनलिस्ट) कहलाये। रोसेलिनस नाममात्रवाद का कट्टर पक्षपाती था। वह केवल व्यक्ति और वस्तु विशेष को ही सत्य मानता था। जो हम इन्द्रियों से अनुभव कर सकते हैं वही सत्य है। हमारा वास्तविक तत्त्व हमारे अन्तर्गत है—बाहर नहीं। इस सिद्धान्त में पूर्ण व्यक्तिवाद झलकता है। यथार्थवाद और नाममात्रवाद का विरोध सोलहवीं शताब्दी तक चलता रहा। अपने-अपने विचारों के प्रतिपादन में विद्वानों ने पोथे के पोथे रंग डाले। विद्वद्वाद काल में यथार्थवाद का ही विशेष प्रभाव रहा।

विद्वद्वाद (यथार्थवाद) का शिक्षा पर प्रभाव—

अब हम यह देखेंगे कि यथार्थवाद का उत्तर-मध्ययुग में शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा। यथार्थवाद के प्रभाव से आध्यात्म-विद्या को सर्वश्रेष्ठ माना गया। विद्या के दूसरे अङ्ग इसके सहायक मात्र समझे गए। जिस अध्ययन में आध्यात्मवाद का पुट नहीं था वह तिरस्कृत किया जाने लगा। मनोविज्ञान को स्वतन्त्र प्रकृति-विज्ञान न समझ कर आध्यात्म-विद्या का अङ्ग माना गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि तर्क-विद्या का भी मान बहुत बढ़ गया। तर्क करने में हम सत्य की खोज करते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञान की प्राप्ति तर्क-विद्या की सहायता से ही हो सकती है। जीवन में साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन है। प्राकृतिक विज्ञान-शास्त्रों को किसी ऊँचे उद्देश्य के लिये केवल साधन माना गया। फलतः साहित्य के अध्ययन में उन्नति न हो सकी। सर फ्रान्सिस बेकन इस काल के विद्याध्ययन को "विरोधी विद्या" (कन्टेन्शस लर्निङ्ग) कहता है। बेकन कहता है कि इस काल के विद्वान अपने विपक्षियों पर आक्रमण करके अपनी अयोग्यता छिपाना चाहते हैं। ज्ञान के विकास में विजय के स्थान पर वे पराजय ही लाये हैं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विद्वद्वाद' कालीन शिक्षा का सम्बन्ध केवल अव्यावहारिक तथा आध्यात्मिक विषयों से ही था। छठी शताब्दी से शिक्षा में प्रायः प्रश्नोत्तर प्रणाली (कैटेकेटिकल) का प्रयोग किया जाता था। परन्तु विद्वद्वाद के प्रभाव से तर्क की प्रणाली प्रचलित की गई जो कि पेस्तॉलॉज़ी के समय तर्क प्रचलित रही। बालक के मानसिक विकास पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता था। जो बातें केवल प्रौढ़ मस्तिष्क के समझने योग्य थीं वे ही छोटे-छोटे बच्चों को भी सिखलाई जाने लगीं। व्याकरण की पाठ्य-पुस्तकें तर्क-विद्या के अनुसार क्रमबद्ध की गई। विश्वविद्यालय तथा स्कूलों की शिक्षा-पद्धति तर्कानुसार विश्ले-

षण पर अवलम्बित की गई। किसी विषय को भिन्न-भिन्न भागों में बाँट कर अरस्तू की तर्क-प्रणाली द्वारा उसकी विवेचना की जाती थी और उसके बाद आध्यात्मवाद की ओर संकेत किया जाता था। कभी-कभी प्रारम्भ में ही विषय की आलोचना अध्यापक कर देता था और विद्यार्थी को अपनी व्याख्या तर्कानुसार देनी पड़ती थी।

अब हम यह देखेंगे कि 'विद्वद्वाद' का विकास कैसे हुआ। इस सम्बन्ध में एबेलर्ड (१०७६-११४२) का जीवन विशेष महत्व रखता है। हेस्टिङ्ग्ज़ रैशडल ने उसे 'विद्वद्वाद काल का सच्चा पिता' (द ट्रू फादर ऑव् स्कॉलस्टिक थियॉलॉजी) माना है। उसके आध्यात्मिक विचार का शिक्षा पर विशेष प्रभाव न पड़ा। वह असफल ब्रह्मज्ञानी रहा। परन्तु आध्यात्म-विद्या के अध्ययन में उसने अपनी रचनाओं द्वारा बहुत प्रोत्साहन दिया। शंका-समाधान के लिये बाइबिल के मूलसूत्रों के संकलन करने की उस समय एक प्रथा थी। एबेलर्ड ने 'यस ऐन्ड नो' ("हाँ और नहीं") नामक एक संकलन किया। आध्यात्मिक विकास पर इस पुस्तक का बहुत प्रभाव पड़ा। एबेलर्ड न तो कट्टर 'यथार्थवादी' था और न नाममात्र वादी' ही। वह दोनों के 'मध्यविचार' का अनुयायी था। उसके बहुत से मत चर्च के अधिकारियों द्वारा नास्तिक घोषित कर दिये गए। उसकी रुचि विज्ञान की ओर न होकर तर्क-शास्त्र की ओर थी। उसने इस विद्या के प्रसार में बहुत सहयोग दिया। इस क्षेत्र में उसकी सफलता ने साहित्यिक तथा वैज्ञानिक अध्ययन को दबा दिया। उसने पेरिस के स्कूलों को बहुत ही लोकप्रिय बना दिया। इस तरह से पेरिस विश्वविद्यालय के विकास में उसने योग दिया।

बारहवीं शताब्दी में लैटिन चर्च के सर्वमान्य नेताओं के मतों को क्रमबद्ध करने के कई बार प्रयास किये गये थे। पीटर दी लॉमबार्ड (११००-११६४) ने "फ़ोर बुकस ऑव् सेनूटेन्सेज' नामक पुस्तक में इन सब विचारों का संकलन किया। उसका यह संकलन योरप के प्रधान विश्वविद्यालयों में १६वीं शताब्दी तक आध्यात्मिक अध्ययन के उपयोग में लाया गया। मैक्कियोन रिचर्ड के अनुसार उत्तर मध्यकालीन शिक्षा में इस पुस्तक का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। गर्सन और रोगर वेकन के अनुसार तो इस पुस्तक का मान शिक्षा क्षेत्र में बाइबिल से भी अधिक बढ़ गया। पीटर ने अपनी पुस्तक को कई भागों में बाँट कर हर एक की तर्कानुसार व्याख्या करते हुए अपने सुझाव की ओर संकेत किया है। साधारण लेख तथा पुस्तक के अध्ययन में 'विद्वद्वाद' कालीन पद्धति भी यही थी। इसकी ओर ऊपर भी हम संकेत कर चुके हैं। विद्वद्वाद

कालीन शिक्षा में 'दी ऑर्डर ऑव् द डोमिनिकन्स' और 'दी आर्डर ऑव् द फ्रेन्सिस्कन्स' का भी कुछ हाथ था। डोमिनिकन्स आर्डर के सदस्य सेन्ट टॉमस (१२२५-१२७४) ने अपनी आध्यात्मिक रचनाओं द्वारा इस ओर बहुत योग दिया। उसने भी अपनी पुस्तकों में पीटर दी लॉमबार्ड जैसी पद्धति का अनुसरण किया। फ्रैन्सिस्कन्स आर्डर के कुछ सदस्य उस समय के श्रेष्ठ विद्वानों में से थे।

आलोचना—

हम पूर्व मध्यकालीन शिक्षा में देख चुके हैं कि उस समय शिक्षा का उद्देश्य विशेष कर धार्मिक, नैतिक तथा जीवन की उपयोगिता था बौद्धिक विकास की ओर शिक्षा के कर्णधारों का ध्यान अधिक न था। पर विद्वद्वाद कालीन शिक्षा में एक नई प्रगति आती है। अब शिक्षा का उद्देश्य पहले जैसा न रहा। अब बौद्धिक विकास की ओर प्रवृत्ति हुई। इस विकास की लहर में विद्वानों ने व्यावहारिकता की बलि दे दी। उन्हें समाज-हित की विशेष चिन्ता न थी। अपने वादविवादों तथा उच्च आध्यात्मिक अध्ययन की उधेड़-बुन में वे यह न जान सके कि वे किधर जा रहे हैं। स्थूल वस्तुओं, इन्द्रिय-सुख तथा अनुभव को मिथ्या कहकर वास्तविकता की खोज में ऐसे विचारों का उन्होंने प्रसार किया जिससे न उसी समय का जनवर्ग न आज का मानव समाज ही सहमत हो सकता है। यही कारण है कि पुनरुत्थान काल में उनके सिद्धान्तों की पूरी अवहेलना कर एक नई लहर फैलाई गई। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'विद्वद्वाद' काल में आध्यात्म-विद्या की जैसी उन्नति हुई वैसी न तो पहले कभी हुई थी और न बाद में ही कभी हुई। इस काल में ऐसे-ऐसे बड़े विद्वान् हुये जिनकी मानसिक प्रतिभा के सन्मुख आज भी लोग नतमस्तक हो जाते हैं। उनके विश्वासों पर आज हमें हँसी आ सकती है। परन्तु उनके सभी विचार उस समय के धार्मिक साहित्य के आधार पर थे। वे 'धार्मिक विश्वास' को तर्क की सहायता से दृढ़ बनाना चाहते थे। नास्तिकों के प्रभाव से धार्मिक क्षेत्र में जो हलचल उत्पन्न होने की सम्भावना थी उसका वे उन्मूलन करना चाहते थे। वे अपने इस उद्देश्य में सफल भी हुये इसको सभी लोग मानते हैं। इस प्रकार उनकी उत्पत्ति समयानुसार ही थी। 'विद्वद्वाद' कालीन विद्वानों की प्रेरणा से विश्वविद्यालयों की बड़ी उन्नति हुई। हम इसी को नीचे पढ़ेंगे।

घ—मध्य युग में विश्वविद्यालय

१—विश्वविद्यालयों का विकास—

योरप के आजकल जितने प्रधान विश्वविद्यालय हैं उनकी स्थापना प्रायः

उत्तर मध्ययुगकाल की है । इन विश्वविद्यालयों की उत्पत्ति किसी एक व्यक्ति के उद्योग से नहीं हुई । शताब्दियों से कुछ ऐसी प्रगतियाँ चल रही थीं जिनका एक क्रम-बद्ध रूप हम बारहवीं शताब्दी में विश्वविद्यालयों की उत्पत्ति में देखते हैं । उच्च विद्या प्राप्त करने की प्रेरणा से ही विश्वविद्यालय की स्थापना होती है । हम गत अध्याय में कह चुके हैं कि 'विद्वद्वाद' कालीन आध्यात्म-विद्या के अध्ययन ने लोगों के विद्या प्रेम को बहुत आगे बढ़ाया । विद्या में लोगों को एक आत्मिक शान्ति और सुख मिलने की आशा थी । उच्च विद्याध्ययन उस समय का सर्वोत्कृष्ट उद्यम माना जाता था । उस समय औपनिवेशिक तथा व्यापारिक प्रतियोगिता का प्रारम्भ न हुआ था । बड़े-बड़े शहर के निर्माण करने की धुन नहीं सवार हुई थी । बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से सारा योरप चर्च के तत्वावधान में एकता का अनुभव कर रहा था । योग्य पुरुषों को अपनी प्रतिभा दिखलाने का विद्या के क्षेत्र को छोड़ दूसरा स्थान नहीं दिखलाई पड़ता था । इसके फलस्वरूप मठ तथा चर्च धीरे-धीरे विद्या के केन्द्र होने लगे थे । सम्राट चार्ल्स महान् जैसे राज्याधिकारियों तथा चर्च के प्रोत्साहन से अन्य स्थानों में भी पाठशालायें स्थापित होने लगी थीं । फ्रांस और इंगलैण्ड बारहवीं शताब्दी में विदेशियों के आक्रमण से कुछ स्वतन्त्र होने से शान्ति का अनुभव करने लगे थे । नार्मन विजय के बाद इंगलैण्ड के प्रत्येक क्षेत्र में सभ्यता का विकास पहले से अधिक दिखलाई पड़ता था । धार्मिक युद्धों के प्रारम्भ हो जाने से लोगों में एक दूसरे से विचार-विनिमय होने लगा था । एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में यात्रियों, व्यापारियों तथा विद्वानों का आवागमन पहले से अधिक बढ़ गया था । विशेषकर विद्वानों के सम्पर्क से लोगों में बौद्धिक जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होने लगा । अरब विद्वानों के प्रभाव से पश्चिमी योरप में अरस्तू प्लेतो, गैलेन, यूक्लिड आदि प्राचीन विद्वानों के साहित्य में प्रेम बढ़ने लगा । चर्च विरोधी उनके आलोचनात्मक विचारों का पश्चिमी योरप में बड़ा प्रभाव पड़ा । उनके आक्षेपों के प्रत्युत्तर में बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान तर्क तथा आध्यात्म-विद्या के विकास की ओर गया । विश्वविद्यालयों की स्थापना में अरब विद्वानों के प्रभाव से बड़ा प्रोत्साहन मिला । बारहवीं शताब्दी में इन्हीं विद्वानों के अनुवाद तथा टिप्पणियों की सहायता से ग्रीक साहित्य और विज्ञान में पश्चिमी योरप का फिर से अनुराग उत्पन्न हुआ । उच्च विद्याध्ययन के लिये स्थान स्थान पर विद्वानों की गोष्ठियाँ स्थापित होने लगीं क्योंकि विद्याध्ययन केवल अकेले की ही वस्तु नहीं । ये गोष्ठियाँ धीरे-धीरे सामूहिक संस्थाओं का रूप लेने लगीं । ये संस्थायें

५—बोलोना विश्वविद्यालय—

बोलोना शहर में प्रधानतः मठ, कैथेड्रल तथा म्युनिसिपल प्रकार के स्कूल थे। कैथेड्रल स्कूल में सभी उदार विषयों की शिक्षा दी जाती थी। म्युनिसिपल स्कूल में प्रधानतः राज्यनियम के अध्ययन की ओर ध्यान दिया जाता था। इन तीनों प्रकार के स्कूलों से आगे चलकर बोलोना विश्वविद्यालय का विकास हुआ। बोलोना में बहुत से विदेशी विद्वान् अध्ययन के लिये एकत्रित हुआ करते थे। इन लोगों ने अपनी संरक्षता के लिये विभिन्न संस्थायें बना लीं। यही संस्थायें फिर विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गईं। प्रारम्भ में इस विश्वविद्यालय का कार्य केवल विद्यार्थियों के विभिन्न अधिकारों की रक्षा करना था परन्तु तेरहवीं शताब्दी से इसका साहित्यिक रूप हो जाता है।

६—पेरिस, ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज—

पेरिस विश्वविद्यालय को ११८० में लुई सप्तम द्वारा पहला राजपत्र मिला। पेरिस में आध्यात्म-विद्या और साहित्य के अध्ययन के लिये दसवीं शताब्दी से ही विद्वान् इकट्ठे होने लगे थे। ग्यारहवीं शताब्दी में इनकी संख्या वहाँ के कैथेड्रल चर्च, मठ तथा म्युनिसिपल स्कूलों में बढ़ गई। एबेलर्ड के विद्वत्ता और विद्या-प्रेम का इसमें प्रधान स्थान था। इसने पेरिस के स्कूलों को सुसंगठित किया। इन्हीं स्कूलों के प्रभाव से वहाँ के विश्वविद्यालय का जन्म हुआ। बारहवीं शताब्दी में ऑक्सफ़ोर्ड इङ्गलैण्ड में विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र हो गया। ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के विश्वविद्यालय पेरिस विश्वविद्यालय के नियमानुसार स्थापित किये गये। परन्तु बाद में इनका रूप भिन्न हो गया। इनमें विद्यार्थियों के रहने तथा अध्ययन दोनों के लिये प्रबन्ध किया गया।

७—विश्वविद्यालय के रूप—

मध्यकालीन विश्वविद्यालय आजकल की तरह बड़े-बड़े भवनों में स्थापित न थे। पढ़ाई किराये के मकानों में अथवा अध्यापकों के घर की जाती थी। दीक्षान्त भाषण चर्च के भवन में किया जाता था। पुस्तकों का बड़ा अभाव था। पुस्तकालय का रूप व्यवस्थित न था। प्रयोगशाला की कोई व्यवस्था न थी। विद्यार्थियों के बैठने के स्थान खुरदुरे कुर्सी (बेञ्च) या भूमि थी। इन सब कारणों से उन्हें कठिनाई अवश्य होती थी। परन्तु एक निश्चित भवन न रहने से उनकी स्वतन्त्रता बढ़ गई। विद्यार्थी अपनी सुविधानुसार विद्या और

साहित्य की खोज में भ्रमण कर सकते थे। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय अपने शहर तक ही सीमित नहीं रहता था। उसके अंग निकट के अन्य शहरों में भी हो सकते थे। इस स्वतन्त्रता के ही कारण इतिहास के कठिन काल में भी वे पूर्ण सुरक्षित रह सके। मध्य-युग का राज्य-विधान केवल स्थानीय था। अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास न होने से एक राज्य अपने नागरिक को विदेश में रक्षा के लिये विदेशी राज्यों पर प्रभाव नहीं डाल सकता था। किसी नागरिक की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य अपनी सीमा के बाहर नहीं ले सकता था। यात्रियों, व्यापारियों और विदेशी विद्वानों के प्राण व धन की रक्षा के लिये कोई प्रबन्ध न था। इस स्थिति के कारण विश्वविद्यालयों में आये हुए विदेशी विद्वान अपनी रक्षा के लिये छोटे-छोटे संघ स्थापित करने लगे। इन संघों का प्रधान उद्देश्य पारस्परिक सहायता, प्रेम, झगड़े का समझौता तथा रोगियों की चिकित्सा था। अपने अधिकारों की रक्षा के लिये वे पोप अथवा शासक से राज-पत्र (चार्टर) की माँग किया करते थे। पेरिस और ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी और अध्यापक संघों में नहीं बँटे थे। पर इटली के विश्वविद्यालयों में उनके लिये अलग-अलग संघ थे। इस प्रकार विश्वविद्यालयों में सामूहिक जीवन व्यतीत किया जाता था।

८—विश्वविद्यालय में शिक्षा—

प्रत्येक विश्वविद्यालय व्यावसायिक शिक्षा देने पर बल देता था। इस व्यावसायिक शिक्षा में चिकित्सा प्रधान थी। इसके अतिरिक्त अन्य उदार विषयों में भी शिक्षा दी जाती थी पर आध्यात्म-विद्या और राज-विधान के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। इस प्रकार चिकित्सा, आध्यात्म-विद्या, राज-विधान और कला विश्वविद्यालय के चार विभाग (फ़ैकल्टीज़) थे। मध्ययुग के विश्वविद्यालयों में प्रान्तीयता की भावना न थी। उनमें विश्वबन्धुत्त्व की छाप थी। इनकी प्रधान भाषा लैटिन थी। इनमें कहीं से भी विद्यार्थी अध्ययन हेतु आ सकते थे। सभी अपने अधिकारों की रक्षा के लिये विशेषकर पोप की ओर देखते थे।

९—विश्वविद्यालय में सुविधायें—

विश्वविद्यालय के सदस्यों को कई प्रकार की सुविधायें प्राप्त थी क्योंकि उन्हें सदैव आदर की दृष्टि से देखा जाता। विद्यार्थी या अध्यापक किसी मुकद्दमे के सम्बन्ध में अपने न्यायाधीश को स्वयं चुन सकते थे। यदि न्यायालय

उनके स्थान से दूर हैं तो वे निकट के न्यायालय में अपने मुकद्दमों की सुनवाई करा सकते थे। वे कई प्रकार के करों से मुक्त थे। विशेषकर उन्हें म्युनिसिपल कर नहीं देना पड़ता था। दीन विद्यार्थियों को अपनी जीविका के लिये भीख माँगने की पूरी स्वतन्त्रता थी। विश्वविद्यालय के अधिकारी को आवश्यक पुस्तकों के मूल्य निर्धारित करने की स्वतन्त्रता थी। अपनी कठिनाइयों की सुनवाई न देखकर विश्वविद्यालय को एक शहर से दूसरे शहर या दूसरे देश में ले जाने की भी स्वतन्त्रता थी। किसी अत्याचार के विरोध में वे कुछ दिनों तक विश्वविद्यालय का पूरा कार्य स्थगित कर सकते थे। पेरिस विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने १२२८-१२२९ के उपद्रव के कारण विश्वविद्यालय को छः वर्ष तक बन्द रखा।

मध्य-युग में शिक्षा देने का अधिकार केवल चर्च का ही माना जाता था। लोगों को पढ़ाना चर्च अपना परम कर्त्तव्य मानती थी। पढ़ाने का कार्य वह दूसरे को न देना चाहती थी। इस पर वह अपना पूरा नियन्त्रण रखती थी, जिससे नास्तिक अपने विचारों का प्रचार न कर सकें। लोगों को क्या पढ़ाना चाहिये इसका निर्णय चर्च सदैव अपने हाथ में रखती थी। विभिन्न विषयों के लिये अध्यापक तैयार करना विश्वविद्यालयों का कर्त्तव्य था। उनकी शिक्षा समाप्त हो जाने पर विश्वविद्यालय का अधिकारी उन्हें पोप के प्रतिनिधि के सामने पढ़ाने के अनुमति-पत्र के लिये उपस्थित करता था। अनुमति-पत्र पाने के समय प्रत्येक को सत्यता की शपथ लेनी पड़ती थी। बोलोना में उसे एक पुस्तक दी जाती थी और पेरिस विश्वविद्यालय में पुस्तक के साथ एक टोपी (स्कॉलर्स-कैप) भी दी जाती थी। परन्तु आगे चल कर अनुमति-पत्र देने का पूर्ण अधिकार विश्वविद्यालयों को ही मिल गया। प्रारम्भ में यह अनुमति-पत्र पढ़ाने, चिकित्सा या वकालत करने के लिये दिया जाता था। अध्यापक 'मास्टर' या 'डाक्टर' कहे जाते थे। पर बाद में 'मास्टर' की उपाधि अध्यापकों के लिये रह गई और 'डाक्टर' की दूसरों के लिये। मास्टर की उपाधि बाद में 'बैचलर' कर दी गई। उस समय के विश्वविद्यालयों का पाठ्य-क्रम आजकल की तरह व्यवस्थित न था। 'बैचलर' की उपाधि के लिये कुछ निर्धारित वादविवादों में भाग लेना था तथा 'मास्टर' और 'डाक्टर' की उपाधियों के लिये कुछ भाषणों को देना था।

१०—विश्वविद्यालय की शिक्षण-पद्धति—

विश्वविद्यालयों में पढ़ाने की विधियाँ चार थीं—भाषण, दोहराना, वादविवाद और परीक्षा। हर एक विधि के लिये नियम अच्छी तरह से निर्धा-

रित किये हुए थे। भाषण 'मास्टर' या 'डॉक्टर' देता था। पहले विषय को पढ़ा दिया जाता था। उसके बाद अपनी राय व्याख्या के साथ दी जाती थी। विषयान्तर न होने पावे इसका बहुत ध्यान रखा जाता था। भाषणों के विषय पहले से ही निश्चित रहते थे। आलोचनाएँ सदैव परम्परागत होती थीं। उनके समर्थन में स्थायी साहित्य दिखलाया जाता था। भाषण सुन लेने के बाद विद्यार्थी उस पर प्रश्न करके अपनी शंका-समाधान करते थे। इसी को दोह-राना कहते थे। भाषण की साधारण और असाधारण दो श्रेणियाँ थी। 'असा-धारण' भाषण विद्यार्थियों द्वारा दिया जाता था। इनसे उनकी योग्यता का पता लगाया जाता था। उनके लिये यह एक प्रकार की शिक्षा भी थी। जिसके 'असाधारण' भाषण में जितने ही श्रोतागण रहते थे उसका उतना ही मान किया जाता था। इसलिये विद्यार्थी अपने भाषण के श्रोताओं की संख्या बढ़ाने के लिये कभी-कभी उन्हें घूस भी दिया करते थे। वादविवाद करने की विधि प्रायः 'विद्वद्वाद' काल वाली थी। इसकी भी दो विधियाँ निर्धारित थीं। पहली विधि के अनुसार विद्यार्थी विषय के पक्ष और विपक्ष दोनों में अपने तर्क व वितर्क रखता था और अन्त में स्वयं अपना निर्णय दिखलाता था। इस विधि से किसी विषय का न्यायपूर्ण अन्वेषण असम्भव था। दूसरी विधि में दोनों पक्ष भाग लेते थे। विषय-पाठ के बाद पक्ष में तर्क उपस्थित किया जाता था पश्चात् विपक्ष में। इस प्रकार 'वादविवाद' विधि से उनकी तर्क-शक्ति बढ़ती थी। परीक्षा की विधि मौखिक थी। परीक्षार्थी को कुछ घण्टे पहले विषय पढ़ने को दे दिया जाता था। पश्चात् निर्धारित समय पर उसे वादविवाद तथा भाषण के सहारे अपने पक्ष को प्रतिपादित करना पड़ता था। वह परीक्षकों के बहुमत से उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण किया जाता था।

११—विश्वविद्यालय की पाठ्य-वस्तु—

मध्य कालीन विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र अन्वेषण की प्रथा न थी। विद्यार्थियों को स्वीकृत की हुई टिप्पणियाँ या व्याख्यायें पढ़नी पड़ती थीं। आध्यात्म-विद्या के लिये बाइबिल और पीटर द लॉमवार्ड का 'सेन्टेन्सेज़', चिकित्सा-विज्ञान के लिये गैलेन, हिपोक्रेटस, एविसेना तथा बार्थोलोम्यू की रचनाएँ निर्धारित थीं। तर्क-विद्या में अरस्तू के 'प्रायर एनलिटिक्स' और 'पॉस्टीरियर एनलिटिक्स' का अध्ययन किया जाता था। अध्ययन के प्रत्येक क्षेत्र में अरस्तू के सिद्धान्तों का ही बोलबाला था। ज्यामिति और खगोल-विद्या का विकास इटली के विश्वविद्यालयों में कुछ हो

रहा था। वियना विश्वविद्यालय की भी इसमें कुछ रुचि थी। शिक्षा का काल भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में समय-समय पर बदलता रहा। उनमें सत्तरह-अठारह वर्ष के नवयुवकों से लेकर चालीस-पचास वर्ष के व्यक्ति विद्यार्थी रूप में पाये जाते थे।

१२—विश्वविद्यालय में विद्यार्थी जीवन—

विश्वविद्यालयों में दीन से दीन और धनी से धनी विद्यार्थी पाये जाते थे। चर्च के सर्वोच्च पदाधिकारी से लेकर भिक्षुक भी विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी हुआ करते थे। विद्यार्थियों के मनोरंजन का समुचित प्रबन्ध न था। उनके खेल के लिये कोई व्यवस्था न थी। कभी-कभी वे अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया करते थे। कुछ के लिये यात्रियों का सामान लूट लेना साधारण बात थी। कुछ केवल पेट ही पालने के लिये एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय में घूमा करते थे। कुछ का इतना नैतिक पतन हो गया था कि मदिरा आदि के दुर्व्यसन में फँस गये थे। यदि विश्वविद्यालयों के अपने भवन होते और ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज की तरह छात्रावास होते तो सम्भवतः उनका इतना नैतिक पतन न होता। परन्तु इसके विपरीत कुछ विद्यार्थी इतने एकनिष्ठ और मनस्वी होते थे कि उनकी आज भी कोई स्पर्धा कर सकता है। मध्य-कालीन विश्वविद्यालयों में स्त्रियों के लिये स्थान न था। साहित्य, कला तथा विज्ञान की वे अधिकारिणी नहीं समझी जाती थीं। विश्वविद्यालयों की स्थापना के प्रारम्भिक काल में विद्यार्थियों को अपने रहने का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था। कई विद्यार्थी संघ बनाकर एक स्थान पर रहते थे। इनकी देखरेख के लिये विश्वविद्यालय का एक 'मास्टर' नियुक्त कर दिया जाता था। यह प्रथा पेरिस में सबसे पहले चलाई गई। उस समय यात्रियों तथा रोगियों के आश्रय के लिये कहीं-कहीं चिकित्सालय (हॉस्पिटल) भी बने रहते थे। कभी-कभी विद्यार्थियों को उनमें भी स्थान मिल जाता था। कुछ धनी लोग विद्यार्थियों के रहने के लिये 'हॉल' अर्थात् आश्रम बनवा दिया करते थे। इन्हीं 'हॉल' का नाम आगे चलकर 'कॉलेज' पड़ गया। धीरे-धीरे एक विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कई कॉलेज स्थापित हो गए। इनमें विद्यार्थी और अध्यापक दोनों रहने लगे। आगे चल कर ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज की 'ट्यूटोरियल' प्रथा में इनका अधिक विकास हुआ।

१३—उपसंहार—

'असाधारण' भाषणों की प्रथा से 'मास्टर' और 'डाक्टर' अनुचित

लाभ उठाने लगे। उनमें पढ़ाने की कम रुचि रहती थी। उन्हें अपने कर्त्तव्य-पालन का ध्यान न था। पढ़ाने का कार्य कभी-कभी 'असाधारण' भाषणों के रूप में विद्यार्थियों पर ही आ पड़ता था। मध्यकालीन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की जितनी पढ़ने की रुचि रहती थी उतनी अध्यापकों की पढ़ाने की नहीं। छात्रावास की समुचित व्यवस्था न होने से, हम देख चुके हैं कि, विद्यार्थियों में नियंत्रण की बड़ी कमी आ गई थी। परन्तु 'ट्यूटोरियल' अथवा 'कॉलेज' प्रथा के आरम्भ होने से इनमें शिष्टता आने लगी। अरस्तू के सिद्धान्तों के अनुसार ही चलने से स्वतन्त्र जिज्ञासा का अभाव था। अच्छे विद्यार्थियों के अध्ययन में वाद-विवाद तथा 'भाषण'-प्रणाली से बड़ा विघ्न पड़ता था। कुछ विद्यार्थी तो बिना समझे हुए वर्षों तक भाषण सुनते रहते थे। इससे स्पष्ट है कि विश्वविद्यालय की शिक्षा से अधिकांश विद्यार्थियों को विशेष लाभ न था। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विश्वविद्यालय उस समय विद्या के सबसे बड़े केन्द्र थे। जब छपाई की कल का अविष्कार नहीं हुआ था तब पुस्तकों तथा अन्य सुविधाओं का अभाव था। अतः ऐसी स्थिति का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं। तथापि सभ्यता के विकास में मध्यकालीन विश्वविद्यालयों का हाथ है। उन्हीं की खड़ी की हुई नींव पर 'विद्या के पुनरुत्थान' युग तथा 'सुधारकाल' में विद्या-साहित्य तथा कला की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। राजनैतिक तथा सामाजिक झगड़ों में मध्यस्थता करने के लिये विश्वविद्यालय के अध्यापकों को स्थान दिया जाता था। उनके विचारों का आदर था। उस समय के कुशल राजनीतिज्ञ और शासक विश्वविद्यालय से ही शिक्षा पाते थे। उन्हीं के उद्योग से उस समय का शासन-कार्य शिक्षित और कुशल व्यक्तियों के हाथ में था। यह उनकी सबसे बड़ी सेवा है। इस दृष्टि से उनकी शिक्षा व्यावहारिक थी। हम देख चुके हैं कि मध्यकालीन विश्वविद्यालयों में विशेष ध्यान अध्यात्म, तर्क तथा चिकित्सा-विद्या के पढ़ाने में दिया जाता था। फलतः सौन्दर्य-भावना का विशेष विकास न हो पाया। परन्तु राज-नियम के अध्ययन का बहुत प्रचार हुआ। इससे वकील-वर्ग की बड़ी उन्नति हुई। उनकी उपयोगिता का लोगों को ज्ञान होने लगा। फलतः राजनीति और कानून के क्षेत्र में कई प्रकार के सुधार सम्भव हो सके।

ङ—शिक्षा के अन्य स्थान

ऊपर हम देख चुके हैं कि मध्यकालीन विश्वविद्यालय और 'ग्रामर' स्कूल प्रधानतः आध्यात्म-विद्या तथा तर्क-शास्त्र में शिक्षा दिया करते थे। इन

संस्थाओं के अतिरिक्त उस समय कुछ अन्य संस्थायें भी थीं जिनका विभिन्न प्रकार की शिक्षा देने में बड़ा हाथ था। यहाँ हम उन्हीं का संक्षिप्त में वर्णन करेंगे।

वीरता की शिक्षा (शिवैलरी)—

उत्तर मध्यकाल में सामन्तों (नोबुल्स) का शासन-कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभुत्व था। उनका एक अलग वर्ग बन गया था। वे बड़े धनी होते थे। उनके पास बड़ी-बड़ी जागीरें हुआ करती थीं। उनकी सेवा अथवा सहायता में बहुत से नौकर तथा नाइट्स (वीर योद्धा) रहा करते थे। जिनके पास जितने ही नौकर या नाइट्स होते थे उनका उतना ही दबदबा माना जाता था। नवीं तथा दसवीं शताब्दी से देश के रक्षार्थ वीर योद्धाओं का एक अलग वर्ग तैयार हो गया था। इस वर्ग का नाम 'शिवैलरी' (शूरता) पड़ गया था। 'नाइट्स' इसी 'शिवैलरी' वर्ग के सदस्य हुआ करते थे। सामाजिक सेवा इनके जीवन का आदर्श था। प्रोफ़ेसर इर्नशा कहते हैं, "शिवैलरी युद्ध, धर्म और वीरता का मिश्रण था।" * 'नाइट्स' में अदम्य साहस, आत्माभिमान, आत्म-सम्मान तथा विनम्रता कूट-कूट कर भरी रहती थी। उनमें चर्च के प्रति भक्ति तथा आज्ञा-पालन की भावना थी। उनके सामाजिक गुणों में विनय और परोपकार प्रधान थे। ड्यूरे विक्टर के अनुसार किसी 'नाइट' का कर्त्तव्य "प्रार्थना करना, पाप से बचना, चर्च, अनाथ बच्चों तथा विधवाओं की रक्षा करना, दूर-दूर तक यात्रा करना, युद्ध करना, अपने स्वामी तथा स्वामिनी (लेडी और लार्ड) के लिये लड़ना' तथा अच्छे और सच्चे व्यक्तियों की बातें सुनना था' † परन्तु सभी 'नाइट्स' इन सब आदर्शों तक नहीं पहुँच पाते थे। कुछ में क्रूरता तथा मिथ्याभिमान दोनों ही आ गए थे। वे निर्बलों तथा अबलाओं की रक्षा मानवता के नाते न कर एक वर्ग विशेष के सदस्य होने के नाते करते थे। अतः उनमें चरित्र की कमी थी। 'नोबुल्स' के दरबारों के दुर्व्यसनों में वे भी भाग लिया करते थे। वे अपने से दुर्बलों को हेय दृष्टि से देखते थे। लड़ाई से सम्बन्ध रखनेवाला यह वर्ग दूसरे सामाजिक कर्त्तव्यों में कैसे हाथ बँटाता था यह समझना आजकल कठिन है। परन्तु मध्यकालीन योरोप में इनकी एक परम्परा बन गई थी और इनके यश-गान में गद्य और पद्य में रचनाएँ उस समय की गईं।

---

* "शिवैलरी एण्ड इट्स प्लेस इन हिस्ट्री, पृ० ३२।

† दी हिस्ट्री ऑव् द मिडिल एजेज़, पृ० २३२।

अब हम यह देखेंगे कि इनकी शिक्षा कैसे होती थी। 'सामन्त' घराने के बालक और बालिकायें विशेषकर बड़े पादरी, राजा तथा बड़े 'विशिष्ट सामन्त के दरबारों में शिक्षा पाते थे। इनकी शिक्षा कभी-कभी स्कूलों में भी होती थी। 'नाइट' की उपाधि पाने के पहले उन्हें चौदह वर्ष तक शिक्षा लेनी पड़ती थी। उनकी शिक्षा के दो भाग थे—'पेज' और 'स्कायर'। 'पेज' की शिक्षा सात वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होकर चौदह वर्ष की उम्र तक चलती थी। 'पेज' को पारिवारिक कार्यों में शिक्षा दी जाती थी। विशिष्ट सामन्त और विशिष्ट देवी (लॉर्ड ऐन्ड लेडी) की विभिन्न सेवा करना उन्हें सीखना पड़ता था। नम्रता के साथ बात करना, भोजन के समय कैसे व्यवहार करना इत्यादि शिष्टाचार की बातों की उन्हें शिक्षा दी जाती थी। मनोरंजन करने के लिये कभी-कभी उन्हें नाच और गाने में भी भाग लेना पड़ता था। 'पेज' की सात वर्ष की शिक्षा समाप्त हो जाने पर 'स्कायर' की शिक्षा प्रारम्भ होती थी। यह इक्कीस वर्ष की उम्र तक चलती थी। इसमें भाँति-भाँति की सैनिक शिक्षा दी जाती थी। सात वर्ष समाप्त हो जाने पर चर्च में निर्धारित उत्सव और प्रार्थना के बाद उन्हें 'नाइट' की उपाधि दी जाती थी। उन्हें अपने देश, धर्म तथा भाई के रक्षार्थ रुधिर बहाने की शपथ लेनी पड़ती थी। उपाधि के उपलक्ष में उन्हें एक तलवार प्रदान की जाती थी। प्रारम्भ में 'नाइट' के लिये पढ़ना आवश्यक नहीं माना जाता था। उनके मानसिक तथा बौद्धिक विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। उनकी शिक्षा हमेशा व्यावहारिक होती थी। अपनी जागीर की देख रेख के लिये उन्हें अपने व्यक्तिगत अनुभव से सब कुछ सीखना पड़ता था। दूसरों से काम करवा के अथवा स्वयं उसे करके वे अनुभव प्राप्त करते थे। बाद में फ्रेञ्च भाषा सीखने की उनमें प्रथा चल गई। धर्म के प्रधान सिद्धान्तों में भी उन्हें शिक्षा दी जाती थी। कभी-कभी 'उदार' कलाओं में भी वे अपनी रुचि दिखलाते थे।

२—महिलायें 'नन' या 'मिस्ट्रेस'—

'नोबुल' घराने की महिलायें भी सामाजिक कार्यों के लिये शिक्षित की जाती थीं। उनका सैनिक शिक्षा से कोई सम्बन्ध न था। वे किसी मठ की 'नन' (साध्वी) या किसी 'नोबुल' घराने की 'मिस्ट्रेस' (गृहिणी) हो सकती थीं। इन्हीं दो प्रकार की सेवा के लिये उन्हें शिक्षा दी जाती थी। उन्हें अपने घर का सारा प्रबन्ध करना सिखलाया जाता था। नाच, गाना तथा शिष्टता के सारे नियम उन्हें सीखने होते थे। रोगियों तथा बच्चों के सेवा कार्य में भी वे कुशल बनाई जाती थीं।

३—संघों में शिक्षा—

मध्यकालीन योरप में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये छोटे-छोटे 'संघ' (गिल्ड) स्थापित करने की प्रथा थी। ये संघ, धार्मिक, सामाजिक, व्यावसायिक तथा कला-सम्बन्धी हुआ करते थे। व्यक्ति अपने लाभ के लिये या समाज की सेवा हेतु 'संघ' का सदस्य हो जाया करता था। उस समय हस्तकला में बहुत उन्नति हो चुकी थी। धातु, चमड़े, शीशे, लकड़ी तथा पत्थर की वस्तुएँ बहुत सुन्दर बनाई जाती थीं। इनका व्यापार बड़ा लाभदायक था। कारीगरों और व्यापारियों के संघ अलग-अलग थे। इन पर सरकार का कुछ नियन्त्रण रहता था, परन्तु अधिकतर वे स्वतन्त्र ही होते थे। ये संघ अपनी कारीगरी में नवयुवकों को स्वयं शिक्षा देते थे। यह शिक्षा बहुत ही सफल होती थी। जो कारीगर किसी संघ का सदस्य नहीं होता वह अपने लड़के को स्वयं शिक्षा दे लेता था। कारीगरी में शिक्षा सात वर्ष की होती थी। शिक्षा पा लेने पर कारीगर अपना काम करने के लिये स्वतन्त्र हो जाता था। जो मजदूरी कर जीविका कमाते थे उन्हें "जर्नीमैन" कहा जाता था। जो दूकान खोल लेता था उसे 'मास्टर' कहते थे। इन संघों का मध्यकालीन शिक्षा-प्रसार में बड़ा हाथ था। एक तो वे दूसरे संघ के सदस्यों की समय पर आवश्यक सहायतायें किया करते थे। कारीगरों को शिक्षा देने तथा उनकी देखभाल करने में वे तनिक भी न हिचकते थे। दूसरे, 'ग्रामर' स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों की भी वे सहायता किया करते थे। विद्यार्थियों के रहने के लिये वे स्थान-स्थान पर 'हॉल' बनवा दिया करते थे। अध्यापकों के वेतन में भी वे योग देते थे। शिक्षाप्रद उत्सवों तथा नाटकों में भाग लेना उनके लिये साधारण बात थी। वकालत सिखाने के लिये भी कहीं-कहीं संघ स्थापित थे। ऐसे संघों में लन्दन के 'दी इन्स ऑव् द कोर्ट एण्ड ऑव् चैन्सरी' प्रधान थे। 'ग्रामर' स्कूल तथा विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद ही कोई 'इन्स' का सदस्य हो सकता था। भावी वकीलों को 'इन्स' में कुछ साल तक प्रसिद्ध वकीलों के सम्पर्क में रहना पड़ता था। वकालत-सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन करते हुये उन्हें वाद-विवाद में भाग लेना पड़ता था। इस प्रकार वकालत की शिक्षा पूरी समझी जाती थी। उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि इस व्यावसायिक शिक्षा में साहित्य के अंश की बहुत कमी थी। न तो उनका रूप वैज्ञानिक ही था और न सौहार्द्रपूर्ण। वे अपने वर्ग के दूसरे संघ की उन्नति सहन नहीं कर सकते थे। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनकी शिक्षा व्यावहारिक

क्षेत्र में पूर्ण रूप से सफल थी। शासन-कार्य, व्यापार, कृषि, कारीगरी इत्यादि में शिक्षा देकर उन्होंने सामयिक आवश्यकता पूरी की।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग में उच्च विद्या के प्रति अनुराग पैदा हो गया था। तेरहवीं शताब्दी से जो धारा चली वह पन्द्रहवीं तक प्राय: अविरल गति से चलती रही। हम देख चुके हैं कि लोग इस समय एकता का अनुभव करते थे। धर्म के क्षेत्र में पोप, राजनीति में 'होलीरोमन' सम्राट्, विद्या के क्षेत्र में विश्वविद्यालय, सामाजिक क्षेत्र में फ्यूडल (जमींदारी) प्रथा तथा आर्थिक क्षेत्र में संघ (गिल्ड) प्रथा का आधिपत्य निर्विवाद था। किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति को स्वतन्त्रता न थी। ऐसी स्थिति के विरोध में पन्द्रहवीं शताब्दी में एक लहर चली जिसे "पुनरुत्थान" कहते हैं। अगले अध्याय में हम इसी का अध्ययन करेंगे।

आपने ऊपर क्या पढ़ा ?

क—प्राचीन चर्च

१—ईसाई धर्म के प्रचार से नई जागृति और शिक्षा में नया दृष्टिकोण—

व्यक्तित्व और समाज का संगठन फिर से, सार्वभौमिकता का पाठ, यूनानी और रोमन आदर्श का विरोध, धर्म अब व्यक्तिगत, नैतिकता का जीवन में प्रधान स्थान, शिक्षा का आदर्श नैतिक विकास—बौद्धिक नहीं।

प्रारम्भ में चर्च की संरक्षता में स्कूलों का अभाव, पुराने स्कूलों में बच्चों को भेजने में अरुचि, 'क्राइस्ट' का बच्चों के प्रति प्रेम और सहानुभूति का सन्देश, माता-पिता उनकी शिक्षा के लिये उत्तरदायी, 'क्रिसोस्टम' के शिक्षा-विचार, अध्यापन-कार्य किसी वर्ग विशेष का नहीं, चर्च के सभी पदाधिकारियों का।

२—कैटेक्यूमेनल स्कूल (ईसाई धर्म और नैतिक सिद्धान्त सम्बन्धी शिक्षालय)—

ईसाई बनाने के पहले नये धर्म तथा नैतिक सिद्धान्तों से परिचय के लिये, दूसरी से पाँचवीं शताब्दी तक, नवीं शताब्दी के बाद बन्द।

३—कैटेकेटिकल स्कूल (प्रश्नोत्तर विश्वविद्यालय)—

यूनानी सभ्यता तथा विचार के निचोड़ को अपनाने की आवश्यकता, 'कैटेक्यूमेन्स' की शंका-समाधान के लिये 'कैटेकेटिकल' स्कूल की स्थापना, शिक्षा अध्यापक के घर पर, सभी उच्च विषयों की शिक्षा, पर ईसाई धर्म-सिद्धान्त प्रधान, नये धर्म की विस्तृत व्याख्या उनकी देन।

४—एपिसकोपल ऐण्ड कैथेड्रल स्कूल्स—

पादरी बनाने के लिए, पढ़ना-लिखना, संगीत तथा धर्म सिद्धान्तों में शिक्षा, संगीत के समावेश का बुरा प्रभाव।

५—स्त्री-शिक्षा—

पारिवारिक कार्य में निपुणता, विचार स्वातन्त्र्य नहीं, धर्म-पुस्तकों का पढ़ना प्रधान, संगीत तथा थियेटर में भाग नहीं।

ख—मठीय शिक्षा का प्रारम्भ

१—नये ईसाइयों को कष्ट और नये जीवन-आदर्श की उत्पत्ति—

नये ईसाइयों को बहुत कष्ट, फलतः धर्म के नाम पर प्राणोत्सर्ग कर देना आदर्श, कट्टर धर्मावलम्बी में आत्म-संयम और त्याग का भाव, मठीय जीवन व्यतीत करना, चारों ओर इसकी लहर, अपने शरीर को आध्यात्मिक विकास के लिये कष्ट देने वाले सन्त, सन्तों का समूह मठ में।

२—मठीय शिक्षा के नियम—

शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का साधन, सेण्ट बेनडिक्ट, मठ ईश्वर सेवा का स्थान-विनम्रता, यम-नियम, दानशीलता, शुद्धि तथा निस्पृहता, अपनी जीविका स्वयं चलाना, प्रतिदिन कुछ शारीरिक परिश्रम, गुणों का सदुपयोग, शिक्षा में शारीरिक परिश्रम का महत्त्व, कृषि, व्यापार तथा कलाओं के विकास में प्रोत्साहन, विद्याध्ययन में उन्नति, सामाजिक जीवन पर प्रभाव।

३—मठीय शिक्षा के उद्देश्य—

मठीय शिक्षा का प्रधान उद्देश्य शिक्षा-प्रचार न था पर शिक्षा-संचालन चर्च के ही नियन्त्रण में, सेण्ट ऑगस्टाइन और सेण्ट जेरोम के विचारों का शिक्षा-नीति पर प्रभाव, शिक्षा विशेषकर धर्म-शास्त्र और जीवनोपयोगी कलाओं में, उच्च विद्या को प्रोत्साहन नहीं, स्त्रियों को पुरुषों की भाँति स्वतन्त्रता नहीं।

४—मध्य युग के शिक्षा सम्बन्धी कुछ प्रधान लेखक—

मारटियनस कैपेला, बोथियस, कैशिओडोरस, चर्च के वातावरण में 'प्राचीन विद्या' का प्रकाश किया, साधुओं को साहित्य पढ़ना आवश्यक।

५—'सात उदार कलायें'—

इनका रूप रोमन, माध्यमिक युग में विशेषकर इन्हीं में शिक्षा, मठीय युग में धर्म-शास्त्र और उपयोगी कलाओं पर विशेष बल, व्याकरण का मान अधिक, व्याकरण के नियमों को रटना, संवादात्मक प्रश्नोत्तर द्वारा शब्द-चयन की वृद्धि, गद्य और पद्य में विद्यार्थियों द्वारा लेख।

भाषण-कला प्राप्ति पर विशेष बल नहीं क्योंकि शिक्षा का ध्येय अब धार्मिक, नैतिक और उपयोगिता था।

तर्क-विद्या में विशेष रुचि।

गणित तथा संगीत में रुचि कम, पर उच्च धार्मिक संगीत का प्रादुर्भाव, ग्यारहवीं सदी से गणित में रुचि।

६—मठों में शिक्षा—

पूर्व मध्ययुग में योरपीय राजनैतिक व सामाजिक स्थिति दृढ़ नहीं, शान्त जीवन बिताने के लिये बहुत से लोगों का मठ में आगमन, इनकी शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक, मठ ही अब विद्या तथा अन्वेषण का केन्द्र पर उसका प्रधान उद्देश्य धार्मिक और उपयोगिता, जिज्ञासा को प्रोत्साहन नहीं, साधारण रूप में पढ़ना, लिखना और गिनना, प्रारम्भ में केवल पादरी बनने वालों को ही शिक्षा पर बाद में दूसरों को भी।

ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में कुछ विद्यानुराग बढ़ा, पुस्तकालय, प्राचीन पुस्तकों की प्रतिलिपि, मठ मानसिक विकास के केन्द्र, सिस्टर्शियन अन्दोलन, विद्यानुराग में फिर कमी, कृषि, हस्तकला तथा व्यापार आदि में रुचि, मठ विभिन्न लोगों के मिलने का केन्द्र।

नवीं शताब्दी की शिक्षा की उन्नति में चार्ल्स महान् का प्रधान स्थान, प्रत्येक पादरी के लिये पढ़ना आवश्यक, शिक्षा-संचालन का उत्तरदायित्व मठों पर, संगीत, अङ्कगणित तथा व्याकरण पढ़ने का आयोजन, धर्म तथा उदार कलाओं में शिक्षा अलग-अलग, शिक्षा-प्रसार में एलक्विन का हाथ, सेण्ट बेनडिक्ट के नियमों के पालन पर बल, मठाधिकारियों का पद विद्वानों को ही, चार्ल्स के प्रोत्साहन से उच्च विद्या में रुचि।

रबनस मॉरस और जॉन द स्कॉट एलक्विन के दो बड़े शिष्य।

ग—विद्वद्वाद

विद्वद्वाद (स्कॉलस्टिसिजम्) का प्रादुर्भाव, बारहवीं शताब्दी में साहित्य का अध्ययन व्याकरण तथा भाषा विज्ञान की सहायता से, दर्शनशास्त्र, आध्यात्म-विद्या, अरस्तू के सिद्धान्तात्मक तर्क-विद्या का पुनरुद्धार, नीति तथा धर्म में चर्च प्रमाण, 'विवेक' ईश्वर प्रदत्त, 'विश्वास' ज्ञान से उत्तम, विद्वद्वाद का ध्येय सत्य की खोज।

१—प्लैतो और अरस्तू का प्रचार—

प्लैतो का विचार-सिद्धान्त, सांसारिक वस्तुएँ मिथ्या, परम सत्य का ज्ञान केवल विवेक से, प्लैतो को मानने वाले यथार्थवादी।

अरस्तू—केवल स्थूल वस्तुएँ ही सत्य, दूसरे विचार केवल नाममात्र, अरस्तू के मानने वाले 'नाममात्र वादी'—

विद्वद्वाद काल में यथार्थवाद का प्रभाव प्रधान।

२—विद्वद्वाद (यथार्थवाद) का शिक्षा पर प्रभाव—

अध्यात्म-विद्या को प्रमुख स्थान, दूसरे विषय केवल सहायक, तर्क-विद्या का मान, साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन, प्रकृति विज्ञान-शास्त्र केवल साधन, केवल अव्यावहारिक विषयों को पढ़ाया जाना, प्रश्नोत्तर-प्रणाली के स्थान पर तर्क-प्रणाली, बालक के मानसिक विकास पर ध्यान नहीं, व्याकरण की पुस्तक तर्कानुसार क्रम-बद्ध, विश्वविद्यालय की शिक्षा-पद्धति, तर्कानुसार विश्लेषण।

३—विकास—

एबेलर्ड 'विद्वद्वाद' काल का सच्चा पिता—उसकी रचनाओं से प्रोत्साहन, बाइबिल के मूल-सूत्रों के संकलन की प्रथा, 'यस ऐण्ड नो—तर्क-विद्या के प्रसार में सहयोग, पेरिस के स्कूलों को लोकप्रिय बनाया।

पीटर दी लॉमबॉर्ड की 'फ़ोर बुक्स ऑव् सेन्टेन्सेज़' का आध्यात्मिक अध्ययन में योग, 'दी ऑर्डर ऑव् द डोमिनिकन्स', दी ऑर्डर ऑव द फ्रैन्सिकन्स।

४—आलोचना—

'विद्वद्वाद' कालीन शिक्षा का उद्देश्य 'मठ' कालीन से भिन्न, बौद्धिक विकास की ओर, व्यावहारिकता की बलि, उनके विचारों का अस्थायित्व, पुनरुत्थान काल में उनकी अवहेलना, 'आध्यात्मवाद' की अभूतपूर्व उन्नति, उनकी उत्पत्ति समयानुसार ही।

घ—मध्य युग में विश्वविद्यालय—

१—विश्वविद्यालयों का विकास—

शताब्दियों से प्रगतियों के फलस्वरूप, 'विद्वद्वाद' कालीन आध्यात्म-विद्या, विद्या से आत्मिक शान्ति और सुख की आशा, औपनिवेशिक तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के न होने से विद्याध्ययन सर्वोत्कृष्ट उद्यम, चर्च के तत्वावधान में एकता का अनुभव, मठ और चर्च विद्या के केन्द्र, फ्रान्स और इंगलैण्ड में शान्ति, धार्मिक युद्धों से लोगों में विचार-विनिमय, विद्वानों के सम्पर्क से बौद्धिक जिज्ञासा, अरब विद्वानों का प्रभाव, उच्च विद्या-ध्ययन के लिये विभिन्न संस्थायें—जो कि विश्वविद्यालय के रूप में परिणित हो गईं।

२—सलर्नो विश्वविद्यालय—

चिकित्सा-शास्त्र का केन्द्र, अरब और यहूदी चिकित्सक, यहाँ ग्रीक साहित्य जीवित, सलर्नो के मठ विश्वविद्यालय के रूप में नहीं।

३—नेपुल्स विश्वविद्यालय—

सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय की राजनैतिक नीति के फलस्वरूप।

४—रोम विश्वविद्यालय—

५—बोलोना विश्वविद्यालय—

मठ, कैथड्रल तथा म्युनिसपल स्कूल, बोलोना में विदेशी विद्वान, उनकी रक्षा के लिये संस्थायें, इन संस्थाओं का विश्वविद्यालय के रूप में आना।

६—पेरिस, आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज——

७—विश्वविद्यालय के रूप—

विश्वविद्यालय भवन नहीं, पुस्तकालय और प्रयोगशाला, विदेशी विद्यार्थियों के रक्षार्थ संघ।

८—विश्वविद्यालय में शिक्षा—

व्यावसायिक शिक्षा, चिकित्सा, आध्यात्म-विद्या, राज-विधान-विद्या प्रधान, प्रान्तीयता की भावना नहीं, विश्व-बन्धुत्व, लैटिन प्रधान भाषा, अधिकारों की रक्षा के लिये पोप की ओर देखना।

९—विश्वविद्यालय में सुविधाएँ—

अपने लिये न्यायाधीश का स्वयं चुनना, कुछ करों से मुक्त, पुस्तकों के मूल्य निर्धारित करनी, विश्वविद्यालय को दूसरे स्थान पर हटाने की स्वतन्त्रता, अत्याचार के विरोध में कार्य स्थगित करना।

शिक्षा-कार्य केवल चर्च का ही, विभिन्न विषयों के अध्यापनार्थ अध्यापक तैयार करना विश्वविद्यालय का कर्त्तव्य, बैचलर, मास्टर और डाक्टर।

१०—विश्वविद्यालय की शिक्षण पद्धति—

भाषण, दोहराना, वादविवाद और परीक्षा, साधारण और असाधारण भाषण, वादविवाद की विधि 'विद्वद्वाद' कालीन, इसकी दो विधियाँ, परीक्षा की विधि मौखिक, उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण में परीक्षकों का बहुमत।

११—विश्वविद्यालय की पाठ्य-वस्तु—

स्वतन्त्र अन्वेषण की प्रथा नहीं, स्वीकृत की हुई टिप्पणियाँ और व्याख्यायें, बाइबिल, पीटर दी लॉमबार्ड, गैलेन, हिपोक्रेट्स, एविसेना, बार्थोलोम्यू तथा अरस्तू की रचनाओं का अध्ययन।

१२—विश्वविद्यालय में विद्यार्थी जीवन—

दीन से दीन और धनी से धनी, मनोरञ्जन का प्रबन्ध नहीं, अपनी शक्तियों का दुरुपयोग, स्त्रियों को स्थान नहीं, अपने रहने का प्रबन्ध स्वयं करना, संघ में रहना, 'मास्टर' संघ की देख-रेख में, धनिकों द्वारा 'हॉल' का निर्माण, 'हॉल' कॉलेज के रूप में बदल गए।

१३—उपसंहार—

अध्यापन में 'डाक्टरों' की रुचि कम, विद्यार्थियों में नियन्त्रण नहीं, स्वतन्त्र जिज्ञासा का अभाव, 'वादविवाद' तथा 'भाषण' प्रणाली से विघ्न, पर विश्वविद्यालय विद्या के प्रधान केन्द्र, झगड़ों में विश्वविद्यालयों की मध्यस्थता, व्यावहारिक शिक्षा, सौन्दर्य-भावना का विकास नहीं, 'राज्य-विधान, का अध्ययन, 'वकील-वर्ग' की उपयोगिता।

ङ—शिक्षा के अन्य स्थान

१—वीरता की शिक्षा (शिवैलरी)—

सामन्तों का शासन-कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभुत्व, वीर योद्धाओं का वर्ग 'शिवैलरी' में युद्ध, धर्म और वीरता भाव का मिश्रण, उनका आदर्श सामाजिक सेवा, शिवैलरी वर्ग के सदस्यों में कुछ चरित्रहीन।

वीरता की शिक्षा—

'पेज'—सात से चौदह, 'स्कवायर'—चौदह से इक्कीस, 'पेज' को विशिष्ट सामन्त और विशिष्ट देवी की सेवा में शिक्षा, स्कवायर को सैनिक शिक्षा, मानसिक तथा बौद्धिक विकास को ओर ध्यान नहीं, व्यावहारिक शिक्षा, फ्रेञ्च तथा धर्म के प्रधान सिद्धान्तों में शिक्षा।

२—महिलायें 'नन' या 'मिस्ट्रेस'—

मिस्ट्रेस की कौटुम्बिक प्रबन्ध में शिक्षा—

३—संघों में शिक्षा—

धार्मिक, सामाजिक, व्यावसायिक तथा कला-सम्बन्धी, हस्तकला की उन्नति, कारीगरों और व्यापारियों के संघ अपने सदस्यों को स्वयं शिक्षा देते थे, प्रायः स्वतन्त्र शिक्षा-प्रसार में इनका हाथ, ग्रामर स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों को सहायता, शिक्षाप्रद उत्सवों में भाग, वकालत का संघ लन्दन में 'इन्स', साहित्य की कमी, सामयिक आवश्यकता पूरी की।

मध्ययुग में संस्थाओं का आधिपत्य निर्विवाद, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं, इसी के विरोध में पुनरुत्थान।

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—'टेक्स्ट-बुक·······अध्याय, ५।
२—ग्रेवज़—'ए स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन'—अध्याय ५–११।
३—कबरली—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन'—अध्याय ५–६।
४— ,, —'रीडिङ्ग्ज़·········'—अध्याय ६–६।
५—एबी एण्ड ऐरोउड—'दी हिस्ट्री एण्ड फ़िलासोफी··········अध्याय १३–१८।
६—ग्रेव्ज़—'बिफ़ोर द मिडिल ऐजेज़'—अध्याय १३।
७— ,, —'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन ड्यूरिङ्ग द मिडिल एजेज़ ऐण्ड द ट्रान्जीशन टू मॉडर्न टाइम्स'।
८—हारनाक एडोल्फ़—'दी मिशन ऐण्ड एक्सपैन्शन ऑव् क्रिश्चियनिटी इन द फ़र्स्ट थ्री सेन्चुरीज' अनुवादक—जेम्स मॉफ़ैट, (न्यूयार्क)
९—हॉगसन—'प्रिमिटिव् क्रिश्चियन एडूकेशन (एडिनबरा, टी० एण्ड टी०)।
१०—मॉरिक़—'हिस्ट्री ऑव् क्रिश्चियन एडूकेशन' (न्यूयार्क, फ़ोर्डहम यू० प्रे०)।

११—ऐडम्स, जार्ज बर्टन—'सिविलज़ेशन ड्यूरिङ्ग द मिडिल एजेज़' न्यूयार्क, चार्ल्स स्क्रीवनर्स)।
१२—मैकडोनाल्ड, ऐ० जे० एम०—'अथॉरिटी ऐण्ड रीजन इन द मिडिल एजेज़' आक्सफोर्ड, यू० प्रे०)।
१३—सैण्डीज़ जे० ई०—'ए हिस्ट्री ऑव् क्लासीकल स्कॉलरशिप' (कैम्ब्रिज, यू० प्रे०)।
१४—हैसकिन्स, चार्ल्स होमर—'द रिनेसां ऑव् द ट्वैल्थ सेन्चुरी' (कैम्ब्रिज, हारवर्ड यू० प्रे०)।
१५— ,, ,, —'द राइज ऑव् यूनिवर्सिटीज़' (न्यूयार्क, हेनरी, हाल्ड एण्ड कं०)।
१६—शाचनर, नैथन—'द मेडिवल यूनिवर्सिटीज़' (लन्दन जार्ज, एलेन ऐण्ड अन्विन)।
१७—मेलर, डब्लू० सी०—'ए नाइट्स लाइफ़ इन द डेज़ ऑव् शिवैलरी (लन्दन, टी० वर्नर लॉरीज़)।

५

पुनरुत्थान काल (रिनेसां)

१—नई लहर

पुनरुत्थान का कारण बतलाना सरल नहीं। इस विषय में भिन्न-भिन्न विचार प्रगट किये गये हैं। हमें यहाँ केवल उसके शिक्षा पर प्रभाव से तात्पर्य है। अतः हमारा क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। वास्तव में 'वर्त्तमान शिक्षा' का प्रारम्भ इसी युग से होता है। उस समय जो-जो भावनाएँ विकसित हुईं उन्हीं का आज हम विस्तृत रूप देखते हैं। इसलिए शिक्षा के इतिहास के विद्यार्थी को उसके वास्तविक रूप को समझना आवश्यक है। 'पुनरुत्थान' की व्याख्या करते हुए जे० ए० साइमॉण्ड्स कहते हैं 'पुनरुत्थान' का इतिहास कला, विज्ञान, साहित्य अथवा राष्ट्र का इतिहास नहीं है। यह तो मनुष्य की चेतनावस्था में स्वतन्त्रता-प्राप्ति का इतिहास है जो कि योरोपीय जाति में स्पष्ट है।* कहने का तात्पर्य यह कि उसका सम्बन्ध योरोप के निवासियों के सम्पूर्ण जीवन से है। उसके साथ-साथ उनके व्यक्तित्व के विकास में एक नई लहर का संचार हुआ जिसके फलस्वरूप वे वर्त्तमान सभ्यता के युग में पहुँचे हुए हैं। हम कह चुके हैं कि मध्यकाल में ही इस पुनर्जागृति का कुछ-कुछ आभास हो रहा था। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से विद्वानों में एक नई रुचि पैदा हो रही थी। वे अध्ययन के आध्यात्मिक रूप से ऊब गए थे। कूप-मण्डूकता उन्हें खटक रही थी। वे विश्वविद्यालयों और चर्च के आधिपत्य से बाहर आकर अपनी साहित्यिक तृष्णा बुझाना चाहते थे। फलतः यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य में उनका अनुराग हुआ। कला और साहित्य को वे पुनः प्राचीन युग जैसा बनाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त उनमें कोमल भावनाओं का संचार हुआ। मध्ययुग का शुष्क जीवन उन्हें पसन्द न था। सौन्दर्य तथा प्रकृति में भी उनका अनुराग हुआ। वे विरक्ति को त्याग कर आसक्ति से ही अपने जीवन का आनन्द लेना चाहते थे। उस समय के नाइट्स की शूरता का आदर था। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उनके कारण शारीरिक

---

* 'रिनेसां इन इटैली, द एज़ ऑव् डेसपाटस'—१८८३—पृ० ४।

शक्ति प्राप्त करने के लिये लोगों में एक नया उत्साह आया। पहले शरीर को आत्मा का बन्दीगृह समझा जाता था। परन्तु अब ऐसा विचार न रहा। लोग शरीर को सुन्दर बनाने तथा जीवन-सुख भोगने के लिये लालायित हो गए। लोगों में भिन्न-भिन्न कल्पित विलासमय भावों का संचार होने लगा।

पूर्व से व्यापार बढ़ जाने के कारण इटली और फ्रान्स के कुछ लोग काफ़ी धनी हो चले थे। बड़े-बड़े सरदारों के दरबार में कलाकारों, संगीतज्ञों और साहित्यिकों का मान होने लगा था। विद्वानों को अन्वेषण करने के लिये सहायता देने की एक प्रथा आरम्भ हो गई थी। धार्मिक युद्धों तथा यात्राओं से लोगों में चारों ओर घूमने की एक प्रवृत्ति हो गई थी। भौगोलिक खोजों के कारण इसमें और भी प्रोत्साहन मिला। शुद्ध लैटिन के अतिरिक्त बहुत सी प्रादेशिक भाषाओं के प्रादुर्भाव से विद्या का प्रचार जोरों से बढ़ रहा था। इन भाषाओं में 'नाइट' द्वारा अपने यशोगान में कविता लिखवाने की प्रथा निकल गई थी। इसके अतिरिक्त दूसरे लोगों ने भी प्रादेशिक भाषाओं में कुछ रचनाएँ कीं। अपनी सौन्दर्य-भावना को व्यक्त करने के लिये कला के विभिन्न अंगों में पुनः अनुराग उत्पन्न हुआ। इस क्षेत्र में इटली के ल्योनार्डो ड विन्सी, माइकेल एञ्जिलो, रैफ़ेईल, कोरेंगियो तथा बेन-वेनुतो सेलिनी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। छापा कल के आविष्कार से पुस्तकें साधारण जनवर्ग के लिये भी सुलभ हो गईं। इससे विद्या तथा धर्म का बड़ा प्रचार हुआ। इन सब कारणों से योरोप में पुनरुत्थान हुआ। 'विद्या का पुनरुत्थान' प्रधानतः इटली से होता है, क्योंकि वह योरोप का राजनैतिक, धार्मिक और साहित्यिक केन्द्र था। परन्तु पुनरुत्थान की लहर पश्चिमी योरोप में भी साथ ही साथ दिखलाई पड़ी।

रैफ़ेईल।

२—इटली में पुनर्जागृति

इटली में प्राचीन सभ्यता का ध्वंशावशेष अब भी दिखलाई पड़ता था। उसे देख कर लोगों में मोहक भावनाओं का संचार होता था। अतः पुनरुत्थान का इटली से आरम्भ होना स्वाभाविक ही था। फ़्लोरेन्स बड़ा भारी विद्या, कला तथा साहित्य का केन्द्र था। इसलिये पुनरुत्थान की लहर वहीं से प्रारम्भ होती है। लैटिन का बोलना और समझना वहाँ और प्रदेशों से सरल था, क्योंकि उसका व्यवहार वहाँ प्रायः कुछ न कुछ सदा चलता ही रहा। पुनर्जागृति में इटली के प्रसिद्ध विद्वान् पेट्रार्क (१३०४–१३७४) का विशेष हाथ रहा। उसकी रचनाएँ पढ़ने से हमें उस काल की सभी प्रधान लहरों का पता लगता है। उसे प्राचीन कला तथा साहित्य से प्रेम था। उसने उन्हें फिर से उठाया। वह एक प्रसिद्ध कवि और विद्वान् था। सिसरो के साहित्य से उसे बचपन से ही प्रेम था। १३३३ ई० में उसे सिसरो का कुछ साहित्य मिला। तब से प्राचीन साहित्य को खोजने की उसे धुन सी सवार हो गई। कुछ दूसरे विद्वान भी प्राचीन साहित्य की खोज में जुट गये। इनमें बोकैशिओ, गुरिनो, फ़िलेल्फ़ो, पोगिओ और निकोली प्रधान हैं। इन विद्वानों ने योरोप में चारों ओर घूम-घूम कर प्राचीन साहित्य का पता लगाया। पोगिओ को स्विट्ज़रलैण्ड के सेण्टगॉल स्थान पर सिसरो का कुछ साहित्य और क्विन्टीलियन का "इनस्टीस्यूट्स ऑव् आरेटरी" मिला। प्राचीन साहित्य की खोज से विद्या के क्षेत्र में उतनी ही जागृति हुई जितनी कि कोलम्बस की खोज से व्यापार और उपनिवेश के क्षेत्र में। १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया के पतन के बाद बहुत से यूनानी विद्वानों के लौटने के कारण इटली में ग्रीक साहित्य की पुनर्जागृति हुई। परन्तु कठिन होने के कारण उसमें उतनी उन्नति न हुई जितनी लैटिन में। ध्यान देने की बात है कि इन सब पुनर्जागृति का विश्वविद्यालयों से कम सम्बन्ध था। इसको पोप, पादरी तथा बड़े-बड़े लॉर्ड के दरबारों से विशेष प्रोत्साहन मिलता था। इस सब खोजों के कारण प्राचीन साहित्य का पुस्तकालय भी फ़्लोरेन्स और रोम जैसे स्थानों में खुल गया। इस प्रकार साहित्य के अध्ययन का और भी अधिक प्रचार हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुनरुत्थान काल प्राचीन लैटिन-साहित्य के प्रेम से प्रारम्भ हुआ। पश्चात् यूनानी-साहित्य में भी प्रेम बढ़ गया। इस जागृति का रूप इटली में पश्चिमी योरोप से भिन्न था। इटली में यह केवल थोड़े धनिक तथा विद्वानों तक सीमित रहा। प्रारम्भ में साधारण जनवर्ग

इससे बहुत कम प्रभावित हुआ। परन्तु पश्चिमी योरोप में ऐसी बात न थी। वहाँ इसका रूप अधिक विकसित था। जनता तक नया सन्देश शीघ्र पहुँचाया गया। इटली में इसका रूप अधिकतर वैयक्तिक रहा। प्राचीन परम्परा से वहाँ इसका घनिष्ठतर सम्बन्ध दिखलाई पड़ता था परन्तु पश्चिमी योरोप में ऐसी बात नहीं। यहाँ व्यक्ति को आश्रय न देकर समाज को दिया गया। सब प्रकार से सामाजिक उन्नति की ओर ध्यान दिया गया।

३—पुनरुत्थान काल में शिक्षा का रुख

(१) मानवतावादी आदर्श—

'पुनरुत्थान' काल में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो लहरें आईं उनका संक्षेप में ऊपर उल्लेख कर दिया गया। इन लहरों का शिक्षा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि जीवन का आदर्श और शिक्षा से घनिष्ट सम्बन्ध है। अब हम इसी प्रभाव पर दृष्टिपात करेंगे। ऊपर हम देख चुके हैं कि मध्य-युग में शिक्षा-सिद्धान्त के विकास की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया। तब के कर्णधारों ने परम्परा के लपेट में रहना ही श्रेयस्कर समझा परन्तु पुनरुत्थान काल में ऐसी बात नहीं। पुनरुत्थान के फलस्वरूप शिक्षा का आदर्श बदल गया। यह नया आदर्श 'ह्यूमनिस्टिक' नाम से प्रसिद्ध है। ह्यूमनिस्टिक्' लैटिन के 'ह्यूमनिटास' शब्द से निकला है—इससे मानवता, शुद्धता, सुन्दर रुचि तथा उत्कर्ष का भाव उद्बोधित होता है। अब तक शिक्षा का नियन्त्रण प्रधानतः चर्च द्वारा होता रहा। विश्वविद्यालय तथा कुछ म्युनिसिपल स्कूल चर्च के नियन्त्रण में नहीं थे। बड़े-बड़े सरदारों के बच्चों की शिक्षा के लिये उन्हीं के घर में प्रबन्ध रहता था। ह्यूमनिस्टक् शिक्षकों को यह व्यवस्था ठीक नहीं जँची। वे शिक्षा को कौटुम्बिक जीवन की परम्परा पर चलाना चाहते थे जिससे शिक्षक और शिक्षार्थी में वही सम्बन्ध हो जो कि पिता और पुत्र में। उनको विश्वास था कि बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और भावनाओं के पूर्ण विकास के लिये उन्हें अपनी उम्र के दूसरे बालकों के साथ पढ़ना आवश्यक है। वे शिक्षा को चर्च के अन्तर्गत नहीं रखना चाहते। उन्होंने उसे साहित्यिकों के हाथ में सौंप दिया जिससे लैटिन और ग्रीक साहित्य का प्रचार हो सके क्योंकि उन्हीं के अध्ययन में वे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की आशा करते थे। इससे स्पष्ट है कि शिक्षा का उद्देश्य उनके अनुसार व्यक्तित्व का पूर्ण विकास था। वित्तोरिनो (१३७८-१४४६) जो ह्यूमनिस्टिक् अर्थात् मानवतावादी शिक्षा का प्रतिनिधि

कहा जाता है शिक्षा का उद्देश्य "नागरिक का पूर्ण विकास" समझता था। सभी प्रकार की शक्तियों को बढ़ाकर मानवतावादी शिक्षक व्यक्ति को जीवन-सुख देना चाहते थे। उनके जीवन-सुख के विश्लेषण में "यश, चर्च और राज्य में ईश्वर की सेवा, चरित्र, साहित्यिक शैली और ज्ञान" आते हैं। हम आगे देखेंगे कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये शिक्षा के किन साधनों की ओर उन्होंने संकेत किया है।

(२) स्त्री-शिक्षा की समस्या पर प्रभाव—

स्त्रियों की शिक्षा की ओर भी 'पुनर्जागृति' काल में ध्यान दिया गया। परन्तु इस विषय में परम्परा से पूर्णतः हटने का साहस किसी को नहीं हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में कुछ स्त्रियाँ विश्वविद्यालय में पढ़ाने लगीं थीं। सरदारों के दरबार में भी वे पहले से अधिक भाग लेने लगीं थीं। परन्तु समाज उन्हें पुरुष की समानता पर लाने के लिये अभी तैयार नहीं था। पुनरुत्थान की लहर में उनके उद्धार की ध्वनि नहीं सुनाई दी। परन्तु इतनी बात स्वीकृत कर ली गई थी कि बौद्धिक तथा भावनाओं के विकास में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ चल सकती हैं। इसलिए बहुत से मानवतावादियों की यह राय थी कि उन्हें गृह-कार्य में दक्ष बनाने के साथ-साथ पुरुषों की भाँति भाषा और साहित्य में भी शिक्षा दी जाय अर्थात् उनके भी पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर ध्यान देना चाहिये इसे सभी एक स्वर से मानते थे।

(३) पाठ्य-वस्तु का साधारण रूप—

हम देख चुके हैं कि 'पुनरुत्थान' काल में 'शरीर' की उन्नति की ओर सबका ध्यान गया। फलतः मानवतावादों का भी ध्यान शारीरिक शिक्षा की ओर जाना स्वाभाविक था। इस विषय में वे मठ-कालीन 'विद्वद्वाद' काल के शिक्षा के उद्देश्यों से सहमत न थे। वे रोमन और यूनानियों की भाँति शरीर की उन्नति करना चाहते थे। 'शिवैलरी' का उदाहरण उनके सामने था ही। अतः शारीरिक शिक्षा के लिये भाँति-भाँति के खेल और व्यायाम के वे पक्षपाती थे। इसको हम आगे पढ़ेंगे।

मानवतावादी शिक्षकों का नृत्य और संगीत के प्रति विचार बहुत उत्साहवर्द्धक न था यद्यपि वे प्राचीन ग्रीक और रोमन आदर्शों के अनुयायी थे। उनका विचार था कि संगीत के ज्ञान से व्यक्ति के आलसी तथा दुराचारी हो जाने का डर है। अतः अपने शिक्षा-क्रम में संगीत को उन्होंने बहुत ही साधारण स्थान दिया है।

प्रादेशिक भाषाओं के प्रति मानवतावादी (ह्यूमनिस्ट) उदासीन थे, क्योंकि वे उन्हें व्यक्ति के उत्कर्ष में सहायक नहीं मानते थे। लैटिन और ग्रीक के अध्ययन से ही पूर्ण विकास हो सकता है ऐसा उनका विश्वास था। अतः उन्होंने उनके व्याकरण पर बड़ा बल दिया। हम आगे देखेंगे कि इसका प्रभाव अच्छा न हुआ। शिक्षा शुष्क और अमनोवैज्ञानिक हो गई। इतिहास, अंकगणित और रेखागणित को स्थान दिया गया, परन्तु प्राकृतिक विज्ञान को उतना प्रोत्साहन न मिला। ज्योतिष की एक दम अवहेलना की गई। खगोल-विद्या को स्थान दिया गया। उपर्युक्त बातों से यह प्रतीत होता है कि 'पुनरुत्थान' काल के शिक्षक अपने पाठ्य-क्रम में कोई विशेष नवीनता न ला सके। मध्ययुग के मृतक लैटिन और 'सात उदार कलाओं' के स्थान पर वे दूसरी शुष्क वस्तुएँ ले आये। ऐसा कहना कुछ अंश तक ठीक हो सकता है, पर उनकी महत्ता तो शिक्षा-क्षेत्र में एक नई उमंग ले आने से है। उनके प्रभाव से शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्यशीलता दिखाई पड़ने लगी।

(४) नैतिक और धार्मिक शिक्षा—

नैतिक और धार्मिक शिक्षा का समाधान मानवतावादी के लिए सरल न था क्योंकि 'पुनरुत्थान' की लहर से उस समय इटली का नैतिक पतन हो रहा था। इसलिये इस ओर विशेष ध्यान दिया गया। धार्मिक भाव जागृत करने के लिये 'बाइबिल' से चुने हुये अंशों को स्मरण करने के लिए बालकों को दिया जाता था। प्रार्थना के समय भिन्न-भिन्न विधानों में उन्हें अच्छी तरह शिक्षा दी जाती थी। नैतिक क्षेत्र में आत्मसंयम और संवरण पर बल दिया गया। इनकी नीति में ग्रीक, रोमन, क्रिस्चियन तथा 'स्टोइक' * सिद्धान्त का मिश्रण था। वे शरीर को कष्ट नहीं देना चाहते थे। परन्तु वे स्वास्थ्य और सौन्दर्य वृद्धि के लिये आत्म-संयम को आवश्यक मानते थे।

(५) प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा—

'पुनरुत्थान' के प्रारम्भ में शिक्षा का विभाग 'प्राथमिक', 'माध्यमिक', 'उच्चतर' आदि निश्चित रूप से ठीक नहीं किया गया। शिक्षा चार-पाँच साल से प्रारम्भ की जाती थी। वर्णमाला का ज्ञान करा के प्रतिदिन नये-नये शब्दों की सूची याद करने के लिये दी जाती थी। कुछ शब्द-ज्ञान हो जाने के बाद व्याकरण

* स्टोइक सिद्धान्त मस्तीवाद (एपीक्यूरियनिज़म) का एकदम उलटा है। इसका प्रवर्तक ज़ेनो (३४०–२६० ई० पू०) का स्टोइक था। इसके अनुसार सुख-दुःख में कोई भेद नहीं। व्यक्ति को एकदम निस्पृह रहना है।

तथा छन्द इत्यादि के नियम याद कराये जाते थे। व्याकरण इत्यादि के कुछ बोध हो जाने पर कवियों की रचनाओं के अध्ययन तथा याद करने पर माध्यमिक काल के सदृश् बल दिया जाता था। इसके बाद उच्च साहित्य का अध्ययन साहित्य-प्रेम की दृष्टि से किया जाता था। परन्तु 'विद्वद्वाद' काल के सदृश् 'वाद-विवाद' में रुचि न ली जाती थी।

(६) बाल मनोविज्ञान पर कम ध्यान—

'पुनरुत्थान' काल में बालक-स्वभाव के अध्ययन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि उस समय तक मनोविज्ञान की उन्नति नहीं हो पाई थी। इस विषय में मानवतावादी अरस्तू के मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के अनुयायी थे। तीव्र स्मरण-शक्ति, प्रशंसा की इच्छा तथा दण्ड का भय अध्ययन के लिये बहुत ही उपयोगी माना जाता था। यह बहुधा कहा जाता है कि 'पुनरुत्थान' काल के शिक्षक विद्यार्थियों के वैयक्तिक भेद से परिचित नहीं थे। ऐसा सोचना ठीक नहीं क्योंकि वे मन्द और तीव्र बुद्धि के विद्यार्थियों के लिये अलग-अलग शिक्षा की व्यवस्था करते थे। आवश्यकता पड़ने पर पृथक-पृथक उन पर वे ध्यान भी देते थे। इसलिये कक्षा में वे अधिक विद्यार्थी नहीं रखते थे। वे उत्साह, आकांक्षा और स्पर्धा का भाव उत्पन्न कर विद्यार्थियों को आगे बढ़ाना चाहते थे। वे शारीरिक दण्ड देने के पक्षपाती नहीं थे। इन सब बातों से प्रतीत होता है कि मानवतावादियों को शिक्षा-मनोविज्ञान का ज्ञान कुछ अवश्य था परन्तु हम आगे देखेंगे कि पढ़ाने की उनकी प्रणाली अमनोवैज्ञानिक थी।

४—मानवतावादी (ह्यूमनिस्टिक) शिक्षा

(१) उद्देश्य—

'मानवतावादी' शिक्षा का उद्देश्य मध्यकालीन से एकदम भिन्न था, परन्तु दोनों की प्रणाली इतनी अमनोवैज्ञानिक थी कि यह कहना कठिन हो जाता है कि उनमें एक दूसरे से अच्छी कौन थी। 'मानवतावादी' शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का पूर्ण विकास था। यह परम्परावादी न थी। व्यक्ति को कला, साहित्य, राजनीति, सौन्दर्य तथा कुशल-व्यवहार आदि में निपुण बनाना इसका उद्देश्य था। साहित्य का तात्पर्य प्रधानतः प्राचीन साहित्य से ही समझा जाता था। इसलिये लैटिन और ग्रीक को प्रधानता दी गई।

(२) पाठ्य-वस्तु तथा पाठन-विधि—

मध्यकालीन शिक्षा-विशेषज्ञों की तरह मानवतावादी भी सबसे पहले बच्चे के पालन-पोषण पर ध्यान देते थे। बचपन में कोई बुरी आदत न पड़े इसके लिये नौकरों तथा शिक्षकों के चुनाव पर वे विशेष ध्यान देते थे। बच्चे की शिक्षा चार या पाँच साल पर प्रारम्भ कर दी जाती थी। 'उदार' कलाओं के सिद्धान्त पर शिक्षा का आधार रहता था। पढ़ना, लिखना और अंकगणित सीखने के साथ भजन तथा लैटिन के कुछ सुन्दर पदों को उन्हें पहले याद करना पड़ता था। उचित भावना तथा उत्साह उत्पन्न करने के लिये उन्हें रोम और यूनान की प्राचीन कथायें सुनाई जाती थीं। "वितोरिनो" बच्चों के लिये मनोरंजक शिक्षा-पद्धति का अनुसरण करना चाहता था परन्तु उसमें वह विशेष सफल न हो सका। क्विन्टीलियन के अनुसार 'रटने' पर विशेष बल दिया जाता था। प्रतिभा के विकास का यह अच्छा साधन माना जाता था। कुछ विद्यार्थियों को तो चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही वर्जिल और होमर की अनेक कवितायें याद हो जाती थीं। पढ़ने और लिखने में कुछ योग्यता प्राप्त हो जाने पर उन्हें लैटिन व्याकरण के सूत्र घोंटने पड़ते थे। कभी-कभी उन्हें दूसरों की रचनाओं को रट कर अथवा अपनी रचना को याद कर भाषण के रूप में सुनाना पड़ता था। इस प्रकार भाषण-कला में कभी-कभी शिक्षा दी जाती थी। गणित तथा भौतिक-शास्त्र को भी स्कूलों में स्थान दिया गया। वितोरिनो प्राचीन मिश्र की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार अंकगणित को खेल द्वारा पढ़ाना पसन्द करता था। परन्तु उसका यह प्रयास बहुत सफल न हो सका। पैडुवा के स्कूल में गणित और ज्योतिष साथ ही साथ पढ़ाई जाती थी। परन्तु वितोरिनो मन्तुआ के 'ला जियॉकोसा' (स्कूल) में गणित के साथ ज्योतिष न पढ़ाकर खगोल-विद्या पढ़ाना पसन्द करता था। पाठ्य-क्रम में इतिहास को भी स्थान दिया गया क्योंकि मानव जाति के समझने के लिये इतिहास का पढ़ना आवश्यक समझा गया। पर मानवतावादी इतिहास की पढ़ाई क्रम-बद्ध न कर सके क्योंकि इतिहास के प्रति उनकी दृष्टि आलोचनात्मक न थी। नैतिक दृष्टि से प्लुटार्क की जीवनी पढ़ाई जाती थी। कहीं-कहीं कर्टियस, वलेरियस तथा लिवी आदि की भी जीवनियाँ पढ़ाई जाती थीं संगीत-शिक्षा के लिये अध्यापक के चरित्र पर विशेष ध्यान रखा जाता था। वाद्य-संगीत, नृत्य तथा सामूहिक-संगीत (एक साथ मिलकर) में शिक्षा दी जाती थी। संगीत में योग्य विद्यार्थियों पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

(३) रचना-शैली, शारीरिक शिक्षा तथा कुछ शिक्षक व लेखक—

विद्यार्थियों की रचना-शैली पर भी ध्यान दिया जाता था। इसके लिये वर्जिल, सैनेका तथा जूवेनल इत्यादि की रचनायें आदर्श मानी जाती थीं। लैटिन की अपेक्षा ग्रीक को कम महत्त्व दिया गया था। इसका कारण उसकी क्लिष्टता भी थी। स्कूल में सात-आठ घण्टे तक पढ़ाई होती थी। इसलिये शारीरिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया था। मानवतावादी इस सम्बन्ध में प्राचीन परम्परा तथा "शिवैलरी" कला में सामञ्जस्य लाना चाहते थे। इसमें वितोरिनो प्रमुख था। उसका सिद्धान्त था कि एक प्रकार का काम करते-करते मस्तिष्क थक जाता है। इसलिये उसके लिये 'परिवर्त्तन' आवश्यक है। मानसिक परिश्रम के साथ उचित समय पर कुछ शारीरिक परिश्रम कर लेने से मानसिक विकास में उत्तेजना मिलती है। यह ध्यान देने की बात है कि मध्ययुग के सदृश् मानवतावादी शारीरिक उन्नति की अवहेलना नहीं करते थे। खेलना, कूदना, दौड़ना तथा घोड़-सवारी शारीरिक उन्नति के लिये ठीक समझा जाता था। इन व्यायामों के साथ सैनिक जीवन के लिये तैयार करने का भी ध्यान रक्खा जाता था। मानवतावादी स्कूलों में वितोरिनो का स्कूल सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। मन्तुआ के अतिरिक्त इटली में अन्य मानवतावादी स्कूल भी थे। इनमें 'फ़ेरारा' का स्कूल बड़ा प्रसिद्ध था। मन्तुआ के बाद इसी का नाम था। ग्वेरिना आव् वेरोना (१३७०—१४६१) इसका प्रधान था। वरजेरियस (१३४७—१४२०) इस काल का दूसरा शिक्षक था जिसने लैटिन साहित्य के प्रचार के लिये एक पुस्तक लिखी। डी अरेज़ो (१३६६—१४४४) स्त्री-शिक्षा का विशेष समर्थक था। अलबर्टी (१४०४—१४७२) इस काल का प्रसिद्ध चित्रकार, कवि, दार्शनिक और संगीतज्ञ था। इसने 'ऑन द केयर ऑव् द फ़ेमली' (कुटुम्ब की देख रेख पर) नामक शिक्षा-सम्बन्धी एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने शिक्षा की भिन्न-भिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला है। मफ़्यूस वेगिपस (१४०५—१४५८) मौलिकता के लिये नहीं, वरन् अपनी अन्वेषण-शक्ति के लिये प्रसिद्ध है। इसने प्राचीन शिक्षा-विशेषज्ञों की रचनाओं की सराहनीय खोज की।

(४) 'मानवतावादी' शिक्षा के दोष व गुण—

'मानवतावादी' शिक्षा-प्रणाली मनोवैज्ञानिक न थी। बच्चों के बुद्धि-विकास पर कम ध्यान दिया जाता था। मानों उन्हें एक तैयार किये हुए ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया जा रहा हो। स्वतन्त्र विचार के लिये कहीं स्थान न

था। समस्या का हल अपने आप निकालने का प्रोत्साहन कम दिया जाता था। पाठ्य-क्रम विशेषकर परम्परागत 'उदार' कलाओं के आधार पर था। अलबर्टी के शिक्षा-सिद्धान्त को छोड़ कर और कहीं निरीक्षण-शक्ति बढ़ाने की बात ही नहीं कही गई। प्राचीनता को अपनाने की लहर में उस काल के शिक्षकों में एक नई उमंग अवश्य आ गई। आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त के सदृश् वे बच्चों को भूतकाल के अनुभवों का उत्तराधिकारी अवश्य समझने लगे। परन्तु होमर, सिसरो और वर्जिल की प्रशंसा में वे इतने डूब गये कि बालक की आवश्यकता की बलि दे दी गई। स्कूल मशीन की तरह चलने लगे। बालक की अन्तर्निहित कोमल भावनाओं को पहचानने का प्रयत्न न किया गया। लैटिन पर इतना बल दिया गया कि कुछ मानवतावादी माता-पिताओं को घर में भी बालक से लैटिन में ही बातचीत करने की सलाह देते थे। जो पुस्तकें सिसरो की भाषण-प्रणाली के अनुसार नहीं थीं उन्हें पढ़ना व्यर्थ समझा जाता था। बालकों के प्रति शिक्षक का व्यवहार मध्ययुग से कुछ नरम अवश्य था। शारीरिक दण्ड देना ठीक नहीं समझा जाता था। मेफियो (ह्यूमनिस्ट) कहता है कि बच्चों को पीटना नहीं चाहिये। यदि उन्हें डराना हो तो उनके सामने नौकरों को पीटना चाहिये। उनमें साहस तथा नैतिक बल उत्पन्न करने के लिए फाँसी पर चढ़ते हुये या जलते हुये मनुष्य को उन्हें दिखलाना चाहिये। (उस समय बड़े-बड़े अपराधियों को सर्व साधारण की उपस्थिति में दण्ड दिया जाता था।) मानवतावादी यह नहीं समझ सके कि इससे बालक की कोमल भावनाओं पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवतावादी का आदर्श बड़ा ऊँचा था। व्यक्तित्व के पूरे विकास की ओर उनका ध्यान था परन्तु अपने आदर्शों के अनुसार वे चल न सके। समय की आवश्यकता समझे बिना वे प्राचीनता के अमनोवैज्ञानिक अनुकरण में लग गए। समाज-हित की ओर कुछ ध्यान ही नहीं दिया गया। व्यक्तित्व के विकास की ओर भी केवल अधूरा ध्यान दिया गया। प्रणाली अमनोवैज्ञानिक होने के कारण व्यक्तित्व के विकास में योग न दे सकी। आत्म-निर्भरता को प्रोत्साहन न मिलने से अपने से सौन्दर्य-अनुभूति नहीं हो सकती थी। प्रणाली बच्चों को केवल समय के प्रवाह में साधारण जीवन बिताने के योग्य ही बना सकी। सत्तरहवीं शताब्दी में मानवतावादी शिक्षा-पद्धति में दोष आने लगे। "मानवता, शुद्धता, सुन्दर रुचि तथा उत्कर्ष" के आदर्श को भुला दिया गया। स्कूल की पढ़ाई केवल लैटिन तथा ग्रीक भाषा और साहित्य ही तक सीमित हो गई। साहित्य में सभी बालकों की रुचि नहीं होती। इसलिये

मानवतावादी स्कूलों की शिक्षा मध्य-कालीन शिक्षा के ही समान अमनोरंजक हो गई। उस समय प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति प्रारम्भ हो गई थी। बालक प्रादेशिक भाषाओं में अपने भाव तथा विचारों को भली-भाँति प्रगट कर सकते थे। इन भाषाओं की अवहेलना की गई। शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार यह ठीक न था। प्राचीन साहित्य के प्रेम में शिक्षक इतने पगे हुये थे कि मानो उसे घोंट कर अपने विद्यार्थियों को पिला देंगे। उनकी 'रटाने' की पद्धति बड़ी ही शुष्क थी। मानवतावादी नैतिक शिक्षा एकदम असफल रही। उस समय इटली में जो नैतिकता का ह्रास हो रहा था उसको वह रोक न सकी। धर्म के विषय में शिक्षकों का ध्यान आध्यात्मिक विकास की ओर न था। उसमें वे विधान तथा सौंदर्य की रक्षा करना चाहते थे। मानवतावादी शिक्षा जनवर्ग के लिए सुलभ न होसकी। शिक्षकों का ध्यान विशेषकर धनी लोगों के बालकों की ही शिक्षा पर था। थोड़े धनी बालकों की शिक्षा से समाज का कल्याण नहीं हो सकता था।

(५) मानवतावादी शिक्षा का प्रभाव—

मानवतावादी शिक्षा-सिद्धान्त का प्रभाव योरोप में प्रायः उन्नीसवीं शताब्दी तक रहा। इसके बीच में कमेनियस, रूसो, पेस्टॉलॉज़ी आदि शिक्षकों ने अपनी ध्वनियाँ अवश्य उठाईं—पर उनका विशेष प्रभाव न पड़ सका। पुन-रुत्थान के बाद ही योरोप में सभी स्थान में मानवतावादी सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा दी जाने लगी। विश्वविद्यालयों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। वहाँ लैटिन और ग्रीक पढ़ाने पर पहले से भी अधिक बल दिया गया। परन्तु पुरानी परम्परा एकदम बदली न जा सकी। पन्द्रहवीं शताब्दी में इटली तथा फ्रान्स के विश्वविद्यालयों में ग्रीक की भी पढ़ाई प्रारम्भ कर दी गई। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते होते जर्मनी तथा इङ्गलैण्ड में पुनर्जागृति का प्रभाव पहुँच गया। ऑक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज में इरैसमस के कारण मानवतावादी सिद्धान्तों का बहुत ही प्रचार हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी में भी मानवतावादी स्कूल स्थापित होने लगे। ये 'जिमनैज़ियम' नाम से प्रसिद्ध हुये। इङ्गलैण्ड के 'पब्लिक स्कूल' और अमेरिकन उपनिवेश के 'ग्रामर' स्कूल मानवतावादी शिक्षा सिद्धान्त पर ही चल रहे थे। ये सभी स्कूल ऊपर दी हुई प्रणाली के अनुसार चल रहे थे। सभी में ग्रीक और लैटिन का प्राधान्य था। उपर्युक्त सभी गुण और दोष उनमें विद्यमान थे।

५—इरैसमस (१४६७-१५३६)

(१) उसका जीवन—

इरैसमस का जन्म हॉलैण्ड में हुआ था। 'पुनरुत्थान' काल के विद्वानों में वह सबसे प्रसिद्ध है। उसका प्रारम्भिक जीवन कष्टमय था। उसके पिता ने स्वार्थवश मठ में मॉङ्क बनने के लिये उसे विवश किया। परन्तु वहाँ का जीवन उसे पसन्द न आया। ज्ञानार्जन के लिये उसकी आत्मा व्याकुल हो उठी। प्राचीन साहित्य के प्रति उसका विशेष प्रेम था। इटली, फ्रान्स तथा इङ्गलैण्ड में रहकर उसने लैटिन और ग्रीक का गम्भीर अध्ययन किया। पुस्तकों से उसे प्रेम हो गया। वह अपनी बौद्धिक स्वतन्त्रता के लिये सब कुछ न्यौछावर करने के लिये तैयार हो गया। सोलहवीं शताब्दी में आध्यात्म-विद्या का वह सबसे बड़ा विद्वान् था। लूथर और इरैसमस में पहले बड़ी मित्रता थी। परन्तु बाद में सैद्धान्तिक विरोध से दोनों एक दूसरे के शत्रु हो गये। इरैसमस एक बहुत बड़ा समाज-सुधारक कहा जा सकता है। उसकी सभी रचनाएँ सामाजिक कुरीतियों की ओर संकेत करते हुए उन्हें दूर करने का उपाय बताती हैं। उसने बहुत-सी ग्रीक और लैटिन पुस्तकों का नया संस्करण कर विद्या का चारों ओर प्रचार किया। उसके पत्र-व्यवहार भी मनोरञ्जक तथा शिक्षा-प्रद हुआ करते थे। वह एक अच्छा अध्यापक भी था। उसने लैटिन और ग्रीक की कई पाठ्य-पुस्तकें बनाई। बाइबिल का उसका लैटिन और ग्रीक संस्करण मानवतावादी स्कूलों में अधिक प्रचलित हुआ।
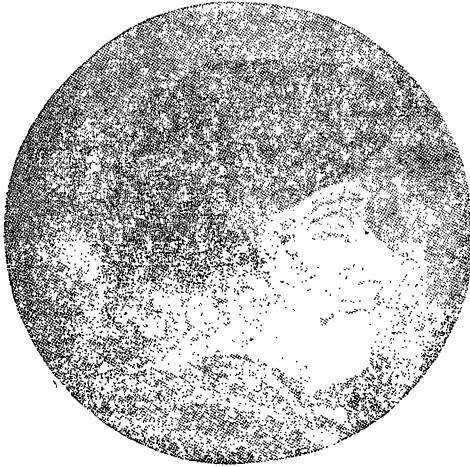
इरैसमस

(२) इरैसमस के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य—

इरैसमस के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को ज्ञान, सत्यता तथा

स्वतन्त्र निर्णय करने की शक्ति देना है। वह मानवतावादी शिक्षा का पक्का प्रतिनिधि है। उसकी सभी रचनाओं में पुनर्जागृति के भाव भरे पड़े हैं। वह राष्ट्र राष्ट्र में कोई भेद नहीं मानता था। उसके अनुसार सभ्यता के विकास में जिसने जितना भाग लिया है उसकी उतनी उन्नति हुई। शिक्षा के क्षेत्र में इरैसमस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। वह शारीरिक दण्ड देने के विरुद्ध था। उसके अनुसार अध्यापक को, बालक के स्वभाव का अध्ययन कर उसके लिये उपयुक्त शिक्षा का आयोजन करना चाहिये। इस आयोजन में वह अरस्तू, प्लूटार्क तथा क्विन्टीलियन का समर्थक है। शारीरिक शिक्षा की ओर भी उसका ध्यान था। परन्तु अन्य जर्मन मानवतावादी के सदृश् मानसिक उन्नति की ओर उसका विशेष ध्यान था। उसका ध्यान व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर था। व्यक्ति में अनुकरण करने की शक्ति, आकांक्षा तथा स्पर्धा-भावना वर्तमान रहती है। शिक्षक का यह कर्तव्य है कि इन सबको प्रोत्साहन दे, जिससे शिक्षार्थी का पूर्ण विकास हो सके। पूर्ण विकास के लिये सभी गुणों के विकास की ओर ध्यान देना चाहिये। वह हरबार्ट की तरह 'बहु-रुचि' की वृद्धि का उल्लेख करता है। परन्तु इस वृद्धि को वह प्राचीन 'साहित्य' के अध्ययन में ही सीमित पाता है। उसकी समझ से 'प्राचीन साहित्य' सभी प्रकार से परिपूर्ण है। उससे व्यक्ति की सभी भावनाओं का विकास सम्भव है। 'दी कॉलॉकीज़', 'दी सिसेरोनियन्स', ''मेथड ऑव् स्टडी'' तथा 'लिबरल एडूकेशन ऑव् चिल्ड्रेन' शिक्षा-सम्बन्धी उसकी प्रधान रचनायें हैं। उसकी इन पुस्तकों का प्रभाव जितना योरोपीय शिक्षा पर पड़ा उतना बहुत कम लेखकों की रचनाओं का पड़ा है।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

१—नई लहर

वर्तमान शिक्षा का प्रारम्भ पुनरुत्थान काल से, मध्यकालीन शिक्षा के आध्यात्मिक रूप से विद्वान् ऊब गये; यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य में अनुराग, कोमल भावनाओं का संचार, सौन्दर्य तथा प्रकृति के प्रति प्रेम, जीवन सुख की कामना, शारीरिक शक्ति प्राप्त करने की लहर, शरीर आत्मा का बन्दीगृह नहीं, कल्पित विलासमय भावों का उद्धार।

इटली और फ्रान्स के धनी लोगों के दरबार में कलाकारों का मान, अन्वेषण के लिये विद्वानों को सहायता, चारों ओर घूमने की प्रवृत्ति, भौगोलिक खोज, प्रादेशिक भाषाओं की उत्पत्ति, कला में अनुराग, 'छापा-कल', 'पुनरुत्थान' इटली से।

२—इटली में पुनर्जागृति—

पुनरुत्थान की लहर फ्लोरेन्स से, पेट्रार्क को प्राचीन रोमन साहित्य खोजने की धुन, यूनानी विद्वानों का १४५३ में इटली में आना, विश्वविद्यालयों से कम सम्बन्ध, पुस्तकालयों की स्थापना।

इटली में पुनरुत्थान वैयक्तिक तथा सीमित, पश्चिमी योरोप में इसका रूप सामाजिक।

क—पुनरुत्थान काल में शिक्षा का रुख—

१—मानवतावादी आदर्श—

शिक्षक विद्यार्थी में वही सम्बन्ध जो पिता-पुत्र में, अपनी उम्र के बालकों के साथ पढ़ना, शिक्षा को चर्च से साहित्यिकों के हाथ में सौंपना, लैटिन तथा ग्रीक साहित्य के अध्ययन में व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव, जीवन-सुख, यश, चर्च और 'राज्य' में ईश्वर की सेवा, शैली तथा ज्ञान।

२—स्त्री-शिक्षा की समस्या पर प्रभाव—

परम्परा से हटने का साहस नहीं, पुरुष की समानता पर नहीं, बौद्धिक तथा भावनाओं के विकास में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ, गृहकार्य में दक्षता, भाषा और साहित्य की शिक्षा, उनके भी व्यक्तित्व का पूर्ण विकास।

३—पाठ्य-वस्तु का साधारण रूप—

'मठीय' तथा 'विद्वद्वाद' काल से भिन्न, रोमन और यूनानियों की भाँति।

संगीत को बहुत साधारण स्थान।

प्रादेशिक भाषाओं के प्रति उदासीनता, पाठ्यक्रम में विशेष नवीनता नहीं; उनकी महत्ता शिक्षा-क्षेत्र में नया उमंग ले आने में, अभूतपूर्व कार्यशीलता।

४—नैतिक और धार्मिक शिक्षा—

समस्या सरल नहीं, इटली का नैतिक पतन, धार्मिक, बाइबिल के चुने हुए अंश याद करना, विभिन्न विधानों में शिक्षा।

नैतिक—आत्म संयम और संवरण पर बल, ग्रीक, रोमन, क्रिश्चियन तथा स्टोइक सिद्धान्तों का मिश्रण।

५—'प्राथमिक', 'माध्यमिक', और उच्चतर शिक्षा—

निश्चित नहीं।

६—बाल मनोविज्ञान पर कम ध्यान—

अरस्तू का मनोविज्ञान, व्यक्तिगत भेद की पहचान, उत्साह, आकांक्षा और स्पर्धा का भाव।

४—मानवतावादी (ह्यूमनिस्टिक) शिक्षा

१—उद्देश्य—

मध्यकालीन उद्देश्य से भिन्नता, व्यक्ति का पूर्ण विकास, कला, साहित्य, संगीत, राजनीति, सौन्दर्य तथा कुशल व्यवहार में निपुणता, लैटिन और ग्रीक साहित्य को प्रधानता।

२—पाठ्य-वस्तु तथा पाठन विधि—

नौकरों तथा शिक्षकों के चुनाव में ध्यान, 'उदार' कलाओं पर शिक्षा आधारित, पढ़ना, लिखना, अंकगणित लैटिन के कुछ सुन्दर पदों को याद करना, रोम और यूनान की प्राचीन कथायें—क्विन्टीलियन के अनुसार 'रटना', लैटिन व्याकरण को रचना, भाषण-कला में भी कभी-कभी शिक्षा, भौतिकशास्त्र और खगोलविद्या, अंकगणित खेलों द्वारा, इतिहास, प्लुटार्क की जीवनी नैतिक शिक्षा के लिए, वाद्य संगीत, नृत्य तथा सामूहिक संगीत।

३—रचना-शैली शारीरिक शिक्षा तथा कुछ शिक्षक और लेखक—

वर्जिल, सेनेका, जूवेनल की रचनायें आदर्श, सात-आठ घण्टे तक पढ़ाई, शारीरिक शिक्षा—प्राचीन परम्परा और शिवैलरी में सामञ्जस्य, खेलना, कूदना, दौड़ना और घोड़-सवारी, सैनिक जीवन के लिये तैयारी, इटली के कुछ मानवतावादी शिक्षक।

४—'मानवतावादी' शिक्षा के दोष व गुण—

बुद्धि विकास पर ध्यान कम, स्वतन्त्र विचार के लिये स्थान नहीं, निरीक्षण-शक्ति को प्रोत्साहन नहीं, बालक की आवश्यकता की बलि, स्कूल मशीन की तरह, लैटिन पर अनुचित बल, सिसरो की प्रणाली सर्वश्रेष्ठ, शिक्षक का व्यवहार नरम, शारीरिक दण्ड नहीं।

आदर्श ऊँचा पर कार्यान्वित नहीं, प्राचीनता का अमनोवैज्ञानिक अनुकरण, समाज-हित की ओर ध्यान नहीं, व्यक्तित्व का विकास अधूरा, सौन्दर्य की स्वानुभूति कठिन, आगे चलकर स्कूल की पढ़ाई केवल लैटिन और ग्रीक साहित्य तक ही सीमित, प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना, मानवतावादी नैतिक शिक्षा असफल, धार्मिक शिक्षा में आध्यात्मिक विकास नहीं, जनवर्ग के लिये सुलभ नहीं।

५—मानवतावादी शिक्षा का प्रभाव—

योरोप में उन्नीसवीं शताब्दी तक विश्वविद्यालयों पर विशेष प्रभाव, जर्मनी के जिमनेज़ियम, इङ्गलैण्ड के पब्लिक स्कूल, अमेरिकन उपनिवेश के 'ग्रामर' स्कूल।

५—इरैसमस (१४६७–१५३६)

१—उसका जीवन—

ज्ञानार्जन के लिये आत्मा व्याकुल, बौद्धिक स्वतन्त्रता, आध्यात्म-विद्या का सबसे बड़ा विद्वान्, समाज-सुधारक, ग्रीक और लैटिन पुस्तकों का नया संस्करण, उसके

पत्र-व्यवहार शिक्षा-प्रद, व्याकरण की पाठ्य-पुस्तक, बाइबिल का लैटिन और ग्रीक संस्करण।

२—इरैसमस के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य—

ज्ञान, सभ्यता तथा स्वतन्त्र निर्णय, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्षपाती, शारीरिक दण्ड के विरुद्ध, बालक स्वभाव का अध्ययन आवश्यक, शारीरिक शिक्षा का विरोधी नहीं पर मानसिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान, व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, 'बहु-रुचि' वृद्धि, शिक्षा के लिये प्राचीन साहित्य सभी प्रकार परिपूर्ण।

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—'टेक्स्टबुक.......अध्याय, ६।

२—ग्रेव्ज़—'ए स्टूडेण्ट्स.......अध्याय, १२।

३— ,, —'ड्यूरिंग द ट्रान्ज़ीशन'—अध्याय ११–१४।

४—साइमॉन्स, जे० ए०—'रिनेसां इन इटैली'—अध्याय ३–८।

५—कबरली—हिस्ट्री............'अध्याय १०–१२।

६— ,, —'रीडिङ्ग्ज़.......'अध्याय १०–१२।

७—एबी एण्ड ऐरोउड—'दी हिस्ट्री.......' अध्याय २०।

८—उडवर्ड, डब्लू० एच०—स्टडीज़ इन एडूकेशन ड्यूरिङ्ग द एज़ ऑव् रिनेसां' (कैम्ब्रिज यू० प्रे०)।

९—क्विक—'एजूकेशनल रिफ़ॉमर्स'—अध्याय १–२।

१०—उलिच—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशनल थॉट', पृष्ट १०२–११३, १३०–१४८।

६

सुधार काल

१—सुधार काल (रिफॉर्मेशन पीरियड) का शिक्षा पर प्रभाव

(१) नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्र—

पुनरुत्थान के कारण नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में सुधार की प्रवृत्ति बहुत दिनों से उत्पन्न हो गई थी। लूथर के बहुत पहले ही फ्रान्स, जर्मनी तथा इंगलैण्ड में सुधार की ध्वनि उठ चुकी थी । हम कह चुके हैं कि पश्चिमी तथा उत्तरी योरोप में पुनरुत्थान का रूप दूसरा था। इटली में यह वैयक्तिक था परन्तु अन्य स्थानों में इसका रूप सामाजिक था। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि सुधार की लहर जर्मनी से उठी। 'चर्च' में कई प्रकार के दोष आ गये थे। वह बाह्याडम्बर के लपेट में वास्तविकता खो बैठी थी। विद्या के प्रचार से बाइबिल सबको सुलभ हो गई थी। जनवर्ग उसे पढ़कर 'चर्च' के दोषों को समझ सकता था। लूथर तथा कैलविन आदि के आन्दोलन से धार्मिक बातों में चर्च के पादरियों का अधिकार न मानकर 'बाइबिल' का माना गया । परम्परागत धर्म के रूप को बदल कर आडम्बर के बदले सचाई को स्थान दिया गया। व्यक्ति को बाइबिल पढ़ने तथा धार्मिक बातों में अपने निर्णय मानने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई। सुधार के फलस्वरूप सब को यह ज्ञात हो गया कि अपने पापों से उद्धार के लिये व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। पापों से उद्धार अपने अच्छे कर्मों से ही हो सकता है, न कि चर्च-पादरी के आशीर्वाद से। धर्म अथवा आध्यात्मिकता की कुञ्जी प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में सौंप दी गई। चर्च को ही दैवी शक्ति तथा पवित्रता का एक मात्र स्थान नहीं माना गया, वरन् व्यक्ति भी अपने कार्यों से अपने में दैवी शक्ति के विकास का अनुभव कर सकता है। सर्व साधारण के लिये ऐसा विचार बहुत ही नया था। सबकी आँखें खुलीं। अपने-अपने विकास के लिये सब लोग सचेत हो उठे। फलतः शिक्षा के क्षेत्र का विकसित होना अनिवार्य हो गया। प्राचीन तथा मध्यकाल में शिक्षा केवल नेताओं के लिये आवश्यक मानी जाती थी। परन्तु शिक्षा अब प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार मानी जाने लगी। इस नये विचार के आने से सार्व-

लौकिक शिक्षा का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे आगे चलकर यह विश्वास हो गया कि 'राज्य-हित' के लिये प्रत्येक नागरिक की शिक्षा आवश्यक है।

(२) शिक्षा का रूप—

परन्तु सुधारक अपने सिद्धान्तों को शिक्षा-क्षेत्र में कार्यान्वित न कर सके। यही कारण है कि सुधार युग की शिक्षा 'मानवतावादी' प्रणाली के समान ही रह गई। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा विचार-स्वातन्त्र्य आदि आदर्श केवल कहने के लिये ही थे। साहित्य, कला, संगीत तथा प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन द्वारा उन्हें प्रोत्साहन न दिया जा सका। व्यक्ति की स्वतन्त्रता संस्थाओं में अटक गई। सुधारकों में कई दल हो गए। वे अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा का प्रचार करने लगे। शिक्षा की दृष्टि से लूथर तथा 'जेसुइट आर्डर' का विशेष महत्त्व है। सुधार की लहर को रोकने के लिये "आर्डर ऑव् जीसस" की स्थापना की गई। 'आर्डर' के अपने अलग शिक्षा सिद्धान्त थे। नीचे इन सब पर हम दृष्टिपात करेंगे।

(३) जर्मनी—

छापाकल के आविष्कार से सभी प्रकार की पुस्तकों की संख्या बढ़ गई। बाइबिल सबके हाथ में पहुँच गई। सभी सुधारकों ने बाइबिल पढ़ने पर बहुत बल दिया। लूथर ने १५२२ ई० में बाइबिल का जर्मन में सरल अनुवाद किया। १५४१ ई० में जॉन कैलविन ने 'इन्स्टीट्यूट्स ऑव् क्रिश्चियानिटी' निकाली। इंगलैंड में टिनडेल ने १५२६ में न्यू टेस्टामेण्ट का अनुवाद किया। इन सब रचनाओं के कारण प्रादेशिक भाषायें बहुत लोकप्रिय हो गईं। स्कूलों में उनके पढ़ाने की मांग होने लगी। परन्तु यह मांग अच्छी तरह पूरी न की जा सकी। स्कूलों में इन भाषाओं को स्थान अवश्य मिला। परन्तु प्रधानता लैटिन और ग्रीक को ही दी गई क्योंकि बाइबिल समझने के लिये इन भाषाओं का पढ़ना आवश्यक समझा जाता था। जर्मनी में शिक्षा पर सुधार का प्रभाव शीघ्र हुआ। धीरे-धीरे शिक्षा पर से चर्च का नियन्त्रण छीन लिया गया। स्कूल छोटे-छोटे राज्यों के हाथ में आ गये। शिक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व राज्य पर माना गया। सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए देश भर में प्राथमिक स्कूल फैल गये। इनमें पढ़ने, लिखने धर्म तथा चर्च संगीत में शिक्षा दी जाती थी। शहरों में उच्च शिक्षा के लिये लैटिन स्कूल खोले गये। इनके बाद 'हायर (उच्च) लैटिन' स्कूलों की श्रेणी थी, तब विश्वविद्यालय

की। सत्तरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही वाइमर राज्य ने सबसे पहले सभी वर्ग के बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त स्वीकार किया। छः साल से बारह साल तक शिक्षा सब के लिये अनिवार्य कर दी गई। विद्यार्थियों की अनुपस्थिति के लिये अभिभावकों को आर्थिक दण्ड देने का नियम कर दिया गया। परन्तु पाठ्य-वस्तु प्रायः पहले ही जैसी रखी गई। स्कूलों में धार्मिक भावना का प्राधान्य था। पादरियों की ऊँची शिक्षा के लिये कुछ स्कूल और, विश्व-विद्यालय पुनः संगठित किये गये। प्राथमिक शिक्षा के लिये जर्मनी भर में छोटे-छोटे स्कूल खोले गये। इनमें लूथर के विचारों के अनुसार शिक्षा दी जाने लगी। इन स्कूलों के संगठन में बगेनहैगेन और मैलॉखथॉन प्रमुख थे। पाठ्य-वस्तु मानवतावादी शिक्षा के अनुसार रखी गई। लूथर शिक्षा का उद्देश्य 'नागरिक' और धार्मिक मानता था। इसलिये 'उदार' कलाओं को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। पहले लैटिन पर बल दिया जाता था, अब क्रमशः ग्रीक और गणित पर दिया जाने लगा।

(४) इङ्गलैण्ड—

धन के लोलुप हेनरी अष्टम ने इंगलैण्ड के प्रायः सभी मठों को तोड़ दिया। फलतः बहुत से स्कूल बन्द हो गये। शिक्षा की चारों ओर मांग थी। पर स्कूलों की दशा अच्छी न थी। इंगलैण्ड में शिक्षा के सम्बन्ध में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं किया गया। हेनरी अष्टम और एडवर्ड षष्टम् ने बहुत से स्कूल खोले। उन्होंने इनको चर्च के नियन्त्रण से हटा कर सीधे अपने अन्दर रक्खा। परन्तु बाद में वे राष्ट्रीय चर्च के अन्तर्गत चले गए।

(५) दी आडर ऑव् जीसस—

"दी ऑर्डर ऑव् जीसस" की शिक्षा-प्रणाली सबसे अधिक प्रभावशाली निकली। इसको इगनेशस लॉयला (१४६१–१५५६) ने सुधार-लहर की रोक के लिये १५३४ ई० में स्थापित किया था। लॉयला ने सुधार को रोकने के लिये शिक्षा को साधन माना। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना तथा प्रोटेस्टैण्ट लोगों को पुनः रोमन चर्च में लाना इनका उद्देश्य था। हमें यहाँ केवल उनके शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों से ही सम्बन्ध है। 'जेसुइट ऑर्डर' का शिक्षा कार्य बड़े ही त्याग का था। शिक्षक अपने जीवन को इसी के लिये अर्पित कर देते थे। इनकी शिक्षा केवल धर्म-सम्बन्धी ही नहीं थी अपितु ये सभी सार्वलौकिक विषयों में शिक्षा के समर्थक थे। इसीलिये इनके स्कूलों में बहुत दूर-दूर से

प्रोटेस्टैण्ट विद्यार्थी आने लगे। इन स्कूलों का केन्द्र विशेषकर पेरिस और रोम में रहा। विद्यार्थियों से शुल्क नहीं लिया जाता था। इनका संगठन बड़ा श्रेष्ठ था। निरीक्षण के लिये एक के ऊपर दूसरा पदाधिकारी नियुक्त करा दिया जाता था। स्कूल में भी नियन्त्रण की रक्षा के लिये विद्यार्थियों की छोटी-छोटी संस्थायें स्थापित कर दी जाती थीं। कक्षाओं में 'मॉनीटर' नियुक्त कर दिये जाते थे। जेसुइट ऑर्डर का शारीरिक दण्ड में विश्वास न था। वे सब कुछ प्यार से सिखलाना चाहते थे। नियन्त्रण की रक्षा में स्कूल की संस्थायें तथा 'मॉनीटर' बड़ी सहायता करते थे। योग्य अध्यापकों के चुनाव पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उनकी शिक्षा विश्वविद्यालयों में होती थी। शिक्षा की पाठ्य-वस्तु मानवतावादी थी। व्याकरण तथा लैटिन पर अधिक बल दिया जाता था। व्याकरण-सूत्रों, शब्दों तथा छोटे-छोटे धार्मिक पदों के 'रटाने' की प्रथा थी। शिक्षा प्रायः मौखिक थी। जो कुछ पढ़ाया जाता था वह बहुत अच्छी तरह याद करा दिया जाता था। बिना पिछला पाठ दोहराये कभी आगे नहीं बढ़ा जाता था। प्राचीन साहित्य की सहायता से जो कुछ गणित और विज्ञान पढ़ाया जा सकता था उसको अच्छी तरह पढ़ाया जाता था। ऊँचे कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में दर्शन, विज्ञान, वकालत तथा चिकित्सा में भी शिक्षा दी जाती थी। जेसुइट शिक्षक पाठ्य-पुस्तकों की रचना प्रायः स्वयं कर लिया करते थे। इनकी शिक्षा-प्रणाली अपने समय में सबसे अधिक सफल रही। पर अठारहवीं शताब्दी में आध्यात्मिक अध्ययन विरोधी आन्दोलन के कारण इनका प्रभाव कम हो गया। जेसुइट-विधान के अन्दर व्यक्ति को स्वतन्त्रता न थी। इसलिये अठारहवीं शताब्दी में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की जब पुनः माँग की गई तो 'जेसुइट ऑर्डर' अप्रिय हो चला। इसके अतिरिक्त इनकी राजनैतिक चालों से कई राज्यों ने इनका विरोध किया।

(६)—"दी ओरेटरी ऑव् जेसस" तथा "दी पोर्ट रॉयल स्कूल्स"—

"दी ओरेटरी ऑव् जेसस" तथा "दी पोर्ट रॉयल स्कूल्स" जेसुइट ऑर्डर के सदृश् दूसरी धार्मिक संस्थाएँ थीं जिन्होंने सोलहवीं शताब्दी में विशेषकर इटली और फ्रान्स में शिक्षा का प्रचार किया। 'ओरेटरी' संस्था का प्रधान ध्येय ग्रामीण पुरोहितों को शिक्षित करना था। प्रादेशिक भाषा तथा साधारण विज्ञान के अध्ययन की ओर इनका दूसरों से अधिक ध्यान था। 'पोर्टरॉयल' संस्था के शिक्षक जेसुइट सिद्धान्तों से सहमत न थे। बालक के

स्वभाव को ये जन्म से ही दूषित मानते थे और उनके सुधार के लिये उसे सदा किसी शिक्षक के साथ रखना चाहते थे। इनका शिक्षा-उद्देश्य नैतिक और धार्मिक था। इनकी प्रणाली 'जेसुइट' से कठोर थी। इनकी पाठ्य-वस्तु में व्याकरण को कम कर दिया गया। प्रादेशिक भाषा को लैटिन से अधिक महत्त्व दिया गया। चरित्र-विकास के लिये, इतिहास गणित तथा साहित्य पढ़ना आवश्यक समझा गया।

(७)—उपसंहार—

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सुधार काल' में बहुत से नये स्कूलों का निर्माण किया गया। परन्तु इसके साथ ही मठ तथा चर्च के नियन्त्रण में चलने वाले बहुत से स्कूलों का नाश भी किया गया। शिक्षा के उद्देश्य में परिवर्त्तन अवश्य किया गया परन्तु सिद्धान्त और प्रणाली प्रायः पुनर्जागृति काल की ही मानी गई। अरस्तू के सिद्धान्तों को प्रायः फिर अपनाया गया। प्रणाली तेरहवीं शताब्दी के 'विद्वद्वाद' काल के ही सदृश् रक्खी गई। "सिसरो" अब भी आदर्श माना जाता था। जर्मनी में अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त मान लिया गया। 'शारीरिक दण्ड' देना अमनोवैज्ञानिक ठहराया गया। तथापि यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा-सिद्धान्त का विकास, सुधार काल में बहुत धीरे-धीरे हो रहा था। प्रधान बल माध्यमिक शिक्षा पर ही दिया जाता था। वास्तव में अभी प्राथमिक स्कूलों की माँग बढ़ी न थी। जो वर्ग अभी तक अशिक्षित रहा उसकी शिक्षा शीघ्र नहीं हो सकती थी। यह तो शताब्दियों का काम था। युद्धों का शिक्षा पर बहुत बुरा प्रभाव होता था। उनका सारा संगठन अव्यवस्थित हो जाता था। तीस वर्षीय युद्ध (१६१८–१६४८) के कारण जर्मनी के सभी कूल असंगठित हो गये थे। अठारहवीं शताब्दी में ही उनकी दशा सुधर सकी। 'पुनरुत्थान' तथा 'सुधार' के कारण नई-नई सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्थायें सामने आ रही थीं। इसके अतिरिक्त उस समय राष्ट्रीय भावों के विकास से कुछ छोटे-छोटे राज्य राष्ट्र बनने का स्वप्न देख रहे थे। समाज में उथल-पुथल के कारण उसके सफल नेतृत्व के लिये योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता थी और ये योग्य व्यक्ति माध्यमिक शिक्षा द्वारा ही अधिक बनाये जा सकते थे। यही कारण है कि प्राथमिक शिक्षा की ओर ध्यान अपने आप कम हो गया। अतः "सुधार काल" का सार्वलौकिक-शिक्षा-सिद्धान्त पूर्णरूपेण कार्यान्वित नहीं किया जा सका। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भावी विकास के

के विषय में मानवतावादियों से वह बहुत भिन्न न था। लैटिन और ग्रीक के साथ वह हेब्रू को भी पढ़ाना चाहता था। परन्तु इन भाषाओं के पढ़ाने का उसका उद्देश्य धार्मिक था। इतिहास, गणित तथा साधारण विज्ञान को भी स्थान दिया गया। साहित्य पर कुछ अधिकार प्राप्त करने के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक समझा गया। प्लैतो की तरह लूथर भावनाओं के विकास में संगीत का महत्त्व समझता था। चर्च-प्रार्थना के सामूहिक संगीत में वह सभी विद्यार्थियों को शिक्षा देना चाहता था। शारीरिक शिक्षा की ओर भी उसका ध्यान था। इसके लिये वह कुछ खेल तथा कुश्ती आवश्यक समझता था। लूथर के समय की पाठ्य-पुस्तकों में सजीवता न थी। उसने जो पुस्तकें लिखीं उनमें भी वही दोष था क्योंकि उस समय शिक्षा-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का विकास नहीं हुआ था। लूथर की दृष्टि में शिक्षक का कर्त्तव्य बहुत ही पवित्र है। बालकों का चरित्र तथा ईसाई धर्म की रक्षा वह उन्हीं के हाथों में समझता था।

हम पीछे संकेत कर चुके हैं कि लूथर यह चाहता था कि प्रत्येक को बाइबिल का अपने विवेक के अनुसार अर्थ लगाने की स्वतन्त्रता रहे। उसका यह व्यक्तिवाद आज-कल के व्यक्तिवाद से भिन्न था। उसका तात्पर्य था कि व्यक्ति को समाज की कुरीतियाँ दूर करने की स्वतन्त्रता चाहिये। उसे प्राचीन परम्परा के अनुसार चलने को बाध्य करना ठीक नहीं। शिक्षा देकर उसे ऐसा बना देना चाहिये कि वह अपने समाज की बुराई और भलाई समझ सके। इस प्रकार लूथर के शिक्षा-सिद्धान्त में हम समाज-हित की झलक देखते हैं। परन्तु समाज-हित को साध्य न मानकर उसने उसे 'ईसाई धर्म' का साधन माना है। मठों की शिक्षा-प्रणाली उसे पसन्द न थी, न वह यही चाहता था कि बड़े-बड़े सरदारों के घर बच्चों की शिक्षा के लिये अलग-अलग स्कूल हों। उसका विश्वास था कि शिक्षा का उद्देश्य समाज के योग से ही पूरा हो सकता है। पुल और सड़क आदि बनवाना जैसे राज्य का कर्तव्य है उसी भाँति बालकों को शिक्षा देना भी उसका कर्तव्य है। लूथर के इन सिद्धान्तों का उसके अनुयायी बगेनहैगेन और मेलॉखथॉन ने जर्मनी में खूब प्रचार किया। कदाचित् यह कहना अत्युक्ति न होगी कि जर्मनी की वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था की नींव उन्हीं के कार्यों पर खड़ी है। लूथर ने तीन प्रकार की शिक्षा व्यवस्था की ओर संकेत किया है। पहली व्यवस्था जनवर्ग के बच्चों के लिये है। इसमें प्रादेशिक भाषाओं पर भी बल दिया गया है। लड़के और लड़कियों के लिये एक ही

प्रकार की शिक्षा दी जायगी। पाठ्य-वस्तु में विशेषकर लिखना, पढ़ना, शारीरिक शिक्षा, संगीत तथा धर्म आदि का समावेश होगा। लड़कियों को गृह-कार्य में कुछ शिक्षा देनी चाहिये और लड़कों को व्यवसाय आदि के कुछ कार्यों में। विद्यार्थियों की उपस्थिति अनिवार्य थी। दूसरी व्यवस्था पादरियों के लिये थी। उन्हें लैटिन, ग्रीक, हेब्रू, भाषण-कला, तर्क-विद्या, इतिहास, विज्ञान, गणित, संगीत तथा व्यायाम-विद्या में शिक्षा दी जाती थी। तीसरी व्यवस्था में विश्वविद्यालयों का स्थान आता था। इनमें बड़े-बड़े पादरियों तथा राज्याधिकारियों की शिक्षा होती थी।

३—कैल्विन (१५०६-१५६४)

उसका शिक्षा-आदर्श और शिक्षा-कार्य-क्रम—

कैल्विन भी 'सुधारकाल' का एक प्रभावशाली शिक्षक कहा जा सकता है। उसके विचारों के अनुसार फ्रान्स में प्रोटेस्टैण्ट लोगों के लिये बहुत से स्कूल खुल गए। सत्तरहवीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी के भी कुछ स्कूल उसके सिद्धान्तों के अनुसार चलने लगे। धीरे-धीरे उसका प्रभाव हालैण्ड, इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका के उपनिवेशों में भी पहुँच गया। कैल्विन बालकों में जिज्ञासा और अन्वेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहता है। सभी लोगों का धार्मिक पुस्तकों से परिचित होना आवश्यक है। लूथर की तरह वह भी इस सम्बन्ध में व्यक्ति को स्वतन्त्रता देता है। धर्म के सम्बन्ध में किसी के ऊपर दबाव न डालना चाहिये। शिक्षक बिना त्याग के अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकते। जनता को शिक्षित करने के लिये कैल्विन चर्च को संगठित करना आवश्यक समझता है। वह सम-

जॉन कैल्विन

झता है कि चर्च के योग से ही शिक्षा सबके लिये सुलभ की जा सकती है। पाठ्य-वस्तु में 'गुण' और 'ज्ञान' दोनों को स्थान देना आवश्यक है क्योंकि बिना 'गुण' के 'ज्ञान' व्यर्थ है। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों का निरीक्षण करना आवश्यक है जिससे वे अपने कर्तव्य का पालन ठीक ढंग से कर सकें। इन सब विचारों के आधार पर कैल्विन ने जेनेवा नगर के लिये शिक्षा का एक कार्य-क्रम बनाया। उसने एक स्कूल स्थापित किया। इसमें सात कक्षायें थी। सातवीं कक्षा सबसे छोटी थी। इसमें बच्चों को अक्षर तथा छोटे-छोटे शब्द लिखना सिखलाया जाता था। फ्रेञ्च सिखलाने के बाद लैटिन का स्थान आता था। छठी कक्षा में विभक्ति, क्रिया के विभिन्न रूप तथा फ्रेञ्च और लैटिन के कुछ कठिन-कठिन शब्द याद करने पड़ते थे। अक्षरों के सुन्दर बनाने पर अधिक अभ्यास किया जाता था। कुछ सरल लैटिन वाक्यों को कण्ठस्थ करना पड़ता था। पाँचवीं कक्षा में फ्रेञ्च और लैटिन में लेख लिखना प्रारम्भ कर दिया जाता था। वर्जिल के कुछ पद भी पढ़ने पड़ते थे। चौथी कक्षा में ग्रीक प्रारम्भ कर दी जाती थी, और 'सिसरो' के 'लेटर्स' को भी स्थान दे दिया जाता था। तीसरी कक्षा में ग्रीक व्याकरण तथा सिसरो की अन्य रचनाएँ भी पढ़ाई जाती थीं। इस कक्षा में ग्रीक पर विशेष ध्यान दिया जाता था। दूसरी कक्षा में 'पढ़ने' पर विशेष बल दिया जाता था और यूनान के बड़े-बड़े कवियों और लेखकों की रचनाएँ पढ़ी जाती थीं। तर्क-विद्या का अध्ययन भी इस कक्षा में प्रारम्भ कर दिया जाता था। धार्मिक शिक्षा का भी प्रारम्भ इसी कक्षा से किया जाता था। पहली कक्षा में तर्क-विद्या का अध्ययन पहले से ऊँचा होता था। साहित्य-शास्त्र तथा भाषण-कला के अध्ययन में सिसरो और डिमॉस्थनीज़ प्रमाण माने जाते थे—सप्ताह में एक दिन धार्मिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि कैल्विन स्कूलों में मातृ-भाषा तथा ग्रीक को प्रधानता देना चाहता था। संगीत तथा शारीरिक शिक्षा को उचित स्थान दिया ही नहीं गया। अतः उसका शिक्षा कार्य-क्रम लूथर के समान विस्तृत न था।

४—जॉननॉक्स और ज़्विङ्ग्ली

कैल्विन के विचारों का जॉननॉक्स (१५०५–१५७२) ने स्काट्लैण्ड में प्रचार किया। फलतः वहाँ शिक्षा का प्रबन्ध चर्च के अन्तर्गत आ गया। यहाँ स्विटज़रलैण्ड के ज़्विङ्ग्ली (१४८४–१५३२) का भी नाम लिया जा सकता है। उसने बच्चों के पालन-पोषण के सिद्धान्तों का निरूपण एक बहुत

ही सुन्दर पुस्तक में किया है। उसने प्राथमिक स्कूलों को प्रोत्साहन दिया। पाठ्य-वस्तु के सम्बन्ध में वह 'मानवतावादी' सिद्धान्त का अनुयायी था।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा?

१—सुधार काल (रिफ़ॉर्मेशन पीरियड) का शिक्षा पर प्रभाव

(१) नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्र—

नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में सुधार की प्रवृत्ति, चर्च में बाह्याडम्बर, बाइबिल सब को सुलभ, बाइबिल का अधिकार, व्यक्ति को अपने निर्णय मानने की स्वतन्त्रता, अपने पापों का उद्धार अपने से, दैव शक्ति का विकास व्यक्ति में भी, फलतः शिक्षा के क्षेत्र का विकसित होना अनिवार्य, शिक्षा जन्म सिद्ध अधिकार, सार्वलौकिक शिक्षा का प्रादुर्भाव।

(२) शिक्षा का रूप—

सुधारकाल की शिक्षा मानवतावादी, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता केवल कहने को, व्यक्ति संस्थाओं पर अवलम्बित, सुधारकों में दल।

(३) जर्मनी—

बाइबिल पढ़ने पर बल, प्रादेशिक भाषाओं का लोकप्रिय होना, स्कूलों में उनके पढ़ाने की माँग पर प्रधानता लैटिन और ग्रीक को, जर्मनी में शिक्षा पर से चर्च का नियन्त्रण हटा, राज्य के अन्दर, पाठ्य-वस्तु मानवतावादी, धार्मिक भावना का प्राधान्य, पादरियों की शिक्षा के लिये स्कूल और विश्वविद्यालय, शिक्षा का उद्देश्य नागरिक और धार्मिक, 'उदार' कलाओं को प्रोत्साहन नहीं।

(४) इङ्गलैण्ड—

व्यक्तिगत उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं।

(५) दी आर्डर आफ़ जीसस—

सार्वलौकिक विषयों में शिक्षा, केवल धार्मिक ही नहीं, निःशुल्क, संगठन श्रेष्ठ, निरीक्षण कठोर, शारीरिक दण्ड में विश्वास नहीं, योग्य अध्यापक के चुनाव पर ध्यान, पाठ्य-वस्तु मानवतावादी, व्याकरण तथा लैटिन पर बल, "रटाना", शिक्षा मौखिक, पिछले पाठ को दुहराना, ऊँचे कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में—दर्शन, विज्ञान, वकालत तथा चिकित्सा-विद्या, अठारहवीं शताब्दी में इनका प्रभाव कम, व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं, इनकी राजनैतिक चालें।

(६) "दी ओरेटरी आव् जीसस" तथा "दी पोर्ट रॉयल स्कूल्स।"

(७) उपसंहार—

बहुत से नये स्कूलों की स्थापना, शिक्षा-उद्देश्य में परिवर्तन पर सिद्धान्त और

प्रणाली में नहीं, सिसरो अब भी आदर्श, अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त, शारीरिक दण्ड अमनोवैज्ञानिक, युद्धों का शिक्षा पर प्रभाव, माध्यमिक शिक्षा पर ज्यादा बल, समाज में उथल-पुथल से नेताओं की मांग, प्राथमिक स्कूलों की मांग कम, सार्वलौकिक-शिक्षा सिद्धान्त कार्यान्वित नहीं, भावी विकास की ओर संकेत, वर्ग-व्यवस्था का रोग शिक्षा क्षेत्र में भी।

२—मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६)

उसका शिक्षा-आदर्श—

मानवतावादी काल से भी सम्बन्धित, लैटिन और ग्रीक साध्य नहीं, अरस्तू से घृणा, बाइबिल ही सबके लिये प्रमाण, शिक्षा का उद्देश्य ईसाई समाज के स्थायित्व में योग देना, कुटुम्ब का स्थान महत्वपूर्ण, शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क, शिक्षा राज्य के नियन्त्रण में, पाठ्य-वस्तु-लैटिन, ग्रीक, हेब्रू, इतिहास, गणित, विज्ञान, व्याकरण, साहित्य, संगीत, शारीरिक शिक्षा, पाठ्य-पुस्तकों में सजीवता नहीं, शिक्षक का कर्तव्य पवित्र।

लूथर का व्यक्तिवाद आज से भिन्न, उसके शिक्षा-सिद्धान्त में समाज-हित की झलक, शिक्षा का उद्देश्य समाज के योग से ही, तीन प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था की ओर संकेत—

१—प्रादेशिक भाषा बालकों के लिये,
२—पादरियों के लिये, तथा
३—ऊँचे पादरियों और राज्याधिकारियों के लिये।

३—कैल्विन (१५०९–१५६४)

उसका शिक्षा-आदर्श और शिक्षा कार्य-क्रम—

जिज्ञासा तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न करना, धार्मिक पुस्तकों से परिचय आवश्यक, शिक्षक में त्याग, शिक्षा के लिये चर्च का संगठन, पाठ्य-वस्तु में 'गुण' और ज्ञान को स्थान, निरीक्षण आवश्यक, मातृ-भाषा तथा ग्रीक को प्रधानता, संगीत और शारीरिक शिक्षा को स्थान नहीं, शिक्षा कार्य-क्रम लूथर के समान विस्तृत नहीं।

४—जॉननॉक्स और ज़्विङ्ग्ली

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—टेक्स्टबुक..........' अध्याय ७।
२—कबरली—'हिस्ट्री..........' अध्याय १३–१५।
३—कबरली—'रीडिङ्ग्ज़..........' अध्याय १३–१५।
४—ग्रेव्ज़—'ए स्टूडेण्ट्स..........' अध्याय १३।
५— ,, —'ड्यूरिङ्ग द ट्रांज़ीशन, अध्याय १५–१६।

६—बरनार्ड—'जर्मन टीचर्स ऐण्ड एडूकेटर्स, अध्याय ३–८।
७—लॉरी—'द डेवलपमेण्ट ऑव् एडूकेशनल ओपीनियन', अध्याय ३, ८।
८—पेण्टर—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', पृष्ठ १५३–१६४।
९—श्वीकरथ—'जेसुइट एडूकेशन' ।
१०—उलिच—'हिस्ट्री.........' पृष्ठ ११४–२६, १६४–२५ ।
११—किक—'एडूकेशनल रिफ़ॉमर्स' अध्याय ४।
१२—रस्क—'द डाक्ट्रीन्स..............' अध्याय ४

७

यथार्थवाद

१—क्यों और कहाँ से ?

सतरहवीं शताब्दी के पहुँचते-पहुँचते प्राचीन तथा मध्यकालीन आदर्शों की उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। उनमें क्रियाशीलता न थी। उनके नैतिक सिद्धान्त इतने ऊँचे थे कि उन्हें कार्यान्वित करना साधारण मनुष्य के लिये एकदम असम्भव था। इसलिये उसे उनसे शान्ति नहीं मिल सकती थी। प्राचीन दार्शनिकों ने प्राकृतिक विज्ञान की अवहेलना न की पर उनका मन्तव्य उसे मनुष्य के लिये उपयोगी बनाना न था। फलतः उनका विज्ञान केवल मानसिक विकास की कोटि का था। उससे 'वादविवाद' में उलझकर 'विवेकी' ही अपनी तृष्णा बुझा सकता था। प्लैतो आदि महापुरुषों के आदर्श मनुष्य को देवतुल्य बनाना चाहते थे। उसकी साधारण आवश्यकताओं की ओर उनका ध्यान न था। सोलहवीं शताब्दी तक तो व्यक्ति प्राचीन आदर्शों की लपेट में ही अगड़ाइयाँ लेता रहा। सतरहवीं शताब्दी से वैज्ञानिक युग का आरम्भ होता है। कापरनिकस और गैलीलिओ आदि के विचारों के फलस्वरूप दृष्टिकोण की संकीर्णता कम हो चली। व्यक्ति को भास हुआ कि प्राचीन आदर्श समय की माँग पूरी करने में असमर्थ हैं। उसके मस्तिष्क में 'ईश्वर', 'प्रकृति' और 'पुरुष' के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठ रहे थे उनका उत्तर पुराने लेखकों और कवियों के आदर्शों में न था। पुनर्जागृति से फैली हुई लहर अब वास्तविकता की खोज की ओर अग्रसर हुई। फलतः इस लहर में दार्शनिक और वैज्ञानिक भावों का समावेश हुआ। प्राचीन युग को अब स्वर्णयुग नहीं माना गया। वैज्ञानिक दृष्टकोण के बढ़ने से भविष्य की ओर देखना स्वाभाविक था क्योंकि विज्ञान सदा आगे देखता है, पीछे नहीं। वह तो भूतकाल के अनुभवों पर खड़ा होकर अपनी गाड़ी सदा आगे बढ़ाता रहता है। अतः अब पुराने लेखकों और कवियों के सुन्दर भावमय शब्दों का महत्त्व न रहा और वैज्ञानिक प्रवृत्ति के बढ़ने से उनकी अवहेलना की गई। वास्तविकता की ओर लोगों का ध्यान गया। 'विवेक' और 'बुद्धि' को सबसे अधिक प्रधानता दी गई। जो इस कसौटी पर खरा न उतरा उसका तिरस्कार किया गया। इस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का शिक्षा पर प्रभाव पड़ना

अनिवार्य था। वास्तविकता की पहचान के लिये वातावरण की प्राकृतिक वस्तुओं तथा विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा। यहीं से शिक्षा-क्षेत्र में 'यथार्थवाद' (रियलिज़म्) का जन्म होता है। इसका जन्म बड़े महत्त्व का है। यदि यहीं से आधुनिक युग का प्रारम्भ कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा, वस्तुतः 'यथार्थवाद' का बीज तो 'पुनरुत्थान' तथा 'सुधार' काल में ही बो दिया गया था। अपने समय पर वह सत्तरहवीं शताब्दी में अंकुरित होकर दिन दिन बढ़ता ही गया। आज तक भी उसकी बाढ़ रुकी नहीं।

२—यथार्थवाद का अर्थ

शिक्षा में यथार्थवाद का अर्थ क्या है? शिक्षा में 'यथार्थवाद' का जन्म कोरी सैद्धान्तिक तथा शाब्दिक शिक्षा के विरोध में हुआ है। बच्चे को अपने वातावरण को पहचानने के योग्य बनाना चाहिये। उसके सामने वास्तविक वस्तुओं की चर्चा करनी चाहिये। कोरे सिद्धान्त और बड़े-बड़े आदर्श उसके लिये कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। अध्यापक का अपने विचारों की दौड़ान में आकाश में उड़ना हास्यास्पद है। उसके जीवन के आदर्श अवश्य ऊँचे हों पर इस जगत की वास्तविकता की भी उसे सुधि रखनी चाहिये। व्यक्ति की परिमित शक्तियों का उसे बोध होना चाहिये। उसे जानना चाहिये कि मनुष्य सांसारिक सुख की भी इच्छा करता है। उसे जानना चाहिये कि व्यक्ति की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति नित्य होनी चाहिये। सर्वोपरि, उसे यह अवश्य ही जानना कि शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक विकास के साथ व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास भी है। अतः शिक्षा का संचालन इस प्रकार हो कि व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताएँ भी सरलता से पूरी हो सकें। अध्यापक के आदर्शों में वास्तविकता की छाप अवश्य रहे, अन्यथा उसका कुछ प्रभाव न हो सकेगा। शुष्क शिक्षा-प्रणाली 'वास्तविक जीवन की छाप' से मनोरञ्जक बनाई जा सकती है। बच्चों को यह सिखलाना चाहिये कि कक्षा में सीखे हुए ज्ञान और जीवन का वास्तविकता से कैसे सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। कक्षा की शिक्षा और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं तथा समस्याओं में सम्बन्ध होना आवश्यक है, अन्यथा शिक्षा का ध्येय कभी सफल न होगा। सतरहवीं शताब्दी में 'यथार्थवाद' का इतना विस्तृत अर्थ नहीं लगाया जाता था परन्तु उस काल के शिक्षकों ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिससे 'यथार्थवाद' का जन्म यहीं से माना जाता है। इस काल के 'यथार्थवाद' का विकास तीन स्थितियों से होकर होता है। पहली स्थिति मानवतावादी ("ह्यूमनिस्टिक")

'यथार्थवाद' की है। इसके अनुसार उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से प्राचीन साहित्य का अध्ययन करना चाहिये। दूसरी स्थिति 'सामाजिकतावादी' (सोशल) 'यथार्थवाद' की है। यह 'आधुनिक भाषाओं', 'अध्ययन' तथा यात्रा की सहायता से व्यक्ति को सामाजिक कार्यों के योग्य बनाना चाहती है। तीसरी स्थिति 'स्वानुभववादी' (सेन्स) 'यथार्थवाद' की है। इसके अनुसार स्कूलों में केवल वास्तविक वस्तुओं की शिक्षा देनी चाहिये और बच्चों को उपयोगी बातें बतलानी चाहिये। हम नीचे प्रत्येक का वर्णन यथास्थान करेंगे।

३—मानवतावादी यथार्थवाद (ह्यूमनिस्टिक रियलिज़्म्)

मानवतावादी (ह्यूमनिज़्म्) और 'मानवतावादी यथार्थवाद' के साधन एक ही थे परन्तु उनके ध्येय भिन्न-भिन्न थे। दोनों का प्राचीन साहित्य की उपयोगिता में दृढ़ विश्वास था। परन्तु दोनों उसे दो भिन्न दृष्टिकोण से देखते थे। मानवतावादी के लिये यूनान और रोम सम्बन्धी सभी वस्तुएँ आदर्श स्वरूप थी। व्यक्ति को वे प्रत्येक क्षेत्र में प्राचीन यूनानी और रोमन के सदृश् बनाना चाहते थे। 'मानवतावादी यथार्थवाद' इसका विरोधी था। यथार्थवादी सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण को भली-भाँति समझ कर अपने नियन्त्रण में लाना चाहता है। यह नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये वह प्राचीन ग्रीक तथा रोमन साहित्य को साधन मानता है। वह साहित्य को मनुष्य की उत्कृष्ट कृति मानता है, परन्तु उसमें अन्ध विश्वास करने के लिये तैयार नहीं। अपने हित के लिये उसे प्राचीन साहित्य के गुणों को लेने में संकोच नहीं। प्राचीन साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त कर लेना ही शिक्षा नहीं है। अपने वातावरण को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। जीवन में सफलता के लिये शारीरिक नैतिक तथा सामाजिक विकास की ओर व्यक्ति को ध्यान देना चाहिये। अब हम 'मानवतावादी' यथार्थवाद के कुछ प्रतिनिधियों पर दृष्टिपात करेंगे।

(१) राबैले—(१४८३—१५५३)

(क) उसका शिक्षा आदर्श—

राबैले की 'पुनरुत्थान' काल के इटली के विद्वानों के विचारों से पूरी सहानुभूति थी। उसने भविष्य की गति पहचान कर अपने व्यंगात्मक लेखों द्वारा मध्यकालीन अज्ञानता की कड़ी आलोचना की और शिक्षा-क्षेत्र में ठीक रास्ते की ओर संकेत किया। राबैले के विचारों का प्रभाव उस समय विशेष न पड़ा। लॉक, मॉनटेन तथा रूसो ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में राबैले से जो

प्रेरणा पाई उससे उसका महत्त्व बढ़ जाता है। राबैले के शिक्षा-सिद्धान्तों को हम उसके "लाइफ़ ऑव् गरगन्तॉ" तथा 'हिरोइक डीडस ऑव पन्ताग्रुयेल' नामक व्यंगात्मक पुस्तकों में पाते हैं। हम राबैले को 'मानवतावादी' यथार्थवादी की कोटि में पाते हैं। उसके विचारों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जायगा। राबैले मौखिक यथार्थवाद के विपक्ष में था। केवल शब्दों की शिक्षा उसे पसन्द न थी। बच्चों को उनके वातावरण-सम्बन्धी वस्तुओं का वह ज्ञान देना चाहता था। वह चाहता था कि बालक अपने वातावरण को समझें और अपनी समस्याओं को स्कूल में पाई हुई शिक्षा की सहायता से हल करने की चेष्टा करें। उसका विश्वास था कि वास्तविकता की पहचान प्राचीन साहित्य के अध्ययन से भली-भाँति की जा सकती है। शारीरिक, नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक शिक्षा का साधन उसे प्राचीन साहित्य के अध्ययन में दिखलाई पड़ा। परन्तु वह पुरानी शिक्षा-प्रणाली को बदल देना चाहता है। मध्यकालीन 'सात उदार कलाओं' में से केवल अङ्कगणित, रेखागणित, खगोल-विद्या तथा संगीत को ही वह अपनी पाठ्य वस्तु में रखता है। वह व्याकरण, तर्क तथा साहित्य-शास्त्र को छोड़ देता है क्योंकि उनमें उसे शब्द-जाल का प्राधान्य दिखलाई पड़ा। राबैले का यह विचार अपने समय के लिये बहुत ही नवीन था। वह बालकों को प्राचीन भाषाओं का ज्ञान भली-भाँति करा देना चाहता है। धर्म-पुस्तकों के समझने के लिये वह क्विन्टीलियन की प्रणाली के अनुसार ग्रीक, लैटिन, हेब्रू सीखना आवश्यक समझता है। धर्म-पुस्तकों के अध्ययन के लिये प्रतिदिन कुछ समय देना आवश्यक है। इनके बाद 'चाल्डी और अरबी भाषा' भी सीखी जा सकती है। इतिहास पढ़ने पर भी राबैले ने अधिक बल दिया है। राबैले पुस्तकों के उपयोग के पक्ष में था। पुस्तकों को यथासम्भव याद कर लेना चाहिये। परन्तु साथ ही साथ याद की हुई बातों का दैनिक जीवन से सम्बन्ध ढूँढ़ना आवश्यक है। अपने जीवन से

राबैले

उनका सम्बन्ध समझे बिना उन्हें पढ़ना व्यर्थ है। 'कितना' और 'क्या' पढ़ लिया गया उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि किस लिये पढ़ा गया।

(ख) राबैले और पेस्तॉलॉज़ी—

राबैले कहता है कि जो बात अपने अनुभव से सीखी जाती है वह सदा के लिये याद हो जाती है। अध्यापक द्वारा बताई हुई बात मस्तिष्क से तुरन्त निकल जा सकती है। घर के बाहर पेड़, पौधों तथा अन्य वस्तुओं को देखते हुये थिओफ्रेट्स, डियॉस्कॉराइड्स आदि प्राचीन लेखकों के विचारों से उनकी तुलना करनी चाहिये। बच्चों को रात के तारों को देखकर सुबह यह समझने का प्रयत्न करना चाहिये कि कौन तारा कहाँ से कहाँ चला गया। यहाँ पर राबैले पेस्तॉलॉज़ी के "स्वानुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्ति" आन्श्वाङ्ग के सिद्धान्त की ओर संकेत करता है।

(ग) राबैले और रूसो—

राबैले को अपने समय की प्रचलित प्रणाली से इतनी चिढ़ थी कि उसकी अपेक्षा वह बालक को अशिक्षित रखना ही पसन्द करता था। बालक में किसी वस्तु के सीखने के लिये पहले इच्छा-शक्ति उत्पन्न करना आवश्यक है। अध्यापक विद्यार्थी को ऐसी परिस्थिति में रख दे कि वह अपने अनुभव द्वारा प्रचलित प्रणाली के दोष को स्वयं समझ ले। गलती करके कुछ बातों के सीखने का उसे अभ्यास होना चाहिये। यहाँ राबैले रूसो के स्वाभाविक विनय (नैचरल डिसिप्लिन) के सिद्धान्त की ओर संकेत कर रहा है। अध्यापक को बालक को ठीक रास्ते पर धीरे-धीरे ले आना चाहिये। प्रोत्साहन के लिये बालकों को कुछ दिन विद्वानों के संग में रहना चाहिए।

(घ) राबैले और ड्यूइ—

राबैले का विचार था कि स्कूल में लड़कों को कुछ काम भी सिखाना आवश्यक है। घर के लिये कुछ उपयोगी बातें वे सरलता से सीख सकते हैं। लकड़ी चीरना, साधारण रंगाई और खुदाई उन्हें सिखलाई जा सकती है। कभी-कभी कारीगरों और व्यापारियों के काम को देखने के लिये वे स्कूल के बाहर भी भेजे जा सकते हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि यहाँ पर राबैले 'ड्यूइ' की ओर संकेत कर रहा है।

(ङ) बौद्धिक विकास के लिए क्या आवश्यक ?

राबैले पुस्तकों को बड़े आदर की दृष्टि से देखता था। परन्तु उसका यह

विश्वास था कि बौद्धिक विकास में पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का भी स्थान है। अपने वातावरण की प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर बालक प्राचीन लेखकों की उक्तियों का स्मरण कर सकता है। हरे-हरे मैदान को देख कर उसे कृषि सम्बन्धी वर्जिल, हेसियड; तथा पॉलिशियन की कविता का स्मरण आ सकता है। अतः प्राकृतिक वस्तुओं के देखते समय इस प्रकार ध्यान दौड़ाना बौद्धिक विकास में सहायक है।

(च) राबैले के अनुसार शारीरिक शिक्षा—

राबैले ने शारीरिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया है। मानसिक विकास के साथ-साथ स्वास्थ्य का बनाना बहुत आवश्यक है। इसके लिये राबैले दौड़ना, कूदना, तैरना, मुग्दर तथा समतल छड़ों पर कुछ व्यायाम करने के लिये कहता है। शारीरिक शिक्षा का सम्बन्ध राबैले के अनुसार केवल स्वास्थ्य ही से नहीं है, अपितु साथ ही साथ उसका तात्पर्य युद्ध के लिये तैयारी करने से भी है।

(२) मिल्टन (१६०८--१६७४)

शिक्षा-क्षेत्र में मिल्टन सच्चा 'यथार्थवादी' नहीं दिखलाई पड़ता। इसलिये उसे मानवतावादी 'यथार्थवादी' कहते हैं। पुराने 'लैटिन ग्रामर' स्कूलों की पद्धति उसे पसन्द न थी। वह अपने "ट्रैक्टेट ऑव् एडूकेशन" नामक तेइस पृष्ठ की पुस्तक में कुछ उपयोगी विषयों के पढ़ाने की राय देता है। उसके समय में इङ्गलैंड के राजनैतिक और सामाजिक जीवन में उथल-पुथल मची हुई थी। वह देश का ध्यान शिक्षा की ओर आकर्षित करता है जिससे वह अपना अस्तित्व खो न बैठे। मिल्टन को शिक्षा-क्षेत्र में कुछ विशेष अनुभव न था। इसलिये उसकी बातें कभी-कभी साधारण मनुष्य के अनुभव के परे मालूम होती है। कमेनियस के सदृश् उसकी रुचि सर्व साधारण की शिक्षा में नहीं। उसे केवल धनी लोगों का ध्यान है और वह भी केवल १२ वर्ष से २१ वर्ष के बालकों के लिये। इस कारण मिल्टन की सीमा परिमित हो जाती है। उसमें उदारता का अभाव दिखलाई पड़ता है और जान पड़ता है कि प्राचीन परम्परा अब भी उसे मोहित किये हुई थी। मिल्टन के सभी शिक्षा-सिद्धान्तों से हम सहमत नहीं हो सकते। कुछ अंशों में तो वह राबैले से भी पीछे दिखलाई पड़ता है। वह जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रतिपादन करता है उसमें मध्यकाल की छाप है। परन्तु उसकी शिक्षा की परिभाषा सदा के लिये उत्साहवर्धक और सत्य है। "पूर्ण और उदार शिक्षा वही है जो कि व्यक्ति को

शान्ति तथा युद्ध काल के सभी सार्वजनिक एवं घरेलू कार्यों को चतुरता और गौरव के साथ करने के योग्य बना देती है।" * मिल्टन कहता है कि शिक्षा ऐसी हो कि वह ईश्वर का ज्ञान करा कर उसमें प्रेम जाग्रत कर दे। ईश्वर में प्रेम के लिये 'गुण' (वर्चू) और 'विश्वास' का होना आवश्यक है। यह सच्ची शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। हम सांसारिक वस्तुओं के अध्ययन से 'ईश्वर-ज्ञान' प्राप्त कर सकते हैं। इस अध्ययन में योग देना ही शिक्षा का ध्येय है।

'पुनरुत्थान' काल के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों से मिल्टन बहुत आगे चला जाता है। वह अध्ययन को साध्य न मान कर साधन मानता है। उसके अनुसार शिक्षित व्यक्ति का कर्तव्य "ईश्वर को पहचान कर अपने पूर्वजों के ध्वंशावशेष की मरम्मत करना है। ज्ञान प्राप्त करने के बाद उसे ईश्वर से प्रेम तथा उसका अनुकरण करना चाहिये।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि मिल्टन की प्रवृत्ति धार्मिक थी। उसकी इस प्रवृत्ति की उसके शिक्षा-सिद्धान्तों पर पूरी छाप है। मार्क पैटिसन के अनुसार मिल्टन का शिक्षा कार्य-क्रम व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति को नहीं बढ़ा सकता क्योंकि उसकी शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान होती है। वह सर्व साधारण के मस्तिष्क को पहचान न सका। अपने ही समान वह सबका मस्तिष्क जानता था। वह आत्म-निर्भरता को प्रोत्साहन नहीं देता क्योंकि बहुत सी बातें उसके अनुसार अध्यापक को स्वयं बतला देनी चाहिये। जिस दृष्टि से प्राचीन साहित्य के अध्ययन का वह समर्थन करता है ठीक नहीं जँचती। "पोर्ट रॉयलिस्ट" के सदृश् उसका उद्देश्य शैली प्राप्त करना नहीं है। कृषि के विषय में जानकारी के लिये वह वर्जिल और कुलमेला को पढ़ने के लिये कहता है।

मिल्टन प्रत्येक शहर में १२० विद्यार्थियों के लिये एक 'संयुक्त स्कूल' और विश्वविद्यालय खोलना चाहता है। उसके पाठ्य-वस्तु में बौद्धिक विषयों की भरमार है। उदाहरणतः लैटिन, ग्रीक, इटैलियन, हेब्रू, अंकगणित, भूगोल, ज्यामिति, त्रिकोणमिति, भौतिक-शास्त्र, खगोल-विद्या, अर्थशास्त्र, राजनीति, तर्क-शास्त्र, धर्म-शास्त्र तथा इन्जीनियरिंग आदि विषय उसके कार्य-क्रम में आ जाते हैं। मिल्टन जैसे मस्तिष्क वाले ही इन सब विषयों का सफलता के साथ अध्ययन कर सकते हैं। साधारण मनुष्य के लिये यह असम्भव है। उसका 'संयुक्त स्कूल' और विश्वविद्यालय का आयोजन ठीक नहीं जान पड़ता। अपने

* ब्राउनिङ्ग का संस्करण, पृष्ठ ८।

कार्य-क्रम में वह स्पार्त्ता की सैनिक शिक्षा तथा एथेन्स की 'ह्यूमनिस्टिक' शिक्षा को एक में मिला देता है। यह अमनोवैज्ञानिक है। वह मौखिक तथा शाब्दिक शिक्षा का विरोधी था और बालकों को वास्तविक वस्तुओं के विषय में पढ़ाना चाहता था। इसके लिये वह पुस्तकों को सबसे अच्छा साधन समझता है। लैटिन तथा ग्रीक व्याकरण में बहुत समय देना व्यर्थ है। परन्तु उसके साहित्य पर बल देना चाहिये। पिछले पाठ को दुहराना आवश्यक है। यहाँ मिल्टन 'जेसुइट' प्रणाली का समर्थक दिखलाई देता है। मिल्टन अपने समय के प्रभाव से बच न सका और प्राचीन साहित्य की अपेक्षा मातृभाषा के अध्ययन पर कम बल देता था।

मिल्टन का शारीरिक शिक्षा पर भी पूरा ध्यान था। उसके लिये वह व्यायाम तथा उचित भोजन की चर्चा करता है। उसके अनुसार भोजन और व्यायाम के बीच का समय संगीत में बिताना चाहिये। सैनिक व्यायाम करना भी आवश्यक है। किसी युवक की शिक्षा में यात्रा का विशेष महत्त्व है। मिल्टन कहता है कि विद्यार्थी को चारों ओर घूम-घूम कर स्थल, जल, शहर, बन्दरगाह तथा बड़े-बड़े भवन आदि का अध्ययन करना चाहिये क्योंकि इससे अपने दृष्टिकोण का विकास होता है और संकीर्णता दूर होती है।

मिल्टन और रौवैले के विचारों का प्रभाव विशेष न पड़ा। उनसे कोई संस्था प्रभावित न हो सकी। किन्तु व्यक्तिगत रूप में उनके सिद्धान्तों का कुछ अध्यापकों और स्कूलों पर प्रभाव अवश्य पड़ा।

४—सामाजिकतावादी यथार्थवाद (सोशल रियलिज़्म)

प्रादुर्भाव के कारण—

पहले हम 'सामाजिकतावादी यथार्थवाद' के प्रादुर्भाव के कारण पर विचार करेंगे। अपने समय की शिक्षा-प्रणाली से सत्तरहवीं शताब्दी का धनी वर्ग सन्तुष्ट न था। उस समय बड़े लोगों की शिक्षा में 'यात्रा' का विशेष महत्त्व था। स्कूली शिक्षा से ही सब कुछ नहीं आ सकता। विदेशों में घूम-घूम अनुभव प्राप्त करना आवश्यक माना जाने लगा। स्कूलों में अब भी प्रादेशिक भाषाओं के प्रति उदासीनता थी। प्राचीन साहित्य ही पर बल दिया जाता था। लोगों को इस प्रणाली में दोष दिखलाई देने लगे। वैज्ञानिक 'अध्ययन' तथा 'प्रयोग' में लोगों की जिज्ञासा बढ़ रही थी; परन्तु इस जिज्ञासा का उत्तर देने में स्कूल असमर्थ थे। 'भावी-सैनिकों' के लिये उचित शिक्षा का प्रबन्ध न

था। भावी-राजनीतिज्ञ 'राजनीति' की तथा 'कानूनी शिक्षा' चाहते थे। उस समय चित्रकला, संगीत तथा लड़ाई योरोपीय समाज में उत्कृष्ट कोटि की कलायें समझी जाती थीं। पर इनमें शिक्षा की उचित व्यवस्था न थी। लोग दरबारी, घोड़सवारी तथा नृत्य आदि में शिक्षा चाहते थे। उस समय स्कूलों की शिक्षा विशेषकर साहित्यिक थी। वास्तविकता' को छोड़ कर व्यर्थ के 'पाण्डित्य-प्राप्ति' की ओर ध्यान दिया जाता था। स्कूली शिक्षा तथा 'धनी' व 'दरबारियों' की माँग में कुछ सामञ्जस्य न था। इन दोनों के बीच की खाई बढ़ती ही गई। फल यह हुआ कि धनी लोगों के बच्चों ने धीरे-धीरे स्कूलों में जाना छोड़ दिया। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध निजी अध्यापकों द्वारा घर पर ही किया जाने लगा। 'एकेडेमी' नाम की संस्थायें बड़े-बड़े लोग स्थापित करने लगे थे। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उनके लड़के यहीं आने लगे। एकेडेमी में समय की आवश्यकता पूरी करने की चेष्टा की जाती थी। बालकों को हथियार चलाने, घोड़सवारी आदि में सैनिक शिक्षा दी जाने लगी। धनी लोगों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शिक्षा में एक नई लहर आई। जिससे 'सामाजिकतावादी यथार्थवाद' का जन्म होता है। अब शिक्षा का समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान गया। सफल और सुखी जीवन बनाना शिक्षा का उद्देश्य माना जाने लगा। इस लहर में अध्ययन की अवहेलना न की गई, वरन् उसे सामाजिक तथा व्यक्तिगत हित का साधन माना गया। उपयोगी कलाओं के पढ़ाने की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया। ज्ञान के ठीक-ठीक 'बोध' पर बल दिया गया। 'रटने' की पद्धति की निन्दा की गई। सामाजिक गुण प्राप्त करने के लिये इतिहास, राजनीति, भूगोल, कानून, राजदूत-विद्या, विज्ञान, गणित, घोड़सवारी, नृत्य तथा कुछ खेल आदि का पाठ्य-वस्तु में समावेश किया गया। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य बदल जाने से उसकी प्रणाली तथा पाठ्य-वस्तु में भी कुछ भिन्नता आ गई। यह प्रगति अठारहवीं शताब्दी तक धनी तथा बड़े लोगों के बच्चों की शिक्षा में चलती रही। पर सर्व साधारण के स्कूलों पर इस प्रगति का विशेष प्रभाव न पड़ सका। आगे चलकर यथार्थवाद की प्रणाली दोषपूर्ण हो गई। व्याकरण और साहित्य-शास्त्र पर विशेष बल दिया जाने लगा और 'विवेक' वृद्धि के प्रति उदासीनता दिखलाई गई। नीचे हम इस नई प्रगति के मुख्य प्रतिनिधि मॉनटेन पर विचार करेंगे।

मॉनटेन (१५३३-१५९२)—

मॉनटेन 'सामाजिकतावादी' की कोटि में आता है। उसने यह

भली-भाँति समझ लिया था कि 'पुनरुत्थान' काल के शिक्षा-आदर्श व्यक्ति को जीवन-संग्राम में सफल नहीं बना सकते। शिक्षा-सम्बन्धी उसके विचार हमें उसकी 'पेडान्ट्री' तथा 'एडूकेशन ऑव् चिल्ड्रेन' नामक पुस्तकों में मिलते हैं। मॉनटेन के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिये कि व्यक्ति में 'समझ' और 'विवेक' आ जाय और वह संसारिक जीवन के लिये भली-भाँति तैयार हो जाय। शिक्षा का यह अर्थ नहीं कि अध्यापक पुस्तकों से कुछ बातों को याद कर कक्षा में चिल्ला-चिल्ला कर उन्हें दुहराया करें। विद्यार्थियों को आत्म-निर्भरता सिखलानी चाहिये। उन्हें ऐसा ज्ञान दिया जाय कि वे उसका अपने दैनिक जीवन में उपयोग कर सके। बिना अच्छी तरह से समझी हुई बात कभी स्वीकार नहीं करनी चाहिये। कोई बात हमें इसलिये नहीं माननी चाहिये कि उसे अरस्तू या एपीक्यूरस ने कहा है, वरन् इसलिये कि वह स्वयं को ठीक जँचती है। यदि उनकी बातें हम अपने 'विवेक' के अनुसार स्वीकार करते हैं तो वे 'हमारी' बातें हो जाती हैं। शिक्षा का तात्पर्य 'शक्तियों के विकास' से है। 'ज्ञान' मस्तिष्क में बाँधा नहीं जा सकता। वस्तुतः वह तो उसका अंग हो जाता है। जो दूसरों का अनुसरण बिना समझे-बूझे करता है वह कुछ भी नहीं सीखता। उसको जिज्ञासा किसी भी वस्तु के लिये नहीं होती। बालक साधारणतः पन्द्रह या सोलह वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करता है। इसके बाद वह संसारिक झंझटों में फँस जाता है। इसलिये उचित है कि इस समय के भीतर हम उसे आवश्यक ज्ञान दे दें। उसके शरीर और मस्तिष्क की शिक्षा पर साथ ही साथ ध्यान देना चाहिए। "हम मस्तिष्क अथवा शरीर को शिक्षा नहीं दे रहे हैं—हम मनुष्य को शिक्षा दे रहे हैं—अतः उसे दो भागों में विभाजित करना ठीक न होगा।" मॉनटेन नहीं चाहता कि पुस्तकों में बच्चों की असाधारण रुचि हो। 'पुस्तकीय' शिक्षा उसे पसन्द नहीं। "दूसरे लोगों की पुस्तकें पढ़ने से हम विद्वान हो सकते हैं पर बुद्धिमान् तो हम अपने ही ज्ञान से हो सकते हैं।" ईश्वर ने 'सत्य' और विवेक को किसी एक के हिस्से में नहीं दे दिया है। जिसने इसे पहले देखा उसी का यह नहीं है, यह तो सबके लिये समान हो सकता है।

मॉनटेन व्यक्ति को व्याकरण-शास्त्री अथवा तर्कवेत्ता नहीं बनाना चाहता। वह उसे मनुष्य बनाना चाहता है। वह उसे 'रहना' सिखलाना चाहता है। मॉनटेन ग्रीक और लैटिन के उपयोग को समझता था। परन्तु 'मानवतावादी' के सदृश् सब कुछ इन्हीं ने निछावर कर देना वह मूर्खता समझता

था। मॉनटेन के अनुसार व्यक्ति को सबसे पहिले अपनी मातृभाषा सीखनी चाहिये, उसके बाद अपने पड़ोसी की। पश्चात् लैटिन अथवा ग्रीक सीखी जा सकती है। मॉनटेन के अनुसार मातृभाषा स्वाभाविक विधि से पढ़नी चाहिये। वह मानवतावादी शिक्षा-प्रणाली की कड़ी आलोचना करता है। "जैसे चिड़िया दानों को चुगती हुई एक खेत से दूसरे खेत में जाती है और बिना उन्हें चखे हुए लाकर अपने बच्चों को खिलाती है उसी प्रकार मानवतावादी शिक्षक पुस्तकों से ज्ञान को चुनते हैं—वे उसे अपने होंठ पर ही रखते हैं—विद्यार्थियों को चुगाने की कौन कहे वे तो उसे हवा में छोड़ देते हैं।" मॉनटेन बच्चे को रूसो के सदृश् समाज से अलग नहीं करना चाहता। उसका विश्वास है कि समाज के सम्पर्क से बालक बहुत कुछ सीख सकता है। इसलिए उसने इतिहास के पढ़ने और दूसरों के सम्पर्क पर बल दिया है। मॉनटेन 'गुण', 'ज्ञान' और कार्यशीलता स्कूलों में ले आना चाहता है। उसके अनुसार ज्ञान ही सब कुछ नहीं है। मॉनटेन स्पार्टी को सच्चा शिक्षक मानता है क्योंकि वे साहित्य की अपेक्षा 'चरित्र' और 'कार्यशीलता' पर अधिक बल देते थे। वह चाहता है कि स्पार्त्ता के सदृश् बालक 'वस्तुओं' के विषय में सोचें—एथेन्स की तरह शब्दों के बारे में नहीं। "उसे अच्छी प्रकार काम करना सीखना चाहिये न कि तर्क करना।" "वास्तविक ज्ञान तो 'वर्तमान' का होता है। 'भूत' और 'भविष्य' का ज्ञान तो आडम्बर पूर्ण होता है।" इन सब विचारों से मॉनटेन तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के दोषों को हमारे सामने रख देता है। स्पष्ट है कि मॉनटेन प्राचीन साहित्य के 'ज्ञान' को ही शिक्षा नहीं मानता। वह तो विद्यार्थियों को जीवन-सम्बन्धी वास्तविक ज्ञान देना चाहता है जिससे वीरता, संयम, न्याय, आकांक्षा, लोभ, स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का ठीक अर्थ समझ कर वे अपने को जीवन के सभी कार्यों के योग्य बना सकें। 'पुस्तकीय' ज्ञान झूँठे सिक्के के समान है। वह बच्चों के लिये सुखद और मनोरंजक कभी नहीं हो सकती।

उपसंहार—

मॉनटेन को अपने समय के स्कूल और कॉलेज पसन्द न थे क्योंकि वे समय की माँग पूरी करने में असमर्थ थे। समय की माँग क्या थी इसे हम देख ही चुके हैं। वह प्रत्येक बालक को निजी अध्यापक द्वारा शिक्षा देना चाहता था। उसका यह सुझाव न हितकर ही है और न सम्भव ही। उपर्युक्त विवेचन से हम यह सारांश निकाल सकते हैं कि उसके अनुसार शिक्षा 'विवेक' और 'बुद्धि' के विकास के लिये होनी चाहिए। 'स्मरणशक्ति' बढ़ाने के लिए शिक्षा न

होनी चाहिए। यह तो अपने आप ही बढ़ जायगी। अतः 'रटाने' की प्रथा का एकदम त्याग करना चाहिये। बच्चे को व्यावहारिक ज्ञान तथा शिष्टता सीखना आवश्यक है। यात्रा को भी शिक्षा में स्थान देना चाहिये क्योंकि इससे व्यक्ति विभिन्न लोगों के सम्पर्क में आकर व्यावहारिकता सीखता है और दूसरों के अनुभव से लाभ उठाता है। मॉनटेन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य विद्वान् अथवा 'व्यावसायिक पुरुष' नहीं बनाना है। शिक्षा व्यक्ति को ऐसा बनाए कि वह भद्र पुरुष का जीवन व्यतीत कर सके। मॉनटेन अपने सामने विशेषकर धनी लोगों की शिक्षा की समस्या रखता है। जनवर्ग की शिक्षा पर उसका ध्यान नहीं। गरीब बच्चों के लिये कुछ कार्यालयों का उल्लेख वह अवश्य करता है परन्तु उसने उनकी शिक्षा-समस्या पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। इस प्रकार हम देखते हैं कि मॉनटेन का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं है। मानवतावादी यथार्थ-वाद से थोड़ा आगे चलकर वह स्वानुभव यथार्थवाद की ओर संकेत करता है।

५—'स्वानुभववादी—(सेन्स) यथार्थवाद'

(१) स्वरूप—

'स्वानुभववादी' यथार्थवाद सत्तरहवीं शताब्दी का शिक्षा-सिद्धान्त है। इसकी उत्पत्ति मानवतावादी और 'सामाजिकतावादी' यथार्थवाद से होती है। इसके दृष्टिकोण में आधुनिकता की पूरी छाप है। आजकल जितने शिक्षा-सिद्धान्त प्रचलित हैं उन सबकी जड़ 'स्वानुभववादी-यथार्थवाद' में पाई जा सकती है। 'ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होता है—शब्दों से नहीं'—यह इसकी पहली ध्वनि है। इसलिये 'स्मरण-शक्ति' के विकास पर ध्यान नहीं देना है। उसका विकास ज्ञानेन्द्रियों के विकास में निहित है। अतः शिक्षक का ध्यान उनके विकास की ओर होना वांछनीय है। हम पीछे कह चुके हैं कि सत्तरहवीं शताब्दी से विज्ञान की छाप सर्वत्र दिखलाई पड़ने लगी वैज्ञानिक आविष्कारों से लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत हो चला था। 'स्वानुभववादी-यथार्थ-वादी' विज्ञान के विकास से बहुत प्रभावित हुआ। उसे इस बात का पक्का अनुभव हो गया कि 'सत्य' की खोज पुस्तकों में नहीं की जा सकती। वह तो "प्राकृतिक पदार्थों और विधियों" में ही पाया जा सकता है। अतः शिक्षा-प्रणाली प्राकृतिक विधियों के अनुकूल होनी चाहिये। इस प्रगति के दो परिणाम निकले। एक के अनुसार विज्ञान के आधार पर प्राथमिक शिक्षा-सिद्धान्त का निर्माण किया गया; और दूसरे के अनुसार साहित्य और भाषा के प्रति उदा-

लीन होकर विज्ञान में विशेष रुचि दिखलाई गई। इसी समय शिक्षा-मनोविज्ञान की ओर भी ध्यान गया। यों तो मनोविज्ञान की बात प्राचीन युग से ही की जा रही थी। परन्तु उसमें कल्पना की मात्रा अधिक थी। यद्यपि दृष्टिकोण वैज्ञानिक न था, तथापि अब बालक के विकास-सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों की ओर लोगों का ध्यान गया। शिक्षा-मनोविज्ञान को लोग थोड़ा-थोड़ा समझने लगे। शिक्षकों का विश्वास होने लगा कि बालक को पहले 'वस्तु' समझनी चाहियें और नाम उसके पश्चात्, पहले उसे 'मूर्त वस्तुओं' का ज्ञान देना चाहिए—भाववाचक संज्ञायें बाद में। इस प्रकार व्यावहारिकता की ओर विशेष ध्यान दिया गया। पहले उपयोगी ज्ञान देने की आवश्यकता समझी गई। फलतः प्राचीन साहित्य की असामयिकता सिद्ध होने लगी और मातृ-भाषा की शिक्षा पर अधिक बल देना आवश्यक जान पड़ा। विद्यार्थी में आत्मनिर्भरता उत्पन्न करने के लिये परिणाम-प्रणाली (इनडक्टिव् मेथड) पर बल दिया गया। 'सिद्धान्त-प्रणाली' हानिकर मानी गई। 'स्वानुभववादी यथार्थवादी' का मानवता के विकास में पूर्ण विश्वास था। उसे मानवता के विकास में धर्म की हार दिखाई पड़ रही थी। उसका विश्वास था कि इस विकास में शिक्षा का योग महत्त्वपूर्ण होगा। इसलिये शिक्षा-विधि में सुधार करने का पक्का निश्चय कर लिया गया। स्वानुभववादी यथार्थवादी ने समझ लिया कि 'ज्ञान' को उपयोगी बनाने के लिये उसे सरल से सरल रूप में बालकों के समक्ष रखना चाहिए। इसलिये उसने बालक में "विवेक-शक्ति" के विकास की ओर ध्यान दिया। दूसरे के दिये हुये प्रमाण के आधार पर उसे समझाना उसकी बुद्धि के विकास में बाधक समझा गया। इन विचारों से प्रभावित होकर कुछ शिक्षकों ने शिक्षा-क्षेत्र में एक नई लहर लाने की चेष्टा की। अब हम क्रमशः कुछ ऐसे मुख्य शिक्षकों पर विचार करेंगे।

(२) मूलकास्टर (१६३१–१६११)—

यदि यह कहा जाय कि शिक्षा-विज्ञान की नींव मूलकास्टर (१५३१–१६११) ने डाली है तो अत्युक्ति न होगी। सोलहवीं शताब्दी में विद्या का महत्त्व प्रधानतः चतुर लोगों के लिये ही समझा जाता था। शिक्षा का रूप सार्वलौकिक न था। ऐसे विचारों से घिरे रहने पर भी मूलकास्टर अपने समय की गति से बहुत आगे दिखलाई पड़ता है। परन्तु लोगों पर उसका प्रभाव न पड़ सका। शिक्षा में उसका बड़ा अनुभव था। वह इंगलैण्ड के दो प्रसिद्ध स्कूलों, मरचेण्ट टेलर्स स्कूल (१५६१–१५८६) और सेण्ट पॉल्स (१५८६–

१६०८) का ४६ साल तक प्रधान अध्यापक रह चुका था। शिक्षा-सम्बन्धी उसके विचार उसकी 'एलेमेण्टरी' और 'पोजीशन्स' नामक पुस्तकों में मिलते है। वह स्वानुभववादी 'यथार्थवादी' कहा जाता है। उसके अनुसार "शिक्षा का ध्येय शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास करना है तथा प्रकृति को अपनी पूर्णता तक पहुँचने में योग देना है।" "मॉनटेन के सदृश् उसका भी सिद्धान्त था कि 'सीखने वाली वस्तु' पर ध्यान न देकर 'सीखने वाले' पर ध्यान देना चाहिये। वह बालक की प्रकृति को 'शिक्षा का आधार' मानता है। उसके अनुसार बालक की आवश्यकता तथा शक्तियों के अनुकूल शिक्षा देनी चाहिये। शिक्षा की पहली स्थिति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सबसे छोटी कक्षा के लिये बड़े चतुर शिक्षक की आवश्यकता है। छोटी कक्षा में कम से कम विद्यार्थी रहने चाहिये। मूलकास्टर बच्चों की तीन प्रकार की शक्तियों का उल्लेख करता है :—१—समझने के लिए 'बुद्धि', २—याद रखने के लिए 'स्मरण-शक्ति', तथा ३—निर्णय के लिए 'विवेक-शक्ति'। इन शक्तियों के विकास पर अलग-अलग ध्यान देना चाहिये। यदि मस्तिष्क पर दबाव डाल कर पढ़ाया जायगा तो उनका विकास न हो सकेगा। शिक्षा एकांगीय न हो, अन्यथा बालक उदार न होगा। मातृ-भाषा को लैटिन से पहले पढ़ाना चाहिये। शिक्षा का माध्यम छः साल से बारह साल तक मातृ-भाषा ही होनी चाहिए। शिक्षा पाने का अधिकार लड़कियों को भी है। लड़कों के सदृश् उन्हें भी पूरा अवसर देना चाहिये। स्कूलों की उन्नति के लिये शिक्षकों की उचित व्यवस्था आवश्यक है। विश्वविद्यालयों में उनकी शिक्षा का ठीक प्रबन्ध किया जा सकता है। प्रारम्भ में बालकों को मातृ-भाषा पढ़ने, लिखने, साधारण चित्र पेन्सिल से खींचने तथा गाने में शिक्षा देनी चाहिये। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मूलकास्टर ने सोलहवीं शताब्दी में ही उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित होने वाले सभी शिक्षा-सिद्धान्तों की ओर संकेत कर दिया है। यही उसकी महत्ता है।

(३) बेकन (१५६१–१६२६)—

सत्तरहवीं शताब्दी से मनुष्य का प्रकृति से नया सम्बन्ध आरम्भ होता है। उस समय के विद्वान नई वस्तुओं की खोज में उतनी रुचि नहीं रखते थे जितनी कि यह देखने में कि नई विधियों का उनके कार्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसा करने में वे समझते थे कि दुनिया को एक नई विचारधारा की ओर वे ले जा रहे हैं। बेकन (१५६१–१६२६) ऐसे ही विद्वानों की कोटि में आता है। वह प्रकृति के अध्ययन को ही वैज्ञानिक उन्नति का आधार मानता था।

परिणाम-प्रणाली को प्रोत्साहन देकर उसने आधुनिक विज्ञान की बड़ी सेवा की है। पर इस विधि का आविष्कारक वह नहीं था। उसके समकालीन बहुत से विद्वान् इस विधि से परिचित थे। परन्तु संगठित कर उसका उपयोग बतलाना बेकन का ही कार्य है। लोगों में दूसरों के दिये हुए प्रमाण को मान लेने की एक परम्परा चल पड़ी थी। बेकन ने इस परम्परा को तोड़ा और स्वतन्त्र अनुसन्धान की ओर लोगों को प्रवृत्त किया। उसने 'प्रयोग' तथा 'निरीक्षण' को अधिक महत्त्व दिया। उसने यह दिखलाया कि

बेकन

वास्तविक 'विचार-क्रिया' यथार्थता के अध्ययन से ही प्रारम्भ होती है। पहले लोग 'वादविवाद' की विजय में अपना गौरव समझते थे। बेकन के प्रभाव से लोग 'यथार्थता' की खोज में अपना गौरव समझने लगे। वैज्ञानिक विधि को प्रोत्साहन देने के कारण बेकन स्वानुभववादी यथार्थवादी माना जाता है। पाठ्य-वस्तु में वैज्ञानिक वस्तु के समावेश का वह समर्थक था। स्वानुभववादी यथार्थ-वादी की दृष्टि से बेकन मूलकास्टर से बड़ा जान पड़ता है। मूलकास्टर शिक्षक था और बेकन दार्शनिक। बेकन ने बौद्धिक जीवन को एक नया उद्देश्य दिया। उसने यह बतलाया कि बौद्धिक जीवन का उपयोगी होना आवश्यक है। केवल 'आध्यात्मवाद' के चक्कर में पड़े रहने से काम नहीं चल सकता। शिक्षा का केन्द्र 'प्रकृति' है और 'ज्ञान' का आधार 'भौतिक-शास्त्र' है। शिक्षा के क्षेत्र में 'प्रकृति' और 'समाज' का अध्ययन होना चाहिये। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समाज के लिये उपयोगी बनाना है। 'शिक्षा तो साधन मात्र है। इसका उद्देश्य 'वस्तुओं' के ऊपर मनुष्य की श्रेष्ठता सिद्ध करना है तथा विज्ञान और मानव शक्तियों में अनुरूपता लाना है। मनुष्य प्रकृति का सेवक और उसकी व्याख्या करने वाला है। उसकी आज्ञाओं का पालन करके ही उस पर शासन किया जा सकता है। इस प्रकार मानव ज्ञान और मानव शक्ति एक ही में मिल जाती है।"

बेकन 'विद्वद्वाद' काल की प्रणाली के विरुद्ध है। वह कहता है—"ज्ञान 'निर्माता' के गौरव तथा मनुष्य के सुख के लिए है।" 'शब्द ज्ञान' को शिक्षा नहीं कहते। "ज्ञान" प्राचीन साहित्य के आधार पर नहीं सीखा जा सकता। अनुमान से सीखा हुआ ज्ञान उपयोगी नहीं हो सकता। केवल प्राचीन साहित्य के पढ़ाने से शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। उसके स्थान पर अब वैज्ञानिक शिक्षा आनी चाहिये। वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार में बेकन की बड़ी रुचि थी। पाठन-विधि के सम्बन्ध में बेकन ने दो सुझाव दिये हैं:— १—पढ़ाने में 'ज्ञानेन्द्रियों' के स्वभाव पर ध्यान न देना ठीक नहीं। २—'ज्ञानेन्द्रियों' से प्रारम्भ कर 'बुद्धि' तक पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिये। बेकन शिक्षा-विधियों को क्रम-बद्ध करना चाहता था। उसने परिणाम-प्रणाली को स्पष्ट कर शिक्षा के प्रयोगात्मक कार्य के लिये एक वैज्ञानिक विधि दी। उसके अनुसार उदाहरणों का चुनाव वैज्ञानिक विधि से ही करना चाहिये। उसका ध्यान वैज्ञानिक विधि तक ही सीमिति रहा। मनोवैज्ञानिक की वह चर्चा न कर सका। परन्तु उसकी परिणाम-प्रणाली का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़े बिना न रहा।

(४) राटके (१५७१–१६३५)—

राटके (१५७१-१६३५, जर्मनी) 'स्वानुभववादी यथार्थवादी' कहा जाता है। इसे हम एक नई रीति चलाने वाला कह सकते हैं। इसी के सिद्धान्तों को कमेनियस ने और आगे बढ़ाया। अतः कमेनियस का मार्ग प्रदर्शक भी यह कहा जा सकता है। राटके ने अपने शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुसार कूथेन और अन्स्टाट में स्कूल-संचालन का प्रयत्न किया परन्तु असफल ही रहा। अपने विचारों को वह कार्यान्वित न कर सका। अपने जीवन-काल में राटके प्रशंसा न पा सका। परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अपने समय के शिक्षा-सम्बन्धी बातों में वह पथ-प्रदर्शक रहा है। उसने कुछ ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख किया जिनका कमेनियस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते उसके प्रायः सभी नियमों का शिक्षा-शास्त्र में समावेश कर लिया गया। उसके सिद्धान्तों का विवरण उसकी 'मेथड्स नोवा' नामक पुस्तक में मिलता है। "हर एक वस्तु में हमें स्वाभाविक नियमों का पालन करना चाहिये। ज्ञान की प्राप्ति में मनुष्य की बुद्धि की एक अनुक्रम परम्परा होती है। इस परम्परा का का समझना आवश्यक है। शिक्षा इसी परम्परा पर आधारित होनी चाहिये।" यहाँ पर राटके मनोवैज्ञानिक नियमों की ओर संकेत करता है। वह कहता है कि पहले हमें वस्तुओं के समझने पर ध्यान देना चाहिये। वस्तुओं के समझ

लेने पर शब्दों का ज्ञान स्वतः हो जाता है। शिक्षक को बालक के ऊपर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहिये। ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर ज्ञान सिखलाना चाहिये। 'रटाने' से बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। उसके विकास के लिये प्रश्नों की सहायता लेनी चाहिये। ज्ञान को स्थायी बनाने के लिये उसको बार-बार दुहराना चाहिये। जेसुइट प्रणाली का भी यही विधान था। एक समय एक ही विषय पढ़ाना चाहिये। जब तक उसका अच्छी तरह ज्ञान न हो जाय तब तक दूसरे में हाथ नहीं डालना चाहिये। यहाँ राटके थोड़ा अमनोवैज्ञानिक मालूम होता है। परिवर्तन आवश्यक है। एक ही विषय बार-बार पढ़ाने से मस्तिष्क थक जाता है। राटके का तात्पर्य यदि हम यह समझें कि जब तक कोई वस्तु याद न हो जाय तब तक उसे अनिश्चित काल के लिये स्थगित न करना चाहिये तो हमारे लिये वह विशेष हितकर होगा। (परन्तु आजकल स्कूलों की प्रथा निराली है। बच्चों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कई विषय पढ़ाये जाते हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि वे किधर जा रहे हैं। यदि प्रत्येक कक्षा के विषय कुछ कम करके उन्हें दूसरी कक्षा में प्रारम्भ किया जाय तो ज्ञान अधिक स्थायी हो सकता है और उनका प्रभाव भी विद्यार्थियों पर विशेष पड़ेगा।)

प्रत्येक बालक की शिक्षा में व्यक्तिगत अनुभव का महत्त्व है। उसे दूसरे के प्रमाण पर 'यथार्थता' को स्वीकार नहीं करना चाहिये। राटके कहता है कि बालकों में जिज्ञासा उत्पन्न करनी चाहिये। जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। राटके लैटिन और ग्रीक सभी बालकों को नहीं पढ़ाना चाहता। उसके अनुसार इन भाषाओं को केवल विद्वान् बनने वाले बालकों को ही पढ़ाना चाहिये। मातृभाषा में पढ़ाई हुई बात शीघ्र याद हो जायगी। बालकों के मस्तिष्क पर अवांछित बल नहीं पड़ेगा। राटके के प्रभाव से कूथेन में पहली बार एक ऐसा स्कूल खोला गया जिसका माध्यम मातृभाषा (जर्मन) रखा गया। राटके शारीरिक शिक्षा का पक्षपाती था। वह प्रत्येक स्कूल में इसके लिये खेल-कूद इत्यादि का प्रबन्ध करना चाहता था। उसने पुस्तकों तथा विधियों की एक रूपता पर बड़ा बल दिया है। उसने यह बतलाया कि भाषा की शिक्षा कैसे देनी चाहिये। लैटिन, ग्रीक और हेब्रू की भी शिक्षा वह मातृभाषा द्वारा ही देना चाहता था। यदि हम ध्यान पूर्वक देखें तो पता चलेगा कि पेस्तॉलॉज़ी के प्रायः सभी विचार राटके के सिद्धान्त में बीज रूप में दिखलाई पड़ते हैं।

(५) कमेनियस (१५६२-१६७०)—

कमेनियस (१५६२–१६७०) 'स्वानुभववादी यथार्थवादी' की कोटि में आता है। आजकल जितने शिक्षा सिद्धान्त चलित हैं उन सब में कमेनियस के विचार किसी न किसी रूप में अवश्य मिलेंगे। अपने समय की शिक्षा-पद्धति उसे पसन्द न थी। 'प्रकृति' के अध्ययन पर वह शिक्षा-व्यवस्था को पुनः संगठित करना चाहता था। गुण चाहे जहाँ मिले उसे स्वीकार करने में उसे हिचक न थी। अपनी चतुरता से उसे क्रम-बद्ध कर तथा उसमें अपनी आत्मा पिरोकर उसे एक नया रूप दे देना वह अच्छी प्रकार जानता था। यही कारण है कि प्लैटो, अरस्तू, सिसरो, इरैसमस, बेकन इत्यादि के विचारों का सार उसके सिद्धान्त में दिखलाई पड़ता है। इसे अनु-करण समझना भूल होगी। कमेनियस के अनुसार ज्ञान के तीन स्रोत हैं—'अन्तर्ज्ञान', 'निरीक्षण' और 'विचार'। कमेनियस के सभी कार्यों में उसकी धार्मिक भावना की छाप है। मानव-स्वभाव में उसका पक्का विश्वास था। उसका विश्वास था कि शिक्षा से प्रत्येक को चरित्रवान् बनाया जा सकता है। वह सभी विषय सबको पढ़ाना चाहता था। शिक्षा को वह सबके लिये सुलभ करना चाहता था। उस समय सार्वलौकिक शिक्षा की भावना सबको हास्या-स्पद दिखलाई पड़ती थी। परन्तु कमेनियस अपने विचारों पर डटा रहा। वह सबको दिखलाना चाहता था कि मानव उन्नति ज्ञान के संग्रह और उसके प्रचार से ही हो सकती है, इसलिये सार्वलौकिक शिक्षा का संगठन करना अनिवार्य है। कमेनियस मॉनटेन के सदृश् शिक्षा केवल धनियों के लिये ही नहीं समझता था। 'शिक्षा केवल धनी तथा प्रभावशाली लोगों के बच्चों के लिये ही नहीं है, वह तो लड़के व लड़की, भद्र व अभद्र, धनी व दीन, शहरों व देहातों में और भवनों तथा झोपड़ियों में सबके लिये समान है। जिसे ईश्वर ने ज्ञानेन्द्रिय और

कमेनियस

बुद्धि दी है उसे शिक्षा से वंचित नहीं रहना चाहिये ।" [1] कमेनियस का विश्वास था कि प्रकृति ने सब व्यक्तियों में ज्ञान' 'गुण' और ईश्वर-भक्ति का बीज बो दिया है। इन्हीं तीनों को बढ़ाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह सभी वस्तुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त कर ले। उसे अपने वातावरण तथा अपने पर पूरा प्रभुत्व पाने की चेष्टा करनी चाहिये। उसे सभी वस्तु ईश्वर से सम्बन्धित समझनी चाहिये। ईश्वर का ध्यान रखने से बुरी प्रवृत्ति मनुष्य में नहीं आ सकती। कमेनियस के शिक्षा के सिद्धान्त उसके इन्हीं विचारों से उत्प्रेरित हुये हैं। उसके अनुसार 'ज्ञानेन्द्रिय', 'बुद्धि' तथा 'दैवी प्रकाशन'—की सहायता से ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि इन तीनों में सामञ्जस्य रहे तो त्रुटि हो ही नहीं सकती। तब मनुष्य ज्ञानवान् होकर सदैव अपने कर्तव्य-पथ पर डटा रहेगा। इस प्रकार शिक्षा के तीन ध्येय हैं :—

१—व्यक्ति को जीवन में सफलता के लिये आवश्यक ज्ञान देना।

२—नैतिक तथा चरित्र विकास के लिए उसे विवेक देना।

३—उसमें ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना।

कमेनियस को अपने समय के स्कूलों में इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं दिखलाई पड़ती थी। वह उनकी बड़ी आलोचना करता है। अपने समय के स्कूलों का वह इस प्रकार वर्णन करता है। "स्कूल 'बालकों के लिये एक भय की वस्तु हो गई है। वह मस्तिष्क का कसाईखाना है—जहाँ साहित्य और पुस्तकों के प्रति घृणा मोल ली जाती है, जहाँ जो वस्तु एक साल में सीखी जा सकती है—उसमें दस साल नष्ट किये जाते हैं, जहाँ सरलता से न पढ़ा कर झोंके के साथ पढ़ाया जाता है, जहाँ स्पष्टता से न बताकर टेढ़े-मेढ़े बताया जाता है ....जहाँ मस्तिष्क में शब्द भरे जाते हैं।' स्कूल अपने किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सके हैं। मातृभाषा की एकदम अवहेलना की गई है। लैटिन व्याकरण और साहित्य पढ़ाने में सारा समय गँवा दिया जाता है। 'वस्तुओं' के बारे में न पढ़ा कर पहले शब्दों के विषय में पढ़ाया जाता है।" कमेनियस के अनुसार उदाहरण के बाद नियम आने चाहिये। व्याकरण को भाषा से पहले पढ़ाना भूल है। पढ़ाने में किसी प्रकार का दबाव न हो। भाषा जैसे विषयों का ज्ञान बालक को उसी प्रकार सिखलाना चाहिये जैसे कि वह चलना सीखता है। चलना सिखाने में केवल

१—ग्रेट डिडैक्टिक, अध्याय १२, § २।

वातावरण पर कभी-कभी ध्यान दे दिया जाता है। किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाता। उसी प्रकार पढ़ने में दबाव डालना अनुचित है। बालक को ऐसे वातावरण में छोड़ देना चाहिये कि वह सब कुछ सरलता से स्वयं सीख ले। बालक ने यदि कोई बात सीख ली तो आगे चलकर उसके मस्तिष्क में उसका उसी प्रकार से विकास होगा जैसे कि बीज का उपजाऊ खेत में। जैसे बीज बो देने पर उसकी उन्नति देखने के लिये खोद-खोद कर हम उसे नहीं देखते, उसी प्रकार बालक को एक बार ज्ञान दे देने पर कुछ समय के लिये निश्चिन्त हो जाना अनिवार्य है। यदि उसने उसे भली प्रकार समझ लिया है तो उसका वांछित प्रभाव उसके चरित्र पर पड़ेगा ही।

उस समय के स्कूलों में भिन्न-भिन्न पाठन-विधियाँ प्रचलित थीं। प्रत्येक स्कूल और शिक्षक की अपनी अलग-अलग विधि थी। एक बार एक ही विद्यार्थी को पढ़ाया जा सकता था। ऐसी कोई विधि न थी जिससे पूरी कक्षा को एक साथ ही सुचारु रूप से पढ़ाया जा सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कमेनियस एक कक्षा में एक ही शिक्षक को पढ़ाने के लिये कहता है। एक ही प्रकार के प्रश्न सभी लड़कों को देने चाहिये। सभी विषय और भाषायें एक ही विधि से पढ़ानी चाहिये। पढ़ाने का पूरा कार्य-क्रम साल, महीने और दिन के प्रारम्भ होने के पहले ही बना लेना चाहिये। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि कमेनियस शिक्षक के 'महत्त्व' को भूल गया। उसका यह विश्वास कि सभी शिक्षक सभी विषय को पढ़ा सकते हैं ठीक नहीं। उस समय शिक्षा का विशेष प्रचार न था। माता-पिता उसके महत्व को नहीं समझते थे। इसलिये बच्चों को स्कूल जाने के लिये वे विवश नहीं करते थे। कभी-कभी वे घरेलू काम में ही उन्हें फँसा लेते थे। यह स्थिति कमेनियस को बड़ी खटकती थी। वह बालकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व माता-पिता पर नहीं देना चाहता था। उनकी योग्यता में उसका विश्वास न था। वह सभी बालकों का स्कूल आना अनिवार्य करना चाहता था। उनकी अनुपस्थिति उसे बहुत खटकती थी। कमेनियस के सदृश रूसो को भी 'माता-पिता' पर विश्वास न था। कमेनियस "माता-पिता" और "घर" को बच्चों का शत्रु समझता है। लड़के 'अनुपस्थित' न हुआ करें इसलिये वह शिक्षा को मनोरंजक बनाना चाहता है। इसके लिये अध्यापक का दयालु होना आवश्यक है। माता-पिता को चाहिये कि वे बच्चों को सदा पढ़ने के लिये उत्साहित किया करें। उन्हें अच्छी पुस्तकें दिया करें तथा पुरस्कार आदि से उन्हें सदा बढ़ावा देते

रहें। समय-समय पर अध्यापक को उनकी प्रशंसा भी करनी चाहिये। आगे बढ़ाने के लिये उनमें स्पर्धा की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। पीटने की धमकी कभी न देनी चाहिये। मारने-पीटने से तथा चिल्लाने आदि से मस्तिष्क थक जाता है और शिक्षा अरुचिकर हो जाती है। नित्य केवल चार या पाँच घण्टे तक पढ़ाई होनी चाहिये। कक्षा में इतनी शान्ति रहे कि प्रत्येक शिक्षक सौ विद्यार्थियों को एक साथ पढ़ा सके। 'शान्ति' शिक्षा का पहला नियम है। इसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। स्कूल का वातावरण आकर्षक होना चाहिये। भवन सुन्दर हो। हवा व प्रकाश आदि आने का अच्छा प्रबन्ध हो। चित्र व मानचित्र चारों ओर टँगे रहें। शिक्षा को मनोरंजक बनाने के लिये ज्ञानेन्द्रियों को आधार मानना आवश्यक है। पहले उन्हीं की शिक्षा होनी चाहिये। उनकी शिक्षा हो जाने पर 'स्मरण-शक्ति' तथा 'बुद्धि' का विकास अपने आप हो जाता है।

कमेनियस अपने समय के सभी विचारकों के सदृश् प्रकृति का अनुकरण करने के लिए कहता है। पढ़ाने की विधि स्वाभाविक होनी चाहिए। जो बातें बच्चों के लिये क्लिष्ट हों उन्हें छोड़ देना चाहिये। शिक्षक को उचित समय का ध्यान रखना चाहिए। किस उम्र में कैसे विषय पढ़ाना चाहिये इसका उन्हें अच्छी प्रकार ज्ञान होना चाहिए। प्रकृति का एक समय होता है। बालक की शिक्षा शीघ्र से शीघ्र प्रारम्भ कर देनी चाहिए क्योंकि बचपन में वे सरलता से सीख सकते हैं। जैसे बचपन में पढ़ाना सरल होता है उसी प्रकार 'दिन' के 'बचपन' में अर्थात् सुबह पढ़ाना बड़ा सरल है क्योंकि उस समय सारी शक्तियाँ नई रहती हैं। भिन्न-भिन्न विषयों को एक क्रम से पढ़ाना चाहिये। लैटिन व्याकरण, ग्रीक इत्यादि सब साथ ही पढ़ाना सारा भवन एक साथ बनाने के समान हैं। हमें पहले नींव डालनी होगी। उसके बाद दीवाल और छत का क्रम आयेगा। इसी प्रकार बच्चे को हमें पहले उसकी मातृभाषा पढ़ानी चाहिये। दूसरे विषयों की बारी बाद में आयेगी। प्रत्येक कक्षा की शिक्षा दूसरे से सम्बन्धित होनी चाहिए, जिससे बालकों का ज्ञान 'क्रमबद्ध रूप' में हो।

जैसे बरगद के छोटे से बीज में एक वृहद् वृक्ष होने की सम्भावना है उसी प्रकार कमेनियस छोटे से छोटे बालक में बड़ी से बड़ी सम्भावना छिपी देखता है। इसलिये वह उसकी शिक्षा के लिये पूरा आयोजन करना चाहता है। यदि बालक का मन पढ़ने में नहीं लगता तो स्पष्ट है कि शिक्षा-विधि मनोरंजक

नहीं। इसमें अध्यापक का ही दोष है। इसके लिये बालक को पीटना अनुचित है। नैतिक अपराध करने पर ही उसे कुछ दण्ड दिया जा चाहता है। पाठ्य-पुस्तक के चुनाव में बड़ा सतर्क रहना चाहिये। शिक्षकों को स्वयं उन्हें तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिये। लोगों के सामने एक आदर्श रखने के लिये कमेनियस ने लैटिन तथा अन्य विषयों की बहुत उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें बनाईं जो कि उन्नीसवीं शताब्दी तक योरोप के सभी स्कूलों में चलती रहीं। कमेनियस ने इन पुस्तकों द्वारा प्रमाणित कर दिया कि किसी भाषा को सीखने के लिये पहले उसका व्याकरण पढ़ना आवश्यक नहीं। पुस्तकें ऐसी हों कि बालक उनसे 'ज्ञान', 'गुण' और ईश्वर-भक्ति सीख सकें। कमेनियस लैटिन और ग्रीक का विरोधी नहीं है—पर वह इन भाषाओं को केवल विद्वान बननेवालों को ही सिखाना चाहता है। विश्वविद्यालय के विषय में भी वह यही कहता है। विश्वविद्यालय में केवल ऊँची बुद्धि वालों को ही पढ़ना चाहिये। दूसरे लोगों को अपना ध्यान कृषि अथवा व्यापार आदि की ओर ले जाना चाहिये। मॉनटेन भी यही कहता है—"यदि पढ़ने की प्रवृत्ति न हो तो किसी व्यवसाय में चला जाना चाहिए।"

कमेनियस उचित शिक्षा-व्यवस्था के लिये चार प्रकार के स्कूलों का उल्लेख करता है:—१—शैशव काल के लिये—इसका उत्तरदायित्व माता-पिता-पर है। २—बचपन—इसके लिये मातृभाषा के (वर्नाक्यूलर) माध्यमिक स्कूलों की स्थापना करनी चाहिये। इसमें छः वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक के बच्चे पढ़ने आयेंगे। ३—'किशोरावस्था' के लिए लैटिन स्कूल की स्थापना होगी। इसमें १२ वर्ष से १८ वर्ष के लड़के शिक्षा पायेंगे। ४—प्रौढ़ावस्था—इसके लिये विश्व-विद्यालय और यात्रा की व्यवस्था होनी चाहिये। प्रत्येक अवस्था के लिये कैसी शिक्षा होनी चाहिए इसका कमेनियस अच्छी प्रकार विवेचन करता है। अपनी 'स्कोला मटर्नी ग्रेमी' नामक छोटी पुस्तक में वह शैशव की शिक्षा का उल्लेख करता है। माता को बच्चे का पालन-पोषण किस प्रकार करना चाहिये इसका पूरा विवरण उसमें दिया हुआ है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि फ्रोबेल के 'किण्डरगार्टेन' का बीज कमेनियस ने अपनी इस छोटी पुस्तक में बो दिया है। मातृभाषा तथा लैटिन स्कूलों की पूरी शिक्षा-पद्धति पर उसने सविस्तार विचार किया है। स्कूल में मातृभाषा, पढ़ना, लिखना, संगीत, प्रारम्भिक अंकगणित, बाइबिल, इतिहास, अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र के साधारण नियम, संसार का इतिहास, पृथ्वी तथा तारों के रूप और गति, भूगोल, हस्तकला,

आदि पढ़ाने चाहिएँ। लैटिन स्कूल के पाठ्य क्रम का भी उसने सविस्तार वर्णन किया है। कमेनियस के अनुसार स्कूल के चार कर्तव्य हैं:—

१—भाषा सिखाना।
२—विज्ञान और कला के अध्ययन से शक्तियों का विकास करना।
३—नैतिकता का विकास करना।
४—ईश्वर में सच्ची भक्ति उत्पन्न करना।

अपने पाठ्य-वस्तु के चुनाव में उसने इन चार कर्तव्यों का प्रत्येक कक्षा में ध्यान रक्खा है।

कमेनियस मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानता है। वह मनुष्य का उद्देश्य इस भौतिक जीवन से परे समझता है। भौतिक जीवन तो एक दूसरे भावी जीवन की तैयारी है। इस तैयारी के तीन अंग हैं:—१—आत्म-ज्ञान, २—आत्म-संयम, ३—ईश्वर की ओर अपने को लगाना। इन तीनों अगों का विकासज्ञान, गुण और धर्म के अवलम्बन से हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा के बिना कार्य नहीं चल सकता। यह शिक्षा शीघ्र प्रारम्भ कर देनी चाहिये। लड़कियों को भी शिक्षा देना आवश्यक है। शिक्षा सार्वलौकिक बना देनी चाहिए। कमेनियस कहता है कि अब तक शिक्षा का रूप बड़ा अनिश्चित रहा है। कोई शिक्षक यह नहीं जानता कि 'किसको' 'किस समय' 'कितना' पढ़ाना चाहिए। यदि 'प्राकृतिक नियम' के अनुसार शिक्षा दी जाय तो स्कूल के सारे दोष दूर किये जा सकते हैं। स्कूलों के सुधार के लिये उसने निम्नलिखित 'नव नियमों' का उल्लेख किया है। इन नियमों का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि प्रायः सभी आधुनिक पाठन-प्रणालियाँ इन्हीं नियमों से प्रोत्साहित जान पड़ती हैं।

कमेनियस के नव "पाठन-सिद्धान्त"

१—जो कुछ बालक को बतलाना हो उसे स्पष्ट शब्दों में सीधे बतलाना चाहिये।

२—जो कुछ पढ़ाया जाता है उसका व्यावहारिक महत्त्व होना चाहिये।

३—शिक्षा सरल हो, पेचीली न हो।

४—जो कुछ पढ़ाया जाय उसका प्रयोजन बतला दिया जाय।

५—साधारण नियमों की व्याख्या पहले ही कर देनी चाहिये।

६—किसी वस्तु या विषय के सभी अंग उचित क्रम, स्थान और सम्बन्ध में पढ़ाने चाहिये।

७—सभी विषय उचित क्रम से पढ़ाने चाहिये।

८—जब तक बालक समझ न ले तब तक विषय को न छोड़ना चाहिये।

९—विषय के अंगों और वस्तुओं के भेद को उसे समझा देना चाहिये।

उसके सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिये अधोलिखित नियम भी याद किये जा सकते हैं—

१—मूर्त वस्तु से अमूर्त की ओर जाओ।

२—यदि सम्भव हो तो परस्पर सम्बन्ध अवश्य दिखलाओ।

३—परिणाम-प्रणाली का प्रयोग करो।

४—बालक की रुचि को उत्तेजित करो।

५—'विश्वास दिलाना' छोड़ कर 'सिद्ध करने'; 'वादविवाद' छोड़ कर 'देखने' तथा 'विश्वास' छोड़ कर 'जानने' की ओर अग्रसर होना चाहिये। इस नियम में कमेनियस के समय की प्रचलित पद्धति का पूरा खण्डन है।

क्विक द्वारा कमेनियस की आलोचना—

अब हम कमेनियस के कुछ दोषों पर दृष्टिपात करेंगे। १—वह बालक को मानव 'जाति' के अनुभव का उत्तराधिकारी मानता था परन्तु बालक यह अनुभव सीख सके इसका समुचित प्रबन्ध वह न कर सका। क्विक महोदय का कहना है कि वैज्ञानिक अनुसन्धान की धुन में वह प्राचीन साहित्य के महत्त्व को न समझ सका। उसके स्थान पर कुछ समकालीन लेखकों की रचनाएँ पढ़ाना वह अधिक उपयोगी समझता है।

२—अपने सिद्धान्तों के विवरण में कमेनियस ने बहुत तुलना की है। तुलना का महत्त्व व्याख्या में है। प्रमाण में तो 'यथार्थता' देखी जाती है। यह ठीक है कि वह अपने सिद्धान्तों के निर्माण में प्राकृतिक नियम से प्रेरणा लेता है। परन्तु पेड़ों और चिड़ियों के साथ तुलना देने में वह मानव स्वभाव को भूल जाता है। 'मानव स्वभाव' के स्थान पर वह 'मानव रहित प्रकृति' को ले आता है।

३—कमेनियस ने 'ज्ञान' और 'मानवशक्ति' का ठीक अनुमान न लगाया। उसने ईश्वर-वाणी जान यह स्वीकार कर लिया कि मनुष्य को सब कुछ जानना चाहिए। फलतः उसकी शिक्षा-प्रणाली में कुछ दोष आ गये जिन्हें बहुत दिनों के बाद समझा जा सका। कमेनियस ने अपनी वृद्धावस्था

में स्वयं समझ लिया कि उसकी लिखी हुई पुस्तकें सामयिक आवश्यकता पूरी नहीं कर सकती थीं।

४—बच्चे को 'सांसारिक ज्ञान' का 'सार' देना ठीक न था।

५—साधारण नियमों का पहले उल्लेख कर देना ठीक नहीं।

६—कमेनियस बालक को भाषा का सारांश दे देना चाहता था। उसका यह विचार ठीक न था क्योंकि भाषा में बहुत से ऐसे शब्द आते हैं जिन्हें हम न जानते हैं और जिन्हें न जानने की विशेष आवश्यकता ही है।

आधुनिक शिक्षा के विस्तार को देख कर हमें क्विक से सहमत होना ही पड़ता है। परन्तु हमें कमेनियस की महत्ता समझने के लिये उसे आधुनिक कसौटी पर कसना ठीक नहीं। कमेनियस के समय में शिक्षा मनोविज्ञान का इतना विकास नहीं हुआ था। मस्तिष्क की मनोवैज्ञानिक शक्तियों से लोग परिचित न थे। 'पुनरुत्थान' तथा 'सुधार' के आन्दोलन से भी लोगों की आखें न खुली थीं। प्राचीनता को लोग अब भी पकड़े हुए बैठे थे। ऐसे समय में कमेनियस की वाणी का लोगों के ऊपर विशेष प्रभाव न पड़ सका। उसकी महत्ता को तो योरोप २५० वर्ष बाद ही जान सका।

कमेनियस और फ्रोबेल—

कमेनियस को शिक्षा-मनोविज्ञान का ज्ञान कम अवश्य था। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसे अपने समय में इसका ज्ञान सबसे अधिक था। वह मस्तिष्क को छोटे पौधे के समान समझता था जो कि समय-समय पर बढ़ा करता है। फ्रोबेल के 'किण्डरगार्टन' में भी यही भाव निहित है। कमेनियस पहला व्यक्ति था जिसने सार्वलौकिक शिक्षा की ध्वनि इतने ऊँचे स्वर से उठाई। उसका 'मानव शान्ति' और 'मानव उन्नति' में पक्का विश्वास था। उसका सार्वलौकिक शिक्षा का सिद्धान्त तो आज सर्वमान्य है। कमेनियस ने शिक्षा का उद्देश्य 'ज्ञान' माना। बालक के चरित्र-विकास की ओर उसका उतना ध्यान नहीं था जितना कि ज्ञान-प्राप्ति की ओर।

कमेनियस और पेस्टॉलॉजी—

श्री बटलर का कथन है कि पेस्टॉलॉज़ी का जीवन शिक्षा-इतिहास में सबसे अधिक मार्मिक है। उसके ये अमर शब्द कि "मैं भिखमंगा होकर भिखमंगों को मनुष्य बनाने के लिये पढ़ाता हूँ" उसके अपरिमित धैर्य और चरित्र की ओर संकेत करते हैं। उसने अपने जीवन में यह कार्यान्वित करके दिखला

दिया कि शिक्षा का तात्पर्य 'पढ़ाना' नहीं है, अपितु 'स्नेह करना' है। परन्तु पेस्टॉलॉज़ी के विचार विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। उसने शिक्षा के लिये अपने जीवन को अवश्य उत्सर्ग कर दिया। पर कमेनियस की अपेक्षा उसने नये 'विचार' हमें कम दिये। पेस्टॉलॉज़ी का यह कथन कि शिक्षा 'विकास' है, बाहर निकालना'—अन्दर रखना नहीं है—कमेनियस के ही सिद्धान्तों पर आधारित है। यदि एक शताब्दी पहले कमेनियस ने संसार को इन सिद्धान्तों से परिचित न कर दिया होता तो शिक्षा-इतिहास में पेस्टॉलॉज़ी का इतना महत्व न रहता।

श्री बटलर आगे कहते हैं कि शिक्षा में कमेनियस का वही स्थान है जो विज्ञान में कापरनियस और न्यूटन का और दर्शन शास्त्र में बेकन और डेसकार्ट का। कमेनियस के विचारों में उच्च कोटि की मौलिकता न थी। पर वह अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित कर दिखाने में सफल हुआ। उसने समय की आवश्यकता को उसी भाँति समझ लिया था जैसे डाक्टर 'रोग' को समझ लिया करता है। परन्तु यदि रोगी दवा न खाये तो डाक्टर क्या कर सकता है? इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि सत्तरहवीं शताब्दी का योरोपीय समाज शिक्षा-क्षेत्र में कमेनियस की बतलाई हुई दवा को अस्वीकृत करके अपनी अस्वस्थता की अवधि को और आगे बढ़ा रहा था।

बेकन, राटके और कमेनियस प्रथप्रदर्शक—

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेकन राटके और कमेनियस ने सत्तरहवीं शताब्दी में शिक्षा-प्रणाली को एक नया रूप दिया। इसलिये वे 'पथ-प्रदर्शक' (इनोवेटर्स) कहे जाते हैं। इन लोगों के सिद्धान्त का सारांश हम संक्षेप में देते हैं। बच्चों को केवल वही बातें याद करानी चाहिएँ जिनका व्यावहारिक मूल्य हो और जिसे वे अच्छी तरह समझते हों। दूसरे के प्रमाण को नहीं मानना चाहिये। विद्यार्थी को उचित है कि वह स्वयं अन्वेषण कर 'यथार्थता' को पहचानने की चेष्टा करे। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए, तभी वह उपयोगी और मनोरंजक हो सकती है। पढ़ने में बालक पर किसी प्रकार का दबाव डालना ठीक नहीं। यदि उसका ध्यान नहीं लगता तो शिक्षक की प्रणाली में कुछ दोष है। न पढ़ने के लिये शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए। लड़कों और लड़कियों को शिक्षा-क्षेत्र में समान अवसर देने चाहिए। केवल खेल का आयोजन कर देने से ही स्वास्थ्य का सुधार नहीं नहीं हो सकता। शारीरिक शिक्षा के लिये पूरी व्यवस्था करनी चाहिए। लैटिन और ग्रीक प्रत्येक बालक को पढ़ाना ठीक नहीं जो इनमें रुचि दिखलायें

उन्हीं को पढ़ाना चाहिए। इनको मातृभाषा के माध्यम से पढ़ना चाहिए। शिक्षा एक विज्ञान है। इसलिये इसमें सब विषयों के लिये समान वैज्ञानिक विधियों का होना आवश्यक है। प्रकृति के नियम और क्रम का पता लगाकर शिक्षा को उसी पर आधारित करनी चाहिए। सबसे पहले 'वस्तु' का अध्ययन करना चाहिए। 'शब्द ज्ञान' की बारी बाद में आयेगी। नियम बतलाने के पहले 'वस्तु' के विषय में चर्चा कर लेना अच्छा है, नहीं तो बालकों की बुद्धि अच्छी प्रकार विकसित न होगी। पहले सरल वस्तुयें बतलानी चाहिए, तब पेचीली। पहले मूर्त तब अमूर्त। विद्यार्थियों का कार्य विश्लेषण करना है, न कि नई वस्तुओं का व्यवस्थापन। ज्ञानेन्द्रियों के ही आधार पर बालक को नई बातें सिखलानी चाहिये। 'ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अनुकूल 'वस्तु' को स्वयं खोज लेती हैं। यदि वे वस्तुओं से दूर रखी गईं तो वे सुस्त पड़ जाती हैं और जब पास रहती हैं तो उससे तब तक जुटी रहती हैं जब तक उसे अच्छी तरह पहचान नहीं लेतीं।"*

६—यथार्थवाद का प्रभाव

'यथार्थवाद' का उस समय के स्कूलों पर विशेष प्रभाव न पड़ा। इसका प्रधान कारण यह था कि यथार्थवाद की ध्वनि को उठाने वाले प्रायः सभी सिद्धान्त छाटने वाले थे। अपने सिद्धान्तों को वे स्वयं कार्यान्वित नहीं कर सकते थे। स्कूलों से उनका सम्बन्ध बहुत कम रहा। फलतः उनका प्रभाव अधिक न हुआ। स्कूलों के अध्यापक समझते थे कि ये लोग धूल की रस्सी बनाना चाहते हैं। कमेनियस को लोग केवल "लैटिन पढ़ाने की नई विधि बतलाने वाला" समझते थे। उसकी लैटिन पुस्तकों का प्रचार केवल सहायक पुस्तकों के सदृश् हुआ। लैटिन तो प्रायः अठारहवीं शताब्दी तक व्याकरण विधि से पढ़ाई जाती रही। तीस वर्षीय युद्ध (१६४८) के बाद धनिकों के लिये फिर नई-नई "एकैडेमीज़" स्थापित होने लगीं। उनकी शिक्षा-प्रणाली मध्यकालीन ही थी। समुद्र के किनारे जो स्कूल खुले उनमें परिस्थितिवश व्यावहारिकता का समावेश करना ही पड़ा। नौविद्या जैसे व्यावहारिक विषय पढ़ाये जाने लगे। इन स्कूलों में कमेनियस के 'स्वानुभववादी यथार्थवाद' का प्रभाव अवश्य पड़ा। जर्मनी में कमेनियस का प्रभाव दूसरे स्थानों से अधिक पड़ा। सत्तरहवीं शताब्दी के अन्त में हरमैन फ्रैंक (१६६३–१७२७) और स्पेन्सर (१६३५–१७००) के प्रतिनिधित्व में 'पुण्यशीलता' (पियेटिज़म्) का आन्दोलन चला। फ्रैंक

*'ऑर्बिस पिक्टस', भूमिका से, 'हूल' का अनुवाद, १६५८ ई०।

प्राचीन साहित्य की प्रधानता के विरुद्ध में था। उसने व्यावहारिक ज्ञान देने के लिये 'हाल' (जर्मनी में एक स्थान) में बहुत से स्कूल खोले। धार्मिक शिक्षा का भी इनमें ध्यान दिया गया। मातृभाषा को प्रधानता दी गई। इस प्रकार फ्रैंक ने कमेनियस के आदर्शों का बड़ा प्रचार किया। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में फ्रैंक के शिष्य हेकर ने बर्लिन में बहुत से स्कूल खोले। इन स्कूलों में जर्मन, फ्रेञ्च, लिखना, पढ़ना, लैटिन, इतिहास, अंकगणित, रेखागणित, भूगोल, धर्म, गृह-निर्माण-विद्या तथा शिल्पकारी पढ़ाई जाती थी। इस प्रकार जर्मनी में यथार्थवाद का बड़ा प्रचार हुआ।

इङ्गलैण्ड—

सत्तरहवीं शताब्दी में स्टुअर्ट राजतन्त्र के पुनः स्थापित हो जाने पर स्कूलों से बहुत से 'नॉनकॉनफ़ॉर्मिस्ट' (जो प्रचलित ईसाई धर्म के विरुद्ध थे) शिक्षक निकाल दिये गए। इनकी संख्या लगभग दो सहस्र के थी। इन्होंने जनता की शिक्षा के लिये कुछ स्कूलों का संगठन किया। इन स्कूलों में प्रचलित प्रथा के प्रतिकूल परिवर्तन किया गया। यथार्थवाद के सिद्धान्तों के अनुसार इनमें कुछ नये विषय पढ़ाये जाने लगे। अंग्रेजी को लैटिन और ग्रीक के बराबर प्रधानता दी गई। स्कूल की पढ़ाई के अतिरिक्त यात्रा तथा घूमने आदि के भी नियम बना दिये गए, जिससे विद्यार्थी अपने से कुछ नई बातें सीख सकें। ये सब स्कूल प्रायः 'एकेडेमीज़' कहे जाते थे। नॉनकॉनफ़ॉर्मिस्ट को ये ही स्कूल प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय तक की शिक्षा देते थे। दूसरों के लिए प्राचीन विधि पर चलने वाले 'पब्लिक स्कूल' तथा प्राचीन विश्वविद्यालय थे। लॉक की रचनाओं का 'एकेडेमीज़' पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

विश्वविद्यालयों पर 'यथार्थवाद' का प्रभाव बहुत ही धीरे-धीरे पड़ा। 'हाल' में तथा गूटिनजेन (जर्मनी) में क्रमशः १६९४ और १७३७ ई० में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। इनमें 'यथार्थवाद' के सिद्धान्त पर उदार भावों के अनुसार शिक्षा दी जाने लगी। इंगलैण्ड के विश्वविद्यालय यथार्थवाद के भावों को अपनाने में बड़े पीछे रहे। उन्नीसवीं शताब्दी में उनका ध्यान इस ओर झुका।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

यथार्थवाद

१—क्यों और कहाँ से ?

सत्तरहवीं शताब्दी में मध्यकालीन आदर्शों की उपयोगिता समाप्त, वैज्ञानिक युग

का प्रारम्भ, दृष्टिकोण की संकीर्णता कम, दार्शनिक और वैज्ञानिक भावों का समावेश, प्राचीन कवियों के सुन्दर भावमय शब्दों का महत्त्व नहीं, वास्तविकता की ओर, 'विवेक और बुद्धि की प्रधानता, वातावरण की प्राकृतिक वस्तुओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर लोगों का ध्यान, 'यथार्थवाद' का जन्म।

२—यथार्थवाद का अर्थ

यथार्थवाद का जन्म कोरी सैद्धान्तिक तथा शाब्दिक शिक्षा के विरोध में, बच्चों के सामने वास्तविकता की चर्चा, व्यक्ति की परिमित शक्तियों का बोध, शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिगत और सामाजिक विकास भी, वास्तविकता की छाप से शिक्षा-प्रणाली को मनोरंजक बनाना, कक्षा की शिक्षा तथा जीवन की विभिन्न समस्याओं में सम्बन्ध, 'मानवतावादी' सामाजिकता तथा स्वानुभव-वास्तविकतावाद।

३—मानवतावादी यथार्थवाद (ह्यूमनिस्टिक रियलिज़्म)

मानवतावाद से सम्बन्ध, प्राचीन साहित्य की उपयोगिता में विश्वास, मानवतावादी के लिये प्राचीन यूनान और रोम आदर्श, मानवतावादी यथार्थवाद के लिये प्राचीन यूनान और रोम आदर्श नहीं, प्राकृतिक वातावरण पर नियन्त्रण, प्राचीन साहित्य में पाण्डित्य ही शिक्षा नहीं, वातावरण को समझना आवश्यक।

(१) राबैले (१४८३-१५५३)

(क) उसका शिक्षा आदर्श—

पुनरुत्थान काल के विचारों से सहानुभूति, 'मानवतावादी' यथार्थवादी, कोरी शाब्दिक शिक्षा अनुपयुक्त, वातावरण सम्बन्धी ज्ञान देना, वास्तविकता की पहचान प्राचीन साहित्य के अध्ययन से सम्भव, पाठ्य-वस्तु—भाषाएँ, अंकगणित, रेखागणित, खगोल और संगीत; इतिहास तथा धर्मपुस्तकों के अध्ययन के लिये ग्रीक, लैटिन और हेब्रू व्याकरण, तर्क तथा आलंकारिक शास्त्र की अवहेलना, पुस्तकों से याद की हुई बातों का दैनिक जीवन से सम्बन्ध ढूँढ़ना, किसलिये पढ़ा गया ?

(ख) राबैले और पेस्तॉलॉजी—

अपने अनुभव द्वारा सीखी हुई बात स्थायी, प्राकृतिक बातों को देखते समय प्राचीन लेखकों के विचारों से तुलना, तारों को देखना।

(ग) राबैले और रूसो—

बालक में इच्छा शक्ति उत्पन्न करना आवश्यक, गलती करके सीखना।

(घ) राबैल और ड्यूइ—

उपयोगी शिक्षा, चिराई, रँगाई और खुदाई, कारीगरों और व्यापारियों के काम को देखना।

(ङ) बौद्धिक विकास के लिये क्या आवश्यक ?

बौद्धिक विकास में पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का स्थान।

(च) रौबैल के अनुसार शारीरिक शिक्षा—

दौड़ना, कूदना, तैरना, मुग्दर आदि, केवल स्वास्थ्य के ही लिये नहीं वरन् युद्ध की तैयारी के लिये भी।

(२) मिल्टन (१६०८–१६७४)

मानवतावादी यथार्थवादी, सर्व साधारण की शिक्षा में रुचि नहीं, केवल धनी लोगों का ध्यान, १२ से २१ वर्ष, प्राचीन परम्परा से मोहित, राबैले के अनुसार, उसकी शिक्षा की परिभाषा सदा के लिये सत्य, ईश्वर का ज्ञान संसारिक वस्तुओं के अध्ययन से।

अध्ययन साधन, ईश्वर को पहचान कर पूर्वजों के ध्वंसावशेष की मरम्मत करना, धार्मिक प्रवृत्ति, उसकी शिक्षा पुस्तकीय, आत्म-निर्भरता को प्रोत्साहन नहीं, 'कृषि' को जानने के लिये वर्जिल को पढ़ो।

संयुक्त स्कूल और विश्वविद्यालय, बौद्धिक विषयों की भरमार, वास्तविक वस्तुओं के विषय में जानने के लिये पुस्तकें साधन, व्याकरण में बहुत समय देना व्यर्थ, पर साहित्य पर बल, पाठ का दुहराना, मातृभाषा पर कम बल।

शारीरिक शिक्षा, व्यायाम तथा उचित भोजन, सैनिक व्यायाम, दृष्टिकोण के विकास के लिये यात्रा आवश्यक।

मिल्टन और राबैले का विशेष प्रभाव नहीं।

सामाजिकतावादी यथार्थवाद (सोशल रियलिज्म)

प्रादुर्भाव के कारण—

प्रचलित शिक्षा से धनी वर्ग असन्तुष्ट, स्कूलों में प्रादेशिक भाषाओं के प्रति उदासीनता, वैज्ञानिक अध्ययन और प्रयोग में जिज्ञासा, शिक्षा समय की मांग पूरी करने में असमर्थ, धनी लोगों के बच्चों की शिक्षा पर तथा एकेडेमी में, सामाजिकतावादी यथार्थवाद' का जन्म धनी लोगों की प्रतिक्रिया से, सफल और सुखी जीवन बनाना शिक्षा का उद्देश्य, अध्ययन सामाजिक और व्यक्तिगत हित का साधन, 'रटने' की निन्दा, पाठ्य-वस्तु में भिन्नता।

मॉनटेन—

शिक्षा का उद्देश्य 'समझ' और 'विवेक' जागृत करना तथा व्यक्ति को जीवन के लिये तैयार करना, समझ करके ही किसी बात को स्वीकार करना, शक्तियों का विकास, शरीर और मस्तिष्क की शिक्षा पर साथ ही साथ ध्यान, पुस्तकीय शिक्षा व्यर्थ, बुद्धिमान अपने ही ज्ञान से।

व्यक्ति को 'रहना सिखलाना, सबसे पहले अपनी भाषा, मानवतावादी शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण; 'गुण', 'ज्ञान' और 'कार्यशीलता'; वस्तुओं के बारे में सोचना शब्दों के बारे में नहीं, वास्तविक ज्ञान वर्तमान का।

उपसंहार—

शिक्षा निजी अध्यापक द्वारा असम्भव, शिक्षा 'विवेक' और 'बुद्धि' के विकास के लिये, 'रटाने' की प्रथा का त्याग, छात्रा महत्त्वपूर्ण विद्वान् और व्यावसायिक बनाना नहीं, जनवर्ग की शिक्षा पर उसका ध्यान नहीं।

५—'स्वानुभववादी-(सेन्स) यथार्थवाद'

(१) स्वरूप—

आधुनिकता की छाप, 'ज्ञान' स्वानुभव से, शब्दों से नहीं, अतः उनके विकास पर ध्यान, 'सत्य' प्राकृतिक पदार्थों और विधियों में, शिक्षा-प्रणाली प्राकृतिक विधियों के अनुकूल, पहले 'वस्तु' तब नाम, मातृ-भाषा की शिक्षा पर ध्यान, परिणाम-प्रणाली, मानवता के विकास में विश्वास, 'ज्ञान' को सरल रूप में रखना, विवेक-शक्ति का विकास।

(२) मूलकास्टर (१५३१–१६११)—

प्रकृति को पूर्णता तक पहुँचाना, सीखने वाले पर अधिक ध्यान देना, शिक्षा का 'आधार' बालक की प्रकृति, सबसे छोटी कक्षा के लिये सबसे चतुर शिक्षक, मस्तिष्क पर दबाव नहीं, मातृभाषा पहले, लड़कियों को लड़कों के सदृश् अवसर, शिक्षकों की शिक्षा, १६ वीं शताब्दी के सभी शिक्षा सिद्धान्तों का ओर संकेत।

(३) बेकन (१५६१–१६२६)—

परिणाम-प्रणाली को प्रोत्साहन देकर आधुनिक विज्ञान की सेवा, स्वतन्त्र अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त किया, 'प्रयोग' और 'निरीक्षण' पर बल, 'विचार-क्रिया' 'यथार्थता के अध्ययन से, शिक्षा का केन्द्र प्रकृति।

'ज्ञान' निर्माता के गौरव और मनुष्य के सुख के लिये, 'प्राचीन साहित्य' का पढ़ना शिक्षा नहीं, ज्ञानेन्द्रियों से प्रारम्भ कर बुद्धि तक पहुँचना, शिक्षा-विधि को क्रमबद्ध किया।

(४) राटके (१५७१–१६३५)—

नई रीति चलाने वाला, वह अपने विचारों को कार्यान्वित न कर सका, स्वाभाविक नियमों का पालन, पहले वस्तुओं को समझना, बालक पर दबाव नहीं, स्वानुभव के के आधार पर ज्ञान सिखलाना, 'रटाना' नहीं, प्रश्नों की सहायता, बार बार दुहराना, एक समय एक ही विषय।

व्यक्तिगत अनुभव, शिक्षा का माध्यम मातृभाषा, पुस्तक और विधि की एकरूपता।

पेस्तालॉज़ी के सभी विचार राटके में।

बेकन, राटके और कमेनियस प्रथप्रदर्शक—

स्वानुभववादी-यथार्थवाद का सार—व्यावहारिक मूल्य, स्वयं अन्वेषण, मातृभाषा माध्यम, दबाव नहीं, लड़कों और लड़कियों को समान अवसर, शारीरिक शिक्षा, लैटिन व ग्रीक सब को नहीं, शिक्षा प्रकृति के नियम और क्रम के अनुसार, पहले 'वस्तु' तत्पश्चात् 'शब्द', नियम बतलाने के पहले 'वस्तु' की चर्चा पहले, सरल और साकार, विद्यार्थियों का काम विश्लेषण, स्वानुभव आधार।

६—यथार्थवाद का प्रभाव

उस समय के स्कूलों पर विशेष प्रभाव नहीं, यथार्थवादी अपने सिद्धान्त को कार्यान्वित न कर सके, सामुद्रिक किनारों के पास के स्कूलों पर विशेष प्रभाव, जर्मनी में अधिक।

इङ्गलैण्ड—

स्टुअर्ट राजतन्त्र के पुनर्स्थापन पर नॉनकॉनफ़ॉर्मिस्ट द्वारा नये स्कूलों की स्थापना, इनमें 'यथार्थवाद' का प्रभाव।

विश्वविद्यालयों पर प्रभाव बहुत देर में।

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—'टेक्स्ट-बुक······' अध्याय ७।
२—कबरली—'हिस्ट्री·······' अध्याय १७।
३—कबरली—'रीडिङ्ग्ज़·······' अध्याय १७।
४—ग्रेव्ज़—'ए स्टूडेण्ट्स·······' अध्याय १४, १५।
५—ग्रेव्ज़—ग्रेट एडूकेटर्स' अध्याय १–४।
५—ग्रेव्ज़—'ड्यूरिंग द ट्रान्ज़ीशन' अध्याय १७।
७—मिल्टन—'ट्रैक्टेट ऑव् एडूकेशन'।
८—एडमसन, जे० डब्लू०—'प्यॉयनियर्स ऑव् मॉडर्न एडूकेशन' अध्याय ७।
९—ब्रुक्स—'मिल्टन एज ऐन एडूकेटर' पृष्ठ ३००–१९।
१०—मॉरिस, ई० ई०—'मिल्टन्स ट्रैक्टेट ऑव् एडूकेशन'।
११—बेकन, एफ़०—फ़िलॉसॉफ़िकल वर्क्स।
१२—फ़ाउलर, टी०—'बेकन्स नॉवम आर्गेनम'।
१३—स्पेडिङ्ग, जे०—'लाइफ़ ऐण्ड टाइम्स ऑव् फ़्रान्सिस बेकन'।
१४—बनार्ड, एच०—जर्मन टीचर्स एण्ड एडूकेटर्स, पृष्ठ ३१९–४६।
१५—कमेनियस—'ग्रेट डिडैक्टिक,' अनुवादक, कीटिङ्ग।

१६—बटलर, एन० एम०—'द प्लेस ऑव् कमेनियस इन द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन'।
१७—हॉनस, पी० एच०—'दी पर्मानेन्ट इनफ़्लुयेन्स ऑव् कमेनियस'।
१८—मनरो, डब्लू० एस०—'कमेनियस एण्ड द बिगनिंग्ज़ ऑव् एडूकेशनल रिफ़ॉर्म'।
१९—क्विक—'एडूकेशनल रिफ़ामर्स', अध्याय ५–१०।
२०—रस्क—'दी डॉक्ट्रिन्स……' अध्याय ५, ६।
२१—उलिच—'हिस्ट्री ऑव्……' पृष्ट १५६–६८, १८८–१९८।

८

शिक्षा में विनय की भावना (डिसिप्लिनरी कनसेप्शन ऑव् एडूकेशन)

१—तात्पर्य

हम कह चुके हैं कि कमेनियस आदि के विचारों का शिक्षा पर विशेष प्रभाव न पड़ा। प्रायः सभी स्कूल प्राचीनता का ही राग अलाप रहे थे। पाठ्य-वस्तु में मानवतावादी विषयों की भरमार थी। समय की आवश्यकता पर कुछ भी ध्यान न था। स्कूलों की शिक्षा और व्यावहारिक जीवन में सम्बन्ध न था। धीरे-धीरे लोगों का विश्वास होने लगा कि यदि 'शिक्षा-विधि' में कुछ परिवर्त्तन किया जाय तो समस्या का हल निकल सकता है। लोगों ने सोचा कि इस परिवर्त्तन से विभिन्न मानसिक शक्तियों का विकास होगा। 'यथार्थवाद' का जन्म हो चुका था। 'यथार्थवाद' ने 'वस्तु' और 'विधि' दोनों पर बल दिया था। परन्तु उसने 'वस्तु' को विशेष महत्त्व दिया। प्रचलित 'विधि' की कड़ी आलोचना भी की गई थी। 'सुधार काल' के बाद लैटिन 'धर्म' की एकमात्र भाषा न रही। इसी प्रकार सत्तरहवीं शताब्दी के अन्त में विश्वविद्यालयों में भी लैटिन का मान कुछ कम होने लगा। प्रादेशिक भाषाओं का विकास हो चुका था। मातृभाषा को शिक्षा-माध्यम बनाने की ध्वनि उठाई जा चुकी थी। फलत: लैटिन की प्रधानता का घट जाना स्वाभाविक ही था। वैज्ञानिक विचारों का प्रसार भी प्रारम्भ हो गया था। ऐसी स्थिति में 'चर्च' का कुछ डर जाना स्वाभाविक था। उसके लिये नई प्रगतियाँ अधार्मिक थीं। बेकन तथा डेसकार्ट के साथ चर्च का व्यवहार अच्छा न था। कमेनियस को भी अपने हिस्से का दण्ड भोगना ही पड़ा। जिसने अपने शिक्षा के उद्देश्यों में 'ईश्वर-भक्ति' को भी स्थान दिया उसे भी अधार्मिक होने का आरोप लगाया गया। स्पष्ट है कि 'धार्मिक-प्रवृत्ति' वाले 'यथार्थवादी' शिक्षा-विधि से सहानुभूति न रखते थे। वे 'मानवतावादी' पद्धति को ही श्रेयस्कर समझते थे। चरित्र-विकास के लिए वे 'शिक्षा' आवश्यक समझते थे। अतः वे 'शिक्षा' को 'विनय' (डिसिप्लिन) का दूसरा रूप समझते थे। अरस्तू के मनोविज्ञान का अब भी बोलवाला था। लोग समझते थे कि विभिन्न मानसिक शक्तियाँ अलग-अलग शिक्षा-विधियों से विक-

सित की जा सकती हैं। व्याकरण, गणित तथा तर्क-विद्या आदि इसके लिए सर्वश्रेष्ठ विषय माने जाते थे। प्राचीन परम्परा की लीक पर चलनेवाले प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से स्वभावतः प्रीति रखते थे। उसका एकदम से नवीनकरण करना उन्हें पसन्द न था। उन्होंने समझा कि यदि शिक्षा-विधि में कुछ परिवर्त्तन कर दिया जाय तो काम बन जायगा। तब 'स्कूलों' में व्यावहारिकता आ जायगी और युवक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये योग्य हो जायेंगे।

इस प्रकार 'विधि' पर सबकी दृष्टि पड़ी। लोगों ने समझा कि आठ-दस विषय न पढ़ाकर यदि दो-तीन ही विषयों को ही अच्छी प्रकार पढ़ाया जाय तो मानसिक शक्तियों का विकास ठीक से हो सकता है। थोड़ा-थोड़ा कई विषयों के पढ़ाने से मस्तिष्क गहराई तक कभी नहीं पहुँच पाता। गणित, लैटिन, तर्क-विद्या आदि ऐसे विषय हैं जिनसे मानसिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। इन शक्तियों के विकास से व्यक्ति अपने को सभी परिस्थिति में सँभाल सकता है। शिक्षा के इस दृष्टिकोण को 'शिक्षा में विनय की भावना' (डिसिप्लिनरी कन्सेप्शन् ऑव् एडूकेशन) कहते हैं। 'विनयभावना' के अनुसार व्यावहारिकता को एक दम ठुकरा दिया गया। विद्यार्थियों की रुचि और प्रवृत्तियों की बलि दे दी गई। ऐसा विश्वास हो गया कि मानसिक शक्तियों के विकास से व्यावहारिकता अपने आप आ जाती है। बड़े-बड़े कलाकारों को कोई सिखलाता नहीं। वे तो अपनी बुद्धि से नई-नई बातें स्वयं उत्पन्न कर लेते हैं। प्रायः उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इस भावना का शिक्षा-क्षेत्र में प्राधान्य रहा। अब भी कुछ स्कूल और विश्वविद्यालय इसी मत के अनुसार चलते हैं। इसी भावना के विरुद्ध रूसो, पेस्तालॉज़ी, फ्रोबेल आदि को अपनी ध्वनियाँ उठानी पड़ीं। विद्वानों का ऐसा मत है कि इस मत को लॉक के विचारों से बड़ा प्रोत्साहन मिला। नीचे हम देखेंगे कि लॉक कहाँ तक इसका प्रतिनिधि समझा जा सकता है।

२—लॉक (१६३२-१७०४)

(१) उसका शिक्षा-सिद्धान्त—

लॉक (१६३२–१७०४) का मान जितना योरोप में था उतना इंगलैंड में नहीं। वह स्वानुभव-प्राप्त ज्ञान के सिद्धान्त का अनुयायी था। अपनी इन्द्रियों द्वारा प्रयोग तथा प्राप्त अनुभव में ही उसका विश्वास था। लॉक परम्परावादी न था। अपने अनुभव से प्राप्त 'विवेक' द्वारा ही वह सत्य की खोज करना चाहता था। 'विवेक' को वह जीवन में मुख्य स्थान देता है। [illegible]

कि उसके शिक्षा कार्यक्रम में हम कोमल भावनाओं के विकास की चर्चा नहीं पाते। लॉक व्यक्तिवादी था। मनुष्य को स्वभाव से ही वह स्वतन्त्र मानता था। व्यक्ति के आगे राज्य का कुछ भी अस्तित्व नहीं। वह तो व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षक मात्र है। लॉक के इस 'व्यक्तिवाद' की उसके शिक्षा-सिद्धान्तों पर पूरी छाप है। उसमें सार्वलौकिकता का अभाव है। लॉक के अनुसार शिक्षा देना

जॉन लॉक

राज्य का कर्तव्य नहीं। बालक की शिक्षा का उत्तरदायित्व माता-पिता पर है। है। परन्तु 'व्यक्तिवाद' के अनुसार तो पढ़ने के लिये बालक पर पिता भी दबाव नहीं डाल सकता। लॉक यहाँ अच्छा तर्क देता है। वह बालक को इस सम्बन्ध में बराबर नहीं मानता। बालक में उम्र के अनुसार ही बुद्धि आयेगी। छः वर्ष के बालक में पच्चीस वर्ष के युवक की सी बुद्धि नहीं आ सकती। पिता यह अधिक अच्छी प्रकार समझता है कि बालक के लिए किस प्रकार की शिक्षा उपयोगी होगी। अतः बालकों को पिता के अनुसार चलना वांछनीय है क्योंकि वे जो कुछ करेंगे उनके भले के लिये ही करेंगे। अपने व्यक्तिवाद के अनुसार लॉक सबको स्वभावतः बराबर अवश्य मानता है। परन्तु शिक्षा के प्रभाव को वह भूलता नहीं। व्यक्तियों में जो कुछ अन्तर पाया जाता है वह उनकी शिक्षा से ही है। "प्रकृति ने जो कुछ दिया है उसका केवल सदुपयोग ही हमारे हाथ में है। किसी तरह का अवगुण हमारे में न आने पावे। जहाँ तक जो जा सकता है वहाँ तक प्रयत्न किया जाय। पर बरबस की खींचातानी व्यर्थ होगी।"

लॉक को व्यक्ति के ऊँचे आदर्शों का ध्यान नहीं। वह युवक की 'रहन-सहन' अच्छी बनाना चाहता है। वह उसे कुछ ज्ञान भी दे देना चाहता है, जिससे कि मानसिक विकास हो सके। उसे स्वास्थ्य का भी ध्यान है। वह व्यक्ति का शरीर और मस्तिष्क ऐसा बनाना चाहता है जिससे सभ्य समाज का वह

भद्र पुरुष हो सके। इस प्रकार लॉक का शिक्षा-उद्देश्य शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक था। लॉक शरीर शिक्षा के बारे में कहता है—"शुद्ध हवा, व्यायाम, विश्राम, सादा भोजन, मदिरा नहीं, बहुत गरम या बहुत चुस्त कपड़ा नहीं, सर और पैर ठण्डा रखे......।" लॉक का स्वास्थ्य बहुत अच्छा न था। उसे कुछ न कुछ शारीरिक कष्ट रहा ही करता था। कदाचित् इसीलिये उसने चिकित्सा-शास्त्र का भी अध्ययन प्रारम्भ किया था। स्वास्थ्य-सम्बन्धी लॉक के नियमों से आज हम पूरी तरह सहमत नहीं हो सकते। हो सकता है कि उस समय का ऐसा ही विश्वास रहा हो। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'विवेक'-प्राप्ति के लिये अच्छे स्वास्थ्य की आवश्यकता बताकर उसने लोगों का ध्यान इधर एक बार पुनः आकर्षित किया।

"बच्चों के मस्तिष्क का विशेष ध्यान रखना चाहिये। उनको प्रारम्भ में ऐसी शिक्षा दे कि बाद में लाभ करे।" * "जो मस्तिष्क सुधारती है केवल उसी का नाम शिक्षा है। बच्चे के प्रत्येक काम में यही देखना चाहिये कि उसका मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ेगा, उससे क्या आदतें पड़ेंगीं, जब वह बड़ा हो जायगा तो उसका उस पर क्या प्रभाव होगा? क्या शिक्षा उसका पथप्रदर्शक हो सकेगी?" † व्यक्तिवादी लॉक का ऐसा सोचना स्वाभाविक है। परन्तु हम उसके विचारों से सहमत नहीं हो सकते। लॉक व्यक्ति ही की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। 'वस्तु' और 'ज्ञान' का उसके लिये कोई विशेष मूल्य नहीं। समाज-हित की ओर भी उसने आँखें मूँद लीं। मॉनटेन भी इस अर्थ में व्यक्ति-वादी ही था। लॉक को साधारण मानव-स्वभाव की धुन नहीं। उसकी रुचि व्यक्ति की विलक्षणताओं से ही है। वह हर एक बालक को दूसरे से भिन्न समझता है। अतः उसके अनुसार एक ही विधि से सबको नहीं पढ़ाया जा सकता। साधारण स्कूलों में व्यक्तिगत विलक्षणता पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता था। अतः लॉक को 'पब्लिक' स्कूलों से सहानुभूति नहीं। वह राय देता है कि प्रत्येक बालक के लिये घर पर एक अध्यापक रखा जाय। यदि लॉक ने कमेनियस से कुछ सीखने की चेष्टा की होती तो कदाचित् वह समाज-हित को इतना न भूलता।

लॉक बालक को अज्ञानी मानता है क्योंकि उसका अभी बौद्धिक विकास नहीं हुआ है। अतः वह उसे 'विवेक' की प्राप्ति के लिये तैयार करना

* थॉट्स, ३२।

† थॉट्स, १०७।

चाहता है। इसके लिए अच्छा स्वास्थ्य और अच्छी आदतों पर ध्यान देना आवश्यक है। बचपन में 'विवेक' का विकास नहीं होता। इसलिये हम केवल आदत डालने पर ही ठीक से ध्यान दे सकते हैं। लॉक का विश्वास था कि बिना 'विवेक' के 'सत्य' की पहचान नहीं की जा सकती। 'विवेक' का विकास अव्यवस्थित ज्ञान से नहीं हो सकता। अध्यापक समझता है कि कुछ ज्ञान देना तो आवश्यक ही है, अन्यथा विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण कैसे होगा? लॉक कहता है कि इस प्रकार के ज्ञान से विवेक की वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उससे केवल याद करके पुनः दुहरा देने या लिख देने की शक्ति उत्पन्न होती है। राबैले और मॉनटेन के सदृश् लॉक 'व्यक्ति' का अच्छी प्रकार से विकास चाहता था। उसको विद्वान् बनाने का उसका उद्देश्य न था। राबैले चाहता था कि व्यक्ति को कुछ 'वस्तुओं' के बारे में ज्ञान हो जाय। मॉनटेन "पढ़ाने" की अपेक्षा "बढ़ाने" पर अधिक ध्यान देता था। वह व्यक्ति को 'रहने की कला' समझाना चाहता था। लॉक भी यही चाहता था। उन दिनों लैटिन और ग्रीक पर बड़ा बल दिया जाता था। उनसे रहने की कला पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। फलतः मॉनटेन के समान लॉक लैटिन और ग्रीक पढ़ाने के विरुद्ध था। लॉक बालक को 'गुण', 'बुद्धि' 'आचार-रीति' और 'साधारण' ज्ञान देना चाहता था। परन्तु वह केवल 'भद्र पुरुष' के बारे में ही ऐसा सोचता है।

(२) लॉक उपयोगितावाद का समर्थक—

अब हम यह देखेंगे कि लॉक बालक को किस प्रकार का ज्ञान देना चाहता है। लॉक 'ज्ञान' को मस्तिष्क के आन्तरिक अनुभव की वस्तु समझता है। जब तक हम स्वयं किसी वस्तु का अनुभव नहीं कर लेते तब तक उसका सच्चा ज्ञान हमें कभी नहीं हो सकता। दूसरे का 'दोहराया हुआ' सुनने से ज्ञान नहीं होता। कार्लाइल भी कहता है "तुमको अपनी ही आँखों से देखना है।" परन्तु यह सदा सम्भव नहीं। हमें कभी-कभी दूसरे के अनुभव को भी मानना ही पड़ता है। यदि न माने तो हमारा कार्य चलना असम्भव हो जायगा। इसलिये लॉक कहता है कि "विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान से हमारा अर्थ नहीं है, ज्ञान से हमारा तात्पर्य बुद्धि द्वारा निश्चित किए हुये 'सत्य' से है। मस्तिष्क की आँख से ही हम ज्ञान का अनुभव कर सकते हैं।" बालक को लॉक केवल उपयोगी शिक्षा देना चाहता था। जिस शिक्षा से स्वार्थ की सिद्ध नहीं होती वह उसके लिये कम मूल्य रखती थी। हमें यह जान लेना चाहिये कि अमुक विषय पढ़ने से हमारा क्या लाभ होगा तथा उसका हमारे मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ेगा। हर्बर्ट

स्पेन्सर का भी विश्वास था कि "सबसे अधिक उपयोगी वस्तु सीखने में ही हम श्रेष्ठ शिक्षा पाते हैं।" 'स्वार्थ सिद्धान्त' का मानने वाला शिक्षा का शरीर या मस्तिष्क पर प्रभाव नहीं देखता। यदि शिक्षा उपयोगी है और तात्कालिक स्वार्थ की सिद्धि करती है तो सोने में सुगन्ध। उपयोगी वस्तु का ज्ञान शीघ्र प्राप्त कर लिया जाय चाहे शरीर पर उसका जो प्रभाव पड़े, इसकी कोई चिन्ता नहीं। अपनी "थॉट्स कनसर्निङ्ग एडूकेशन" (शिक्षा सम्बन्धी विचार) नामक पुस्तक में लॉक कहता है कि हमें अपने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ही किसी वस्तु को उपयोगी अथवा अनुपयोगी मानना चाहिए। अपने इस ध्येय की पूर्ति के लिये उसने 'सबसे शीघ्र वाला मार्ग' दिखलाने का प्रयत्न किया। ऐसा प्रतीत होता है कि लॉक का 'उद्देश्य' केवल 'ज्ञान' ही पाना है। स्पष्ट है कि वह उपयोगितावाद का मानने वाला है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि लॉक बालक को बौद्धिक शिक्षा नहीं देना चाहता। उसकी समझ में 'बौद्धिक शिक्षा' केवल उन्हीं के लिए उपयोगी हो सकती है जो स्वयं अपने को पढ़ा सकें, अर्थात् जिन्हें भले, बुरे तथा सत्य असत्य का स्वयं ही ज्ञान हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि आज के समान लॉक के समय में भी 'विज्ञान' और 'शिक्षा मनोविज्ञान' का विकास रहा होता तो उसके विचार अधिक उदार तथा शिक्षा के लिये अधिक उपयोगी होते।

(३) लॉक के अनुसार पाठ्य-वस्तु—

लॉक की मानवतावादी व्यवस्था से सहानुभूति न थी। "पढ़ना, लिखना आवश्यक अवश्य है परन्तु यही प्रधान नहीं हो जाना चाहिये। जिनकी पढ़ने की प्रवृत्ति है उन्हें तो लाभ पहुँचता ही है पर दूसरों को हानि।" लॉक प्रारम्भ करने की शक्ति, 'स्वतन्त्र विचार' 'निरीक्षण शक्ति' और 'विवेक' का उचित प्रयोग चाहता था। इसके लिए वह एक नई शिक्षा-प्रणाली स्थापित करना चाहता था। व्याकरण से वह भाषा को नहीं पढ़ाना चाहता था। भाषा बातचीत से पढ़ाई जानी चाहिये। लॉक का बेकन के सिद्धान्त पर विश्वास था कि सब ज्ञान अनुभव से ही प्राप्त होता है। 'अनुकरण-शक्ति' में उसका विश्वास न था। फलतः उसने पाठ्य-वस्तु में उन्हीं विषयों का समावेश किया जिनमें मनुष्य का अनुभव प्रधान होता है। उदाहरणतः विज्ञान, भूगोल, खगोल, गणित, बाइबिल तथा इतिहास को मुख्य स्थान दिया गया। नैतिक बनने तथा अपने राष्ट्र का गौरव समझने के लिये 'काल निर्णय विद्या' को भी रख लिया गया। कृषि का हिसाब-किताब समझने के लिये मुनीमी पढ़ाना आवश्यक समझा

गया। आपस में विचार-विनिमय के लिये मातृ-भाषा तथा आधुनिक भाषाओं को स्थान दिया गया। ग्रीक को 'भद्र पुरुष' की शिक्षा से निकाल दिया गया। लैटिन को व्याकरण की सहायता से पढ़ना ठीक नहीं समझा गया। उसे मातृ-भाषा के नियम पर लॉक पढ़ाना चाहता था। लैटिन को साध्य न मान कर साधन मानता था। 'तर्क विद्या' की अपेक्षा लॉक गणित को श्रेष्ठ मानता है क्योंकि गणित के तर्क में विचारों का तारतम्य वह अधिक देखता है। तर्क-विद्या और 'साहित्य-शास्त्र' पढ़ने से बालकों को कुछ लाभ नहीं होता। लॉक का ऐसा विश्वास नहीं था कि व्याकरण अथवा 'तर्क-विद्या' के पढ़ने से 'स्मरण-शक्ति' तीव्र होती है। 'स्मरण-शक्ति' स्वस्थ मस्तिष्क और स्वस्थ शरीर से तीव्र होती है। 'स्मरण-शक्ति' के लिये किसी विशेष अभ्यास की आवश्यकता नहीं। इसका अभ्यास तो हमारे दैनिक जीवन में हर समय हुआ करता है। अतः वह अपने आप शरीर और मस्तिष्क की स्वस्थता के अनुपात में तीव्र होती रहती है।

(४) लॉक शिक्षा में 'विनय की भावना का' प्रतिनिधि—

लॉक का विचार है कि एक विषय में अभ्यास से दूसरे पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के सीखने से दूसरे पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में लॉक "आदत बनाने" पर बहुत बल देता है। आदत अभ्यास से ही पड़ सकती है। आदत डालने के लिये शरीर और मस्तिष्क को कष्ट देने में उसे हिचक नहीं। "शरीर और मस्तिष्क का बल कठिनाई भोगने में है। सभी गुणों की नींव इस बात में है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं का त्याग करे और जो कुछ विवेक कहता है उसी के अनुसार करे।"* "मैं बच्चों को आनन्द से अलग नहीं करना चाहता। मैं उनका जीवन यथाशक्ति सुखी बनाना चाहता हूँ।" यदि आदतों की सहायता से शिक्षा दी जाय तो बालक उपयोगी वस्तुयें शीघ्र सीख लेगा। उदाहरण से बालक शीघ्र उत्साहित होते हैं। यदि उनमें किसी अच्छे काम करने की आदत पड़ गई तो उनका उत्साह और बढ़ जाता है। लॉक चाहता है कि बालक सर्व स्वीकृत सामाजिक व्यवस्था को अपना ले। उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन लाना उसका उद्देश्य नहीं। "किसी सामाजिक कर्तव्य या आदर्श के लिए उत्साह दिखलाना उस 'भद्रपुरुष' का काम नहीं जिसके कन्धे पर परम्परा का भारी बोझ लदा हुआ है।" यहाँ लॉक के विचार कितने संकीर्ण दिखलाई पड़ते हैं! यदि हम बालक की शिक्षा के लिये केवल उसकी आदतों पर ही

* थाट्स ३३

निर्भर रहें तो उसकी कुछ भी उन्नति न होगी। किसी कार्य को स्वतः प्रारम्भ करने की शक्ति उसमें न आयेगी। फिच लॉक के विरुद्ध है। वह कहता है— "आदतों का डालना असफल होना है।" रूसो भी कहता है कि "मैं बच्चे में 'न आदत डालने' की ही 'आदत' डालना चाहता हूँ।" अतः हम लॉक को रूसो के सदृश् प्रकृतिवादी नहीं मान सकते। वह तो आदत पर ही विवेक को आश्रित समझता है। उसका विश्वास है कि घर पर 'अच्छे अध्यापक (ट्यूटर) के शासन' में आदतें डाली जा सकती है। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की कठोरता हानिकारक होगी। लॉक बालक की स्वाभाविक इच्छाओं को दबाकर आत्म-संयम से उसमें अच्छी आदतें डालना चाहता है। इस प्रकार लॉक के लिए पूरी शिक्षा 'विनय' ही है। इसीलिए कुछ विद्वान् लॉक को "शिक्षा में विनय की भावना" का प्रतिनिधि कहते हैं।

(५) लॉक व्यावहारिकता का प्रतिपादक—

आधुनिक काल के सभी शिक्षकों के सदृश् लॉक 'हस्तकला' बहुत पसन्द करता है। वह भद्रपुरुष को किसी न किसी कौशल में निपुण कर देना चाहता है। उदाहरणतः बागवानी, कृषि, लकड़ी के कार्य इत्यादि में यदि युवक कुछ कौशल पा ले तो उसमें व्यावहारिकता आ जायगी। ऐसा काम उसके स्वास्थ्य के लिए भी उपयोगी होगा। यहाँ लॉक रूसो के सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। रूसो भी 'एमील' में किसी कौशल की ओर झुकाव डाल देना चाहता है। लॉक के समय में योरोपीय भद्रपुरुषों की शिक्षा में 'यात्रा' का विशेष महत्त्व माना जाता था। लॉक भी मॉनटेन के सदृश् 'यात्रा' का अनुमोदन करता है। उसका यह 'यथार्थवाद' इङ्गलैण्ड के व्यावहारिक लोगों को बड़ा पसन्द आया। रूसो और बेसडो पर लॉक के इस विचार का प्रभाव पड़े बिना न रहा।

(६) लॉक के अनुसार दीन बच्चों की शिक्षा—

लॉक दीन बच्चों की शिक्षा का उल्लेख करता है। ६४ वर्ष (१६९६) की उम्र में सेवा-भावना से प्रेरित होकर व्यापार-विभाग में वह सरकारी कमिश्नर हो गया। इसी समय दीन बालकों की शिक्षा के लिये उसने एक कार्य-क्रम बनाया। उसका यह कार्य-क्रम कभी कार्यान्वित नही किया जा सका। पर उसके विचारों से उस समय की प्रवृत्ति का बोध अवश्य हो जाता है। १७२२ ई० में पार्लामेंएट ऐक्ट के अनुसार बहुत-सी कर्मशालाएँ (वर्क हाउसेज़) खुलीं। हो सकता है कि इनमें लॉक के विचारों से कुछ प्रोत्साहन मिला हो। परन्तु प्रायः

सभी कर्मशालायें जेलखानों से भी बुरी थीं। लॉक कहता है कि दीनों के बच्चे बहुधा अपना समय व्यर्थ गवाया करते हैं। वे अपने माँ-बाप के लिये भारस्वरूप हैं। उनकी कुछ व्यवस्था न होने से उनकी शक्तियों का ह्रास हो जाता है। प्रायः १३–१४ वर्ष तक तो वे एकदम बेकार पड़े रहते हैं। अतः प्रत्येक 'पादड़ी के प्रदेश' (पैरिस) में कर्मशालायें खुल जाँय। वहाँ ३–४ वर्ष से ऊपर के बालक आयेंगे। उन्हें अध्यापक उपयोगी कलाओं में शिक्षा देंगे जिससे कि अपने भोजन पाने के बदले भविष्य में वे समाज की सेवा कर सकें। इस संकीर्णता का दोष लॉक पर उतना नहीं, जितना कि उस समय की सामाजिक परम्परा पर तथापि यह कहा जा सकता है कि लॉक के "अध्यापकों" के नियन्त्रण में दीन बच्चों की दशा उनके घर से अच्छी ही रहती। परन्तु इतना तो कहना ही पड़ता है कि लॉक ऊँच-नीच में बहुत भेद रखता था। दीनों से उसकी बहुत सहानुभूति न थी। इसमें वह कमेनियस से बहुत पीछे दिखलाई पड़ता है।

लॉक और हरबार्ट, बेकन, कमेनियस, मॉनटेन व रूसो—

(७) लॉक की अन्य शिक्षकों से तुलना—

श्री ब्राउनिंग का कथन है कि राबैले, मॉनटेन, लॉक तथा रूसो अपना अलग-अलग एक सम्प्रदाय (स्कूल) बनाते हैं। वह लॉक को प्रकृतिवादी मान कर उसे रूसो के बहुत सन्निकट समझता है। यहाँ लॉक की कुछ अन्य शिक्षकों से तुलना की जाय तो असंगत न होगी। हरबार्ट के ही सदृश् लॉक भी कहता है कि—"विचारों से ही इच्छा नियन्त्रित होती है।" "मनुष्य के मस्तिष्क में 'विचार' और 'प्रतिमायें' वे अदृश्य शक्तियाँ हैं जो अनजान में उस पर शासन करती है....।" * परन्तु दोनों का ध्येय भिन्न है। लॉक बालक के आचार पर प्रभाव डालना चाहता है। हरबार्ट का विशेषकर कक्षा की शिक्षा से सम्बन्ध है। इसको आगे हम और स्पष्ट रूप से देखेंगे। लॉक बेकन और कमेनियस के सदृश् प्राकृतिक विज्ञानों का उल्लेख नहीं करता। बेकन और कमेनियस 'वस्तु' को अधिक महत्व देते हैं किन्तु लॉक 'विधि' पर। मॉनटेन और लॉक को प्रचलित शिक्षा प्रणाली से सहानुभूति न थी। दोनों 'चरित्र–विकास' पर बल देते हैं। घर पर अध्यापक द्वारा पढ़ना दोनों को श्रेयस्कर प्रतीत होता है। 'यात्रा' में भी वे एकमत हैं। 'रटने' की प्रणाली का दोनों विरोध करते हैं। लैटिन की अव्यावहारिकता दोनों को खटकती है। शिक्षा में व्यवहारिकता दोनों लाना चाहते हैं। परन्तु जीवन की आवश्यकता

* कॉनडक्ट ऑव् अण्डरस्टैण्डिग, १।

निर्धारित करने में दोनों में मतभेद हो जाता है। उनकी 'गुण' की परिभाषा एक दूसरे से भिन्न है। रूसो की रचनाओं से यह जान पड़ता है कि लॉक के विचारों का उस पर बहुत प्रभाव पड़ा। लॉक और रूसो दोनों स्वास्थ्य पर बहुत ध्यान देते थे। दोनों प्रारम्भ में बालकों को 'प्रत्यक्ष अनुभव' देना चाहते थे। दोनों शारीरिक दण्ड के विपक्ष में थे और शिक्षा-विधि को मनोरंजक बनाना चाहते थे। पुस्तकों का महत्त्व बालक की शिक्षा में दोनों के लिये कम था। रूसो बालक को कुछ दिन के लिये प्रकृति पर छोड़ कर उसे भावी जीवन के लिए तैयार करना चाहता था। लॉक का बालक की शक्ति पर विश्वास नहीं था। वह प्रारम्भ में ही उसे 'माता-पिता' या अध्यापक के कड़े नियन्त्रण में रखना चाहता था। इस प्रकार अन्त में सिद्धान्ततः दोनों में मतभेद हो ही जाता है। अतएव हम लॉक को 'प्रकृतिवादी' नहीं कह सकते।

३—आलोचना

इस प्रकार 'शिक्षा में विनय की भावना' केवल व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखती है। बालक की व्यक्तिगत मनोवृत्तियों की उसे कुछ चिन्ता नहीं। यह प्रणाली केवल मेधावी बालकों के लिये सफल हो सकती है। उन्हें कुछ व्यवसायों में प्रवीण बना सकती है। साधारण बालकों के लिये उससे कुछ भी लाभ नहीं। इसके अतिरिक्त समाज-हित का भी ध्यान नहीं रखा गया। उन्नीसवीं शताब्दी में जब सार्वलौकिक और वैज्ञानिक शिक्षा का प्रचार होने लगा तो इस पद्धति के दोष और स्पष्ट हो गए।

(१) इंगलैण्ड के स्कूलों पर प्रभाव—

लॉक के विचारों का इङ्गलैंड के 'पब्लिक' स्कूलों पर प्रभाव न पड़ा। एक दृष्टि से 'शिक्षा में विनय की भावना' तो उनमें पहले से ही प्रचलित थी। परन्तु उसका रूप लॉक के अनुसार न था। केवल बौद्धिक विकास पर ध्यान रख कर लैटिन पर अधिक बल दिया जाता था। शारीरिक और नैतिक शिक्षा के प्रति उदासीनता दिखाई जाती थी। शिक्षा के शारीरिक तथा नैतिक अंग पर लॉक का प्रभाव अवश्य पड़ा। 'पब्लिक' स्कूलों में व्यायाम तथा खेल-कूद पर ध्यान दिया जाने लगा। नैतिक विकास के लिये स्कूलों के वातावरण के भीतर सामाजिक जीवन को कुछ प्रोत्साहन दिया गया। परन्तु

लॉक के विचारों के विरुद्ध स्कूलों में कठोर शारीरिक दण्ड दिया जाता था। 'गुण' तथा 'आचार-रीति' सीखने के लिये छोटे विद्यार्थियों को बड़े विद्यार्थियों की सेवा करनी पड़ती थी। प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में व्याकरण पढ़ लेने के बाद ६ से ६ साल तक केवल लैटिन और ग्रीक ही पढ़ने में लगाया जाता था। 'प्राचीन साहित्य' से प्रेम उत्पन्न करना मुख्य उद्देश्य समझा जाता था। यही प्रथा १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चलती रही। फ्रेञ्च, अंकगणित तथा गणित की पढ़ाई पर ध्यान नहीं दिया जाता था। ऑक्फ़ोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों की भी प्रायः यही दशा थी। वहाँ विशेषकर प्राचीन साहित्य और गणित पर ध्यान दिया जाता था।

(२) जर्मनी के स्कूलों पर प्रभाव—

जर्मनी के स्कूलों पर भी 'विनय भावना पद्धति' का विशेष प्रभाव न पड़ा। वहाँ के "ज़िमनैजियम" में 'विनय' से मस्तिष्क को शिक्षित किया जाता था। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि वहाँ की भी शिक्षा "विनय" थी। परन्तु पाठ्य-वस्तु मानवतावादी थी। राष्ट्रीय भाव तथा सार्वलौकिक शिक्षा का विकास अभी भली-भाँति नहीं हुआ था। १६ वीं शताब्दी तक यही स्थिति चलती रही। समाज-हित तथा जीवन की व्यावहारिकता पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता था। केवल 'पढ़ाने' के लिये 'पढ़ाया' जाता था। पाठ्य-वस्तु का व्यावहारिक जीवन से कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं इस पर कुछ भी ध्यान न था।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

शिक्षा में विनय की भावना

१—तात्पर्य

स्कूलों में मानवतावादी विषयों की भरमार, व्यावहारिकता नहीं, लैटिन का महत्त्व कम, मातृभाषा शिक्षा माध्यम, वैज्ञानिक विचारों का प्रचार, चर्च के लिये नई प्रगतियाँ अधार्मिक, शिक्षा 'विनय' का दूसरा रूप, मानसिक शक्तियों का विकास, विभिन्न विधियों से।

'विधि' को महत्त्व, ८-१० विषय न पढ़ाकर दो-तीन ही विषय अच्छी प्रकार, गणित, लैटिन और तर्क-विद्या से मानसिक शक्तियों का विकास अधिक सम्भव।

२—लॉक (१६३२-१७०४)

(१) उसका शिक्षा-सिद्धान्त—

स्वानुभव से प्राप्त ज्ञान के सिद्धान्त का अनुयायी, विवेक द्वारा 'सत्य' की खोज,

कोमल भावनाओं के विकास की चर्चा नहीं, उसके व्यक्तिवाद की शिक्षा-सिद्धान्तों पर पूरी छाप, सार्वलौकिकता का अभाव, शिक्षा राज्य कर्त्तव्य नहीं—माता-पिता का, बालक में बुद्धि उम्र के अनुसार ही, अतः शिक्षा आवश्यक।

लॉक को ऊँचे आदर्शों का ध्यान नहीं, शारीरिक शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया।

मस्तिष्क पर ध्यान, उपयोगी शिक्षा, व्यक्ति की ओर, 'वस्तु' और 'ज्ञान' का मूल्य कम, व्यक्ति की विलक्षणताओं में रुचि, बालकों में भिन्नता, एक ही विधि सबके लिए नहीं, बालक के लिए घर पर अध्यापक।

बालक अज्ञानी, 'विवेक' प्राप्ति के लिये तैयार करना, अच्छा स्वास्थ्य और अच्छी आदतें, बिना 'विवेक' के 'सत्य' की पहचान नहीं, बालक को विद्वान् बनाना उद्देश्य नहीं, 'रहने की कला' सिखाना उद्देश्य, गुण, बुद्धि, आचार-रीति तथा साधारण ज्ञान, लॉक की दृष्टि केवल भद्र पुरुष पर।

(२) लॉक उपयोगितावाद का समर्थक—

'ज्ञान' मस्तिष्क का आन्तरिक अनुभव, 'ज्ञान' बुद्धि द्वारा निश्चित किया हुआ सत्य है, उपयोगी वस्तु सीखना ही श्रेष्ठ शिक्षा, व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि सर्वोपरि, स्वार्थ सिद्धान्त, बौद्धिक शिक्षा केवल उन्हीं लोगों के लिये जो अपने को स्वयं पढ़ा सकें।

(३) लॉक के अनुसार पाठ्य-वस्तु—

पढ़ना—लिखना ही प्रधान नहीं, प्रारम्भ करने की शक्ति, स्वतन्त्र विचार, विचार, निरीक्षण-शक्ति और विवेक का उचित प्रयोग, भाषा को व्याकरण से नहीं पढ़ाना, पाठ्य-वस्तु में अनुभव प्रधान विषय, भद्र पुरुष के लिए ग्रीक पढ़ना आवश्यक नहीं, लैटिन की पढ़ाई मातृभाषा द्वारा, व्याकरण और तर्क-विद्या के पढ़ने से स्मरण शक्ति तीव्र नहीं, इसका तीव्र होना स्वास्थ्य पर निर्भर।

(४) लॉक 'विनय की भावना' का प्रतिनिधि—

एक विषय का दूसरे पर कम प्रभाव, नैतिक विकास के लिए आदत बनाना आवश्यक, इसके लिए शरीर और मस्तिष्क को कष्ट देना, उदाहरण से बालकों को अधिक प्रोत्साहन, बालक सर्वस्वीकृत सामाजिक व्यवस्था अपना ले, शिक्षा के लिए केवल आदत पर ही निर्भर रहना ठीक नहीं, स्वाभाविक इच्छाओं को दबा कर आत्म-संयम से आदत डालना।

(५) लॉक व्यावहारिकता का प्रतिपादक—

हस्तकला आदि से व्यावहारिकता लाना, 'यात्रा' भद्रपुरुष की शिक्षा का आवश्यक अङ्ग।

(६) लॉक के अनुसार दीन बच्चों की शिक्षा—

दीन बच्चों की शिक्षा, प्रत्येक 'पैरिश' में कर्मशालायें, ३–४ वर्ष से ऊपर के बालकों की भर्ती, उपयोगी कलाओं में उनकी शिक्षा।

लॉक और हरबार्ट, बेकन, कमेनियस, मॉनटेन व रूसो—

(७) लॉक की अन्य शिक्षकों से तुलना—

हरबार्ट-लॉक—विचारों से ही इच्छा का नियन्त्रण, पर उद्देश्य भिन्न—

बेकन और कमेनियस 'वस्तु' पर, लॉक 'विधि' पर।

मॉनटेन—लॉक—चरित्र विकास पर बल—यात्रा, रटना नहीं लैटिन की अव्यावहारिकता—जीवन की आवश्यकता में भेद।

रूसो-लॉक—स्वास्थ्य पर ध्यान, प्रत्यक्ष अनुभव, शारीरिक दण्ड नहीं, पुस्तकों का महत्त्व कम, रूसो का बालक-शक्ति में विश्वास; लॉक का नहीं।

३—आलोचना

व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध, केवल मेधावी बालकों के लिये, साधारण के लिए नहीं, समाज हित का ध्यान नहीं।

(१) इङ्गलैण्ड के स्कूलों पर प्रभाव—

इंगलैण्ड के स्कूलों पर लॉक का प्रभाव कम, शारीरिक और नैतिक अंग पर प्रभाव।

(२) जर्मनी के स्कूलों पर प्रभाव—

जिमनैज़ियम कुछ 'विनय-भावना' के अनुसार, पर पाठ्य-वस्तु मानवतावादी।

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—'टेक्स्ट-बुक..........' अध्याय ६।

२—कबरली—'हिस्ट्री..........' पृष्ठ, ४३१-३७।

३— „ —'रीडिङ्ग्ज़..........' अध्याय १८, पृष्ठ—२२७, २२८।

४—ग्रेव्ज़—ए स्टूडेण्ट्स..........' अध्याय १६।

५— „ —क्यूरिंग द ट्रान्ज़ीशन..........' पृष्ठ ३०५—११।

६— „ —'ग्रेट एजूकेटर्स', अध्याय ६।

७—लॉक, जॉन—'सम थॉट्स कनसर्निङ्ग एजूकेशन (क्विक), कॉनडक्ट ऑव् अण्डरस्टैण्डिंग (फ़ाउलर)।

८—लॉरी, एस० एस०—एजूकेशनल ओपीनियन सिन्स द रेनसां', अध्याय १३—१५।

९—उलिच—'हिस्ट्री ऑव्..........'पृष्ठ २००—२१०।

१०—रस्क—'द डॉक्ट्रिन्स..........' अध्याय ७।

११—क्विक—'एजूकेशनल रिफ़ॉमर्स..........'अध्याय, १३।

६

प्रकृतिवाद

१—प्रकृतिवाद क्यों उठा ?

'प्रकृतिवाद' की लहर अठारहवीं शताब्दी के मध्य में क्यों चली यह समझने के लिए उस समय की सामाजिक स्थिति पर दृष्टि डालना आवश्यक जान पड़ता है। उस समय 'राजनीति', 'धर्म' तथा विचार के क्षेत्र में एक प्रकार की निरंकुशता व्याप्त थी। जनवर्ग को अपनी ध्वनि उठाने का कोई रास्ता नहीं दिखलाई पड़ता था। हर स्थान पर 'नियमित विनय' (फॉर्मलिज़म्) का बोल-बाला था। जर्मनी के 'पीएटिज़म' (पुण्यशीलता), फ्रान्स के 'जैनसेनिज़म्' इंगलैण्ड के 'प्यूरिटैनिज़म्' के आन्दोलन से धर्म में 'नियमित विनय' (फ़ॉर्मलिज़्म) बढ़ रही थी। ये आन्दोलन पवित्रता, सच्चाई तथा बाह्याडम्बर के विरोधी थे। इनके आदर्श इतने ऊँचे थे कि वहाँ तक साधारण पुरुष का पहुँचना असम्भव सा दिखलाई पड़ता था। इन सम्प्रदायों के कुछ अनुयायियों में भी छिपे-छिपे दोष फैलने लगे। इनके धर्म की कठोरता की प्रतिक्रिया में साहित्य के अध्ययन तथा सामाजिक रीतियों में आडम्बर बढ़ने लगा। योरोप में फ्रान्स की इस समय तूती बोल रही थी। यह लूई चतुर्दश का युग था। राजनैतिक, सामाजिक, संगीत, नैतिक तथा साहित्यिक प्रायः सभी क्षेत्रों में फ्रान्स दूसरों के लिए आदर्श स्वरूप हो रहा था। फ्रान्स के चर्च का देश के लोगों पर बड़ा प्रभाव था। 'विचार' और 'कार्य' के क्षेत्र में उसी की ध्वनि अन्तिम मानी जाती थी। धनी लोगों का अपना एक अलग वर्ग ही बन गया था। उन्हें साधारण जनवर्ग का कुछ भी ध्यान न था। उसी के रक्त को पी-पीकर बड़े लोग तोंद फुला फुला कर मस्ती काट रहे थे। यह मस्ती कितने दिनों तक टिक सकती थी ? इंगलैण्ड में भी 'राज्य-विधान' अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। १६४ अपराधों के लिये मृत्यु दण्ड देने का नियम बना लिया गया था। स्पेन में 'कल्पित' नास्तिकों पर घोर अत्याचार किया जाता था। आलू के सदृश उन्हें आग में भून देना साधारण बात हो रही थी। ऐसी स्थिति के विरुद्ध ध्वनि का उठना अनिवार्य था। पहला विरोध 'बुद्धि' द्वारा विचारों के प्रसार से किया

गया। इन विचारों के प्रसार के कारण दूसरा विरोध जनवर्ग द्वारा अपने अधिकार की प्राप्ति के लिये किया गया—जिसकी चरम सीमा फ्रान्स की राजक्रान्ति तक पहुँच गई। हमारा सम्बन्ध यहाँ केवल 'बुद्धि' द्वारा विरोध से ही है क्योंकि इसी से 'प्रकृतिवाद' का सीधा सम्बन्ध है। इस 'बुद्धि' द्वारा विरोध को 'प्रबोध' (इनलाइटेन्मेण्ट) कहते हैं।

२—प्रबोध

'प्रबोध' की लहर फैलने से ही 'प्रकृतिवाद' का आन्दोलन सम्भव हो सका। 'प्रबोध' की लहर फैलने का श्रेय फ्रान्स और जर्मनी के दार्शनिकों, आध्यात्मिक लेखकों तथा स्वतन्त्र विचारकों को है। 'प्रबोध' के प्रवर्त्तकों को किसी प्रकार की निरंकुशता सह्य न थी। 'विचार' तथा 'विश्वास' की 'नियमित विनय' का इन्होंने खण्डन किया। 'चर्च' के प्राधान्य के विरुद्ध ध्वनि उठाई गई। अन्धविश्वास, अज्ञान तथा ढोंग की खुले शब्दों में निन्दा की गई। उनका 'मानव-स्वभाव' तथा 'विवेक' में पूरा विश्वास था। सभी संस्थाओं को जड़ से उखाड़ कर उन्हें वे 'मानव स्वभाव' और 'विवेक' के अनुसार पुनः जमाना चाहते थे। अन्धविश्वास से मस्तिष्क को स्वतन्त्र करना था। सामाजिक तथा धार्मिक बन्धनों से व्यक्ति को मुक्तकर उसके नैतिक व्यक्तित्व को बढ़ाना था। 'राज्य-न्याय', 'धार्मिक सहिष्णुता' तथा 'विचार-स्वातन्त्र्य' में पूर्ण विश्वास प्रकट किया गया। इँगलैण्ड में 'प्रबोध' का प्रतिनिधि लॉक था। उसने 'व्यक्तिवाद' को आगे बढ़ाया। उसने विचारों को अनुभव का फल माना। लॉक ने प्रत्यक्ष अनुभव को सभी ज्ञानों का स्रोत बतलाया और सिद्ध किया कि 'विचार' स्वाभाविक नहीं होते। वे किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं हैं। अनुभव से बल पर उन्हें कोई भी जान सकता है। धर्म के सम्बन्ध में प्रवर्त्तकों ने यह प्रचार किया कि मनुष्य की समझ ही धार्मिक 'सत्य' की परीक्षा कर

वॉलटेयर

सकती है। फ्रान्स में वॉलटेयर प्राचीन परम्परा की नींव खोदना चाहता था। उसने धर्म को मनुष्य का अभिशाप समझा। धार्मिक बन्धनों में पड़े रहने से विवेक का ह्रास हो जाता है। अन्धविश्वास व अत्याचार मनुष्य की उन्नति में बाधक हैं। चर्च की प्रधानता से विचार-स्वातन्त्र्य कभी नहीं प्राप्त हो सकता। इस प्रकार वॉलटेयर ने लोगों की प्रवृत्तियों को बदलना चाहा। परन्तु उसकी सहानुभूति साधारण जनवर्ग से न थी। वह उन्हें 'विवेक' और 'शिक्षा' के योग्य न समझता था। अठारहवीं शताब्दी का मध्यकाल आते-आते सम्पूर्ण योरोप में विचारकों तथा विद्वानों का एक अलग वर्ग ही समझा जाने लगा। उनकी श्रेष्ठता चारों तरफ मानी जाने लगी। साधारण जनवर्ग उनकी इस श्रेष्ठता से प्रसन्न न था। उन्हें अपनी गिरी दशा पर और भी चिन्ता होने लगी।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्व काल में तो विशेष कर 'चर्च' पर ही आक्षेप किये जाते थे। परन्तु उत्तर काल में सामाजिक और राजनैतिक संगठनों पर भी बौछारें पड़ने लगीं। पहले कुरीतियों को केवल नाश ही करने का उद्देश्य था, परन्तु उत्तर काल में एक नया आदर्श बनाने की ओर भी ध्यान गया। 'स्वानुभव-ज्ञान को ही ठीक मान लेना श्रेयस्कर न समझा गया। लोगों का विश्वास होने लगा कि 'विवेक' से भी त्रुटि हो सकती है। फलतः आन्तरिक भावनाओं को भी स्थान दिया गया। मानव व्यवहार में उनका भी अस्तित्व स्वीकार किया गया। रूसो उत्तर काल की इस 'लहर' का प्रतिनिधि कहा जाता है। वॉलटेयर अपनी 'बौद्धिक शक्ति' से पहली लहर का प्रतिनिधि हुआ। रूसो अपनी आन्तरिक भावनाओं तथा जनवर्ग के लिए सहानुभूति के कारण इन नए विचारों का प्रधान प्रसारक हुआ। "जो दूसरे सोच रहे थे उसे वॉलटेयर ने कहा परन्तु जो दूसरे अनुभव कर रहे थे उसे रूसो ने कहा।" रूसो का उद्देश्य मानव समाज में विश्वास उत्पन्न करना था। नये आदर्शों को कार्यान्वित कर समाज में वह एक नया जोश लाना चाहता था। उसने धर्म का 'आधार' चर्च को न मानकर 'मानव स्वभाव' को माना। वॉलटेयर के विचारों का जन-साधारण की शिक्षा पर प्रभाव न पड़ सका। परन्तु रूसो के विषय में ऐसी बात नहीं। रूसो के 'प्रकृतिवाद' का प्रभाव आज भी शिक्षा-क्षेत्र में स्पष्ट है। वास्तव में रूसो से ही शिक्षा का नया युग आरम्भ होता है।

३—रूसो (१७१२--१७७८)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

रूसो का प्रारम्भिक जीवन कष्टमय था। माँ की मृत्यु उसके जन्म लेते

ही हो गई थी। उसके पिता को बच्चों के पालन-पोषण का कुछ ज्ञान न था। रूसो को बुरी आदतों में गिरने से वह न बचा सका। स्कूल में उस पर बड़ी मार पड़ती थी। फलतः स्वभाव से ही वह इसका विरोधी हो गया। अपने जन्म-स्थान जेनेवा का प्राकृतिक सौन्दर्य उसके हृदय में बस गया। २१ वर्ष तक उसका जीवन बड़ा अनिश्चित था। वह इधर-उधर घूमा करता था। परन्तु इसके बाद वह व्यवस्थित जीवन व्यतीत कर अपने विचारों को क्रमबद्ध करने की धुन में पड़ गया। १७५० ई० से उसकी रचनायें छप कर निकलने लगीं, जिनमें, 'दी प्रोग्रेस आव् आर्टस् एण्ड साइन्सेज', 'सोशल कॉनट्रेक्ट,' 'न्यू हेल्वायस' तथा 'एमील' मुख्य हैं। एमील तथा 'सोशल कॉनट्रेक्ट' से रूसो की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। 'एमील' के कारण रूसो की गणना श्रेष्ठ शिक्षा-सुधारकों तथा स्वतन्त्र विचारकों में होती है। 'एमील' एक उपन्यास है जिसमें रूसो एक कल्पित नवयुवक (एमील नामक) की शिक्षा का वर्णन उपदेशात्मक रीति से करता है। रूसो ने 'एमील' में यह दिखाने की चेष्टा की है कि शिक्षा से समाज की कुरीतियों को कैसे दूर किया जा सकता है। सभ्यता के सब कृत्रिम उपायों को दूर कर मनुष्य को प्रकृति के निकट ले आने का प्रयत्न 'एमील' में किया गया है। रूसो ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों की बड़ी आलोचना की है। वह शिक्षा को स्वाभाविक रूप में ले चलना चाहता है। रूसो एमील को उसके माता-पिता तथा स्कूल से अलग कर समाज से एकदम दूर रखता है। एमील को एक आदर्श अध्यापक के अन्दर छोड़ दिया जाता है। अध्यापक प्रकृति के सौन्दर्य तथा 'आश्चर्य' के वातावरण में एमील की विभिन्न शक्तियों के विकास का प्रयत्न करता है। 'एमील' पुस्तक पाँच भागों में विभाजित की गई है। प्रथम चार भाग में क्रमशः एमील के

रूसो

शैशव, बचपन, किशोरावस्था तथा युवावस्था की शिक्षा-विधि का वर्णन

हैं। पाँचवे भाग में सोफ़ी नामक एमील की भावी पत्नी की शिक्षा का वर्णन है। अपनी शिक्षा-प्रणाली से रूसो सोफ़ी को एक आदर्श स्त्री बनाना चाहता है।

(२) रूसो का प्रकृतिवाद—

रूसो कहता है "प्रकृति के नियन्ता के यहाँ से सभी वस्तुएँ अच्छे रूप में आती हैं। मनुष्य के हाथ में आने से ही वे दूषित हो जाती हैं।" अपने समय की कुरीतियों को देखकर रूसो का विश्वास हो गया था कि समाज-सुधार के लिये कृत्रिमता को दूर करना होगा। जब तक मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में नहीं चला जाता तब तक उसका सुधार नहीं हो सकता। कलायें तथा विभिन्न संस्थायें उसके जीवन में कृत्रिमता ला देती हैं। उसका सब प्रकार से पतन हो गया है। सभ्यता के प्रारम्भ काल में मनुष्य सुखी था। अब वह दुःखी है। सभ्यता के फलस्वरूप उसने जो कुछ सीखा है उसे नष्ट कर दो तो वह सुखी हो जायगा। रूसो 'प्रकृति' की ओर लौटने के लिये कहता है। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि वह हमें असभ्य हो जाने के लिये कहता है। 'प्रकृति' की ओर लौटकर वह बालक की विभिन्न शक्तियों के विकास के लिये पूर्ण अवसर देना चाहता है। रूसो पेस्टॉलॉजी के सदृश् यह न जान सका कि 'समाज-सुधार' 'प्रेम' के बढ़ाने से ही हो सकता है। अपने बचपन के कटु अनुभव के कारण कदाचित् रूसो यह न समझ सका कि बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये 'कौटुम्बिक प्रेम' का अनुभव आवश्यक है। हम अपनी सभ्यता को एकदम नये सिरे से नहीं प्रारम्भ कर सकते। परम्परा का प्रभाव पड़ता ही है। वर्तमान भूतकाल का बालक है। अपना भविष्य बनाने के लिये व्यक्ति को दो बातों पर ध्यान देना चाहिये—१—भूतकाल की बुराइयों को दूर करना; और २—प्राचीन आदर्शों का आदर करना। यदि वह इन बातों की अवहेलना करता है तो वह समुद्र के किनारे अपने को अकेला पायेगा और रास्ता न समझ सकेगा। रूसो तथा उसके समकालीन व्यक्तियों ने मानव स्वभाव को भली-भाँति न समझा क्योंकि उन्हें इन दो बातों का ध्यान न था। कदाचित् फ्रान्स की 'राजक्रान्ति' की तात्कालिक असफलता का एक यह भी कारण है।

रूसो अपने प्रकृतिवाद को शिक्षा का आधार बनाना चाहता है। "जो साधारणतः किया जाता है उसका ठीक उलटा करो, तब तुम ठीक पथ

पर पहुँच जाओगे।" रूसो समाज में क्रान्ति ला कर प्राचीन परम्परा को नष्ट करना चाहता था। सुधार करने की ओर उसकी दृष्टि न थी। रूसो के प्रकृतिवाद का ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अधिकतर परस्पर विरोधी बातें कहता है। तथापि उसके 'प्रकृतिवाद' के हमें तीन स्वरूप मिलते हैं—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और शारीरिक। अपने 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में रूसो राजनैतिक सिद्धान्तों की व्याख्या करता है और यह दिखलाता है कि 'ठीक सिद्धान्तों' के अनुसरण करने से मानव सभ्यता का विकास कैसे सम्भव हो सकता है। शिक्षा को वह सामाजिक ढंग पर नहीं आधारित करना चाहता। स्कूल की परम्परा से भी उसे चिढ़ है और, न शिक्षा की व्यवस्था वह बालक की अज्ञानता के अनुसार ही करना चहता है। वह मानव स्वभाव के सच्चे ज्ञान पर शिक्षा की नींव खड़ी करना चाहता है। 'प्राकृतिक' मनुष्य से उसका तात्पर्य असभ्य मनुष्य से नहीं है अपितु उस व्यक्ति से है जो अपने स्वभाव के अनुसार ही चलता है और समाज के बन्धनों के अनुसार चलने को बाध्य नहीं होता। मनुष्य का स्वभाव सरलता से नहीं समझा सकता। उसको बड़ी खोज के बाद पहचाना जा सकता है। यदि हम शिक्षा को 'प्रकृति' के अनुसार रखना चाहते हैं तो इसमें समाज का विरोध निहित है। रूसो कहता है—"प्रकृति और समाज की शक्तियों से हमें लड़ना है। हमें मनुष्य या नागरिक बनाने में से एक को चुनना चाहिये क्योंकि दोनों हम साथ ही नहीं बना सकते।" रूसो 'मनुष्य' ही बनाना चाहता है। रूसो के उक्त कथन की आलोचना अठारहवीं शताब्दी की स्थितियों की कसौटी पर ही करनी चाहिये।

रूसो मनुष्य के कार्यों को सामाजिक नियमों के अनुसार नहीं चलाना चाहता। 'अपना विचार', 'प्रवृत्ति' तथा 'भावना' ही मनुष्य के सभी कार्यों की जड़ है। दूसरों के सम्पर्क से हमें जो अनुभव मिलते हैं उस पर आश्रित रहना भूल होगी। रूसो के अनुसार दूसरों के सम्पर्क से जो हमें विचार और निर्णय करने की आदत पड़ जाती है वह प्रकृति के विरुद्ध है। हमें तो अपनी आन्तरिक भावनाओं तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार ही चलना चाहिये। इस प्रकार रूसो आदत बनाने के विरुद्ध जान पड़ता है। वह स्पष्ट कहता है :—"बच्चे को 'आदत न डालने' की ही 'आदत' पड़नी चाहिये।" उसे आदतों का दास नहीं होना है। इस प्रकार रूसो के "प्रकृतिवाद का मनोवैज्ञानिक तात्पर्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा आन्तरिक भावनाओं के अनुसार ही चलना है।"

कहना न होगा कि रूसो प्रकृति का प्रेमी था। वह चाहता था कि प्रकृति के सौन्दर्य को सब लोग समझें और उसी के अनुसार व्यवहार करें। शिक्षा में सभी बुराइयाँ मनुष्य के 'सम्पर्क' से आती हैं। यदि बालक सभी प्रकार की प्राकृतिक वस्तुओं, पौधों तथा जानवरों के सम्पर्क में आवे तो ये बुराइयाँ सरलता से दूर की जा सकती हैं। रूसो की समाज-द्रोही प्रवृत्ति मनुष्य को एकान्त सेवी बना देने को तैयार है। रूसो कहता है कि नैतिक तथा शारीरिक दृष्टि से "शहर मानवजाति की कब्र है।" इस प्रकार शारीरिक दृष्टि से प्रकृतिवाद का तात्पर्य मनुष्य को समाज से एकदम अलग कर देना है। उसे प्राकृतिक वस्तुओं के वातावरण में रहना है। परन्तु यह जानकर सन्तोष होता है कि रूसो को अपने घोर प्रकृतिवाद की असम्भवता का स्वयं अनुमान हो गया था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रूसो का तात्पर्य जनहित करना था। 'सरकार' का रूप लोगों को अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं निश्चित करना चाहिये। उसमें समयानुसार परिवर्त्तन होना आवश्यक है। धन के कुछ थोड़े मनुष्यों के हाथ में चले जाने से समाज में कृत्रिम असमानता उत्पन्न हो गई थी। इस कृत्रिम असमानता को दूर करने के लिये रूसो ने स्वाभाविक स्थिति की ओर जाने का संकेत किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक असमानता तथा बाह्याडम्बर से रूसो का प्रकृतिवाद तो श्रेयस्कर ही जान पड़ता है क्योंकि इससे लोगों का ध्यान कुरीतियों की ओर शीघ्र आकृषित हुआ। रूसो के 'प्रकृतिवाद' का वास्तविक उपयोग यही है।

(३) प्रकृतिवाद और शिक्षा—

अब हम यह देखेंगे कि रूसो अपने 'प्रकृतिवाद' को शिक्षा के उपयोग में कैसे लाता है। वह बालक की प्रवृत्तियों को प्रौढ़ मनुष्यों की प्रवृत्तियों से एकदम भिन्न मानता है। "बालक को बालक समझना चाहिये, उसे प्रौढ़ मनुष्य के कर्तव्यों में शिक्षा देना भूल है।" जो वस्तु बड़े मनुष्यों के लिये उपयोगी होगी वह बच्चे के लिये हितकर कभी नहीं हो सकती। इसलिये बच्चे को उपयोगी वस्तुयें पढ़ाने के लिये हमें उसके स्वभाव का अध्ययन करना आवश्यक है। हम उसके स्वभाव को समझे बिना उसे ज्ञान सिखलाने की चेष्टा किया करते हैं। फलतः बालक स्कूल से डरने लगा है। स्वभाव तथा प्रकृति की यह माँग है कि हम "बालक को बालक रहने दें जब तक वह स्वयं बड़ा नहीं हो जाता।" रूसो का शिक्षा से तात्पर्य "विभिन्न अंगों

और शक्तियों के स्वाभाविक विकास" से है। यह स्वाभाविक विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक कि शिक्षक बालक की स्वाभाविक आवश्यकताओं को समझता नहीं। इन आवश्यकताओं को समझने के लिये हमें उसके स्वभाव का अध्ययन करना चाहिये। रूसो का यह विचार कि "शिक्षा देने के लिये पहले बालक का स्वभाव समझना चाहिये" शिक्षा-क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन है।

(४) निषेधात्मक (निगेटिव्) शिक्षा—

हम यह कह चुके हैं कि अठारहवीं शताब्दी में 'मानव-स्वभाव' में विश्वास नहीं किया जाता था। वह स्वभावतः बुरा समझा जाता था। फलतः उस समय की धार्मिक तथा अन्य प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य मानव-स्वभाव को बदल कर उसके स्थान पर समाज-स्वीकृत आदर्शों को जमाना था। रूसो का मानव स्वभाव में पूर्ण विश्वास था। इसलिये वह प्रचलित सिद्धान्त को बदलना चाहता था। "पहली शिक्षा बिलकुल 'निषेधात्मक' होनी चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि हमें पहले 'गुण' और 'सत्य' के सिद्धान्त नहीं पढ़ाने चाहिये वरन् हृदय की पाप से तथा मस्तिष्क की भ्रम से रक्षा करनी चाहिये।" बालक की शिक्षा उसकी प्रवृत्तियों और शक्तियों के अनुसार होनी चाहिये। उसी की इच्छाओं के अनुसार हमें चलना चाहिये। "बालक के शरीर, अंग, इन्द्रिय तथा विभिन्न शक्तियों को उपयोग में ले आओ। परन्तु उसके मस्तिष्क को तब तक निष्क्रिय रक्खो जब तक सम्भव हो। जब तक उसमें निर्णय करने की शक्ति नहीं आ जाती तब तक उसकी भावनाओं पर विश्वास न करो। उसे बाहरी प्रभावों से बचाओ। उसे दोष से बचाने के लिये 'गुण' देने में शीघ्रता न करो; क्योंकि विवेक की दृष्टि में ही गुण 'गुण' हो सकता है। बिलम्ब को लाभप्रद समझो। यदि हम निर्दिस्ट स्थान की ओर बिना किसी हानि के बढ़ते जाते हैं तो लाभ ही है। यदि उसे किसी उपदेश की आवश्यकता है और यदि वह कल दिया जा सके तो उसे कल के लिये ही छोड़ दो।" * इस प्रकार रूसो प्रचलित प्रथा के एकदम विरुद्ध ध्वनि उठता है। "मैं निश्चयात्मक (पॉज़िटिव) शिक्षा उसे कहता हूँ जो समय के पहले मस्तिष्क को बनाना चाहती है और बालकों को युवा पुरुष का कर्तव्य सिखलाती है। मैं निषेधात्मक (निगेटिव्) शिक्षा उसे कहता हूँ जो ज्ञान देने के पहले ज्ञान के ग्रहण करने वाले अङ्गों को दृढ़ बनाती है और जो

---

* एमील ८०

इन्द्रियों के उचित उपयोग से 'विवेक-शक्ति' को बढ़ाती है। निषेधात्मक शिक्षा गुण नहीं देती, वह पाप से बचाती है; सत्य का ज्ञान नहीं कराती, वह भ्रम से बचाती है। वह बालक को सत्य की ओर जाने, समझने तथा अपनाने के लिये तैयार कर देती है।" रूसो के ये शब्द गुण-दोष विवेचक तथा लोक-विरुद्ध प्रतीत होते हैं। उनको समझने के लिये उस समय की 'प्रगति' को ध्यान में रखना आवश्यक है। रूसो फिर कहता है कि इस प्रकार प्रारम्भ में बालक को शिक्षा न देने से "आलस्य से डरो नहीं। जो मनुष्य समय बचाने के लिये सोने नहीं जाता उसे तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे कि वह पागल है, समय का आनन्द नहीं ले रहा है, अपितु अपने को इससे वंचित कर रहा है। नींद को त्याग कर मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा है। वही बात यहाँ भी सोचो। बचपन 'विवेक' के सोने का समय है।" *

रूसो बालक को केवल बौद्धिक विकास से ही वंचित नहीं करना चाहता वरन् उसके नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर भी उसका ध्यान नहीं है। रूसो इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी बातें कहता है "बालकों को केवल एक ही ज्ञान देना चाहिये—वह है कर्तव्य का ज्ञान।" दूसरी बार वह कहता है "बुरे और भले में पहचान करना बालक का विषय नहीं। कर्तव्य का कारण जानना बालक के लिये आवश्यक नहीं।"

किसी बात की चरम सीमा तक पहुँच जाना रूसो का स्वभाव-दोष था। वह कहता है "बारह वर्ष तक एमील को किसी प्रकार की पुस्तकीय शिक्षा नहीं दी जायगी। वह नहीं जानेगा कि पुस्तक क्या वस्तु है।" "मुझे बारह वर्ष का बालक दो जो कि कुछ भी नहीं जानता, पन्द्रह वर्ष की उम्र के अन्दर उसे मैं इतना पढ़ा दूँगा जितना कि दूसरे बचपन से पन्द्रह वर्ष तक पढ़ते हैं—अन्तर यह होगा कि तुम्हारा विद्यार्थी केवल ज्ञान को याद रखेगा और मेरा उसे अपने व्यावहारिक जीवन के उपयोग में ले आ सकेगा (एमील)।" "बचपन में शिक्षा का उद्देश्य समय का उपयोग नहीं करना है अपितु उसे खोना है।" यहाँ रूसो तथा अन्य शिक्षकों में कितना अन्तर दिखलाई पड़ता है? कमेनियस ने पहले-पहल शिक्षक के पूरे कर्तव्यों की व्याख्या की थी परन्तु उसने ज्ञान को अनुचित महत्व दिया। उसके अनुसार "व्यक्ति को सब कुछ जानना चाहिये।" लॉक के सामने 'चरित्र-विकास' ज्ञान से अधिक महत्व रखता है। पर वह यह नहीं बतला सका कि 'भद्र पुरुष' को क्या-क्या जानना

* एमील १—१९

चाहिए। रूसो निःसंकोच कहता है कि बारह वर्ष तक बालक को कुछ नहीं जानना चाहिये। उस समय के स्कूलों से व्यर्थ के विषयों को निकाल कर उपयोगी विषयों को रखने के लिए रूसो के शब्दों के अतिरिक्त कोई दूसरी दवा न थी। इसीलिये उसने कहा कि "शिक्षक को केवल बालक पर ध्यान देना चाहिये, ज्ञान पर नहीं" रूसो बालक के मस्तिष्क को आलसी रखना चाहता है। परन्तु बचपन में वह ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा का उल्लेख करता है और उनकी अनुरूपता प्राप्त करने के लिए संगीत सिखाने की राय देता है। क्या मस्तिष्क इन सब कार्यों में आलसी रह सकता है? समाज की कुरीतियों से बचने के लिये बालक को रूसो दूर भेज देता है। पर वह यह न समझ सका कि अपनी उम्र के बालकों में रह कर स्वाभाविक विधि से सीखने में बालक ऊबता नहीं। उसे ये कार्य स्वाभाविक ही लगते हैं। अतः उसे दूसरे छोटे बालकों के साथ पढ़ना-लिखना सिखलाया जा सकता है। वास्तव में रूसो के शब्दों का सार यह है कि बालक को उसके स्वभाव, रुचि तथा प्रवृत्ति के विरुद्ध कुछ भी न सिखाना चाहिये। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे कुछ पढ़ाया ही न जाय। पढ़ना-लिखना भी उसे स्वभाविक ही प्रतीत होगा यदि वह मनोवैज्ञानिक ढंग से सिखलाया जाता है।

(५) शिक्षा का उद्देश्य—

रूसो कहता है "हम निर्बल पैदा हुए हैं, हम बल चाहते हैं; हम दीन हैं; हमें सहायता की आवश्यकता है; हम मूर्ख हैं, हमें बुद्धि चाहिये; जो कुछ हमारे पास नहीं है वह शिक्षा द्वारा दिया जाता है। यह शिक्षा हम 'प्रकृति', 'मनुष्य' और 'वस्तुओं' से प्राप्त करते हैं। आन्तरिक अंगों और शक्तियों का विकास प्रकृति की शिक्षा से होता है—इनके विकास से लाभ उठाने की शिक्षा हमें मनुष्यों से मिलती है—जो अनुभव हम अपने वातावरण के सम्पर्क से प्राप्त करते हैं वह 'वस्तुओं' से दी हुई है।" * पूर्णता के लिये इन तीनों में सामञ्जस्य होना आवश्यक है। 'मनुष्य' और 'वस्तु' पर तो हमारा कुछ अधिकार भी है। इसलिये हमारी शिक्षा 'प्रकृति' के अनुसार ही होनी चाहिए। "जीवित रहने का तात्पर्य सांस लेना नहीं है, इसका अर्थ कार्य करना है, हमें अपने अंगों, ज्ञानेन्द्रियों तथा विभिन्न शक्तियों का विकास करना है। जो बहुत अधिक उम्र का हो गया है वह सुखी नहीं रहा है—सुखी तो वह रहा है जिसने जीवन का अनुभव किया है।" † रूसो के इन

* एमील जे०, ६।

†—एमील जे०, १३।

शब्दों से हम उसके शिक्षा के उद्देश्य का पता चला सकते हैं। "जीवन का उद्देश्य जीवन का आनन्द उठाना है। बच्चे को अपने अंगों, ज्ञानेन्द्रियों तथा शक्तियों के संचालन में आनन्द आता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य बालक को पढ़ने-लिखने पर बलि नहीं कर देना है, वरन् उसके सभी स्वाभाविक कार्यों में योग देकर उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास करना है।" "प्रकृति की यह इच्छा है कि बालक मनुष्य होने के पहले बालक रहे। इस क्रम के बदल देने से हम कच्चे फल पायेंगे जो शीघ्र ही सड़ जायेंगे। बालक के देखने, सोचने और अनुभव करने का अपना अलग नियम होता है। उनके नियम के स्थान पर अपने नियम को रख देने से बढ़ कर दूसरी मूर्खता न होगी।" § "हम बच्चों को नहीं समझ पाते। हम अपने विचार को उनका विचार समझने लगते हैं.........।" $ "मेरी इच्छा है कि कोई विचारशील पुरुष हम लोगों को बालकों के समझने की कला सिखला दें—यह कला हम लोगों के लिये बहुमूल्य होगी—अध्यापकों ने तो इसका प्रारम्भिक नियम भी नहीं सीखा है।" † इन शब्दों से रूसो का शिक्षा-उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'पूर्ण जीवन' है। पहले हमें बालक की रुचि व प्रवृत्तियों पर ध्यान देना है। उसकी इच्छा के विरुद्ध हमें उसे कुछ भी न सिखलाना चाहिये। खेद है कि आजकल के स्कूलों में बालक की रुचि पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। 'प्रतीत होता है कि बच्चे पुस्तकों के लिये हैं—पुस्तकें उनके लिए नहीं, शिक्षा का तात्पर्य केवल पुस्तकों से समझा जाता है। इसलिये बालक की रुचियों की अवहेलना की जाती है। यदि कुछ नियम, शब्द या 'स्थान का नाम' बतला दिया गया तो शिक्षा का उद्देश्य सफल माना जाता है। आज से ढाई सौ वर्ष पहले रूसो ने इसके विरुद्ध ध्वनि उठाई थी। "उस क्रूर शिक्षा के बारे में क्या सोचा जाय जो कि वर्तमान को अनिश्चित भविष्य पर बलि दे देती है जो बालक पर भाँति-भाँति का बन्धन लाद देती है—जो उसे भावी सुख (जिसे वह कभी नहीं भोग सकता) के लिये उसे दुःखी बनाते हुए दी जाती है।"

(६) स्व-शिक्षा (सेल्फ टीचिंग)—

रूसो उपदेशात्मक पाठन-विधि का विरोधी है। "हम लोग शब्दों को

§—एमील, ७५।
$—एमील, १८५।
†—एमील २२४।

बहुत महत्त्व देते हैं। बकवादी शिक्षा से हम बकवादी ही उत्पन्न कर सकते हैं।" "तुम बालक को मूर्ख बना दोगे यदि सदा उसको आज्ञा दिया करते हो...... यदि तुम्हारा मस्तिष्क सदा उसके हाथों को आज्ञा दिया करता है तो उसका मस्तिष्क व्यर्थ हो जायगा।" * "लड़के जो खेल के मैदान में पाठ सीखते हैं वह कक्षा के पाठ से चौगुना उपयोगी है।" † अध्यापकों में व्याख्यान देने की प्रवृत्ति सी होती है। वे अपने ज्ञान को बालकों के ऊपर उड़ेल देना चाहते हैं। इस डर से कि कदाचित् बतलाई हुई बात उनके समझ न आई हो अध्यापक लम्बी-लम्बी व्याख्यायें दे डालता है। पर उसको न भूलना चाहिये कि बालक लम्बी बातों से अरुचि रखता है। उसमें स्वाभाविक कार्यशीलता कूट-कूट कर भरी हुई है। "बूढ़े मनुष्य की क्षीण हुई शक्ति हृदय में केन्द्रित हो जाती है, बच्चे के हृदय में शक्ति भरी हुई है और वह बाहर फैलना चाहती है। उसमें इतनी शक्ति है कि वह अपने वातावरण से परिचित रहना चाहता है। उसको बनाना या बिगाड़ना उसके लिए एक ही है, इतना पर्याप्त है कि उसने वस्तुओं की दशा में कुछ परिवर्तन ला दिया है, प्रत्येक परिवर्तन एक क्रिया है। यदि वह किसी वस्तु को नष्ट करना पसन्द करता है तो यह उसकी उद्दण्डता नहीं है क्योंकि बनाने की क्रिया सदैव धीमी होती है, बिगाड़ने की क्रिया शीघ्र होती है इसलिये यह उसके उत्साह के अनुकूल है।" § इस प्रकार बालक वस्तुओं के साथ खेलना पसन्द करते हैं न कि अध्यापक का परिपक्व ज्ञान। पर रूसो अपने इस सिद्धान्त में बहुत दूर तक चला जाता है जब वह एमील को विज्ञान और गणित पढ़ने के लिये नहीं वरन् उसका आविष्कार करने के लिये कहता है। रूसो का ऐसा कहना एकदम भ्रमात्मक है। एमील अभी छोटा लड़का है। उसके लिये यह असम्भव है। रूसो कहता है "यदि एमील को स्वयं पढ़ने के लिए कहा जायगा तो वह अपने विवेक से काम लेगा, दूसरे के विवेक से नहीं। हमारी त्रुटियाँ दूसरों के कारण अधिक होती हैं, हम से कम होती हैं इसलिये दूसरे की राय को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिए। जैसे शरीर व्यायाम आदि से शक्ति पाता है उसी प्रकार अभ्यास करने से मानसिक शक्ति भी बढ़ जाती है। दूसरा लाभ यह है कि ऐसा करने से हम अपनी शक्ति के अनुसार ही बढ़ते हैं। मस्तिष्क शरीर के सदृश् अपनी शक्ति के अनुसार ही समझ सकता है। ठीक से समझ लेने से याद करने के पहले वस्तुयें हमारी हो जाती हैं पर यदि

*—एमील, आई जे—११४।

†—एमील, आई जे—१२३।

§—एमील, जे—४७।

हम बिना समझे याद करते हैं तो मस्तिष्क उसके सम्बन्ध में किसी भी बात को स्वीकार नहीं करता।" * यदि हम अपने अनुभव से कुछ सीखते हैं तो वह अधिक स्थायी रहता है। पर स्वयं सीखने की एक सीमा होती है। सब कुछ अपने आप नहीं सीखा जा सकता। हमें दूसरे के अनुभव से लाभ उठाना ही होगा। हमारा जीवन इतना छोटा है कि प्रत्येक विषय में स्वयं छानबीन करना असम्भव है। हम अपने बड़े के अनुभव के उत्तराधिकारी हैं। शताब्दियों के परिश्रम से जो बातें सिद्ध की जा चुकी हैं उसे हमें मानना ही होगा। पर रूसो के कहने का तात्पर्य यह है कि हमें दूसरे का दास नहीं होना है। अपने विवेक से ही किसी वस्तु विशेष की वास्तविकता को स्वीकार करना चाहिये। हमारी दृष्टि आलोचनात्मक रहे तो हमारी बुद्धि का पूरा विकास अवश्य होगा। रूसो कहता है कि 'अब शिक्षा शाब्दिक न होगी। अब शब्दों का पढ़ाना बन्द करना होगा। बालक को पुस्तकों के सहारे नहीं पढ़ना होगा।' हम पुस्तकों को एकदम बहिष्कृत नहीं कर सकते। अपने से सोचना, देखना और अनुभव करना लाभप्रद है। पर पुस्तकों में कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें हम अन्यत्र नहीं पा सकते। उन्हें हमें पढ़ना ही होगा। यदि हम अच्छी प्रकार समझ कर किसी के प्रमाण को स्वीकार कर लेते हैं तो वह अपना हो जाता है। 'रटने की क्रिया' से वह कहीं अच्छा है। किन्तु रूसो बड़ी मनोवैज्ञानिक बात की ओर संकेत करता है जब वह कहता है कि "बालक की विवेक-शक्ति का विकास करो, स्मरण-शक्ति का नहीं। "बालक कोई विषय इसलिये न जाने क्योंकि आप ने उससे कहा है, वरन् इसलिये कि उसने उसे स्वयं सीखा है...... ...।" "उसे सत्य पढ़ाना नहीं है अपितु यह बतलाना है कि उसका वह स्वयं कैसे पता लगाये।"

रूसो का शारीरिक विकास में पूरा विश्वास था। उसके अनुसार बारह वर्ष तक शिक्षा केवल शारीरिक होनी चाहिये। यदि शरीर स्वस्थ है तो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ अपने आप स्वस्थ रहती हैं। पर रूसो का यह कहना कि विभिन्न अंगों का व्यायाम करते रहने से त्रुटियाँ होने की सम्भावना कम रहती है ठीक नहीं। यह ठीक है कि मानसिक क्रियाओं का महत्त्व बाद में आता है। पहले बालक शारीरिक कार्यों की ही ओर दत्तचित्त होता है। पर अन्य सब बातें स्थगित कर बारह वर्ष तक केवल शारीरिक विकास करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। यह सोचना कि शरीर स्वस्थ रहने से बालक गणित और विज्ञान का आविष्कार स्वयं कर लेगा भ्रमात्मक है।

* एमील, आई आई जे २३५।

ज्ञानेन्द्रियों के विकास के लिये शारीरिक व्यायाम आवश्यक है। परन्तु ज्ञानेन्द्रियों के विकास से ही मस्तिष्क की उन्नति नहीं हो सकती। मस्तिष्क की उन्नति पर तो हमें प्रारम्भ से ही ध्यान देना होगा। रूसो कहता है कि बचपन में विवेक सोता रहता है। उसका बाल मनोविज्ञान यहाँ ठीक नहीं। आधुनिक अन्वेषण से यह प्रमाणित कर दिया गया है कि बच्चे के मस्तिष्क में प्रौढ़ मस्तिष्क की प्रायः सभी क्रियाएँ होती हैं। उनमें अन्तर केवल 'मात्रा' का है 'प्रकार' का नहीं। अतः बच्चे के मस्तिष्क के विकास के लिये शरीर के सदृश् प्रारम्भ से ही हमें सचेष्ट रहना होगा।

(७) विकास की अवस्थायें—

कहा जा चुका है कि रूसो मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभाजित करता है—जन्म से पाँच वर्ष तक शैशव, पाँच से बारह वर्ष तक बचपन, बारह से पन्द्रह तक किशोरावस्था, पन्द्रह वर्ष के बाद युवावस्था। 'एमील' में हर काल के लिये उचित शिक्षा का वर्णन किया गया है। रूसो के समय में आधुनिक मनोविज्ञान का विकास नहीं हुआ था। इसलिये वह इस प्रकार हमारे जीवन को चार भागों में विभाजित कर देता है। जीवन की एक अवस्था दूसरे से सम्बन्धित रहती है। अतः एक काल की शिक्षा भी दूसरे से सम्बन्धित रहेगी। यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि एक अवस्था कब प्रारम्भ होती है और कब समाप्त होती है। पर रूसो का इतना कहना तो ठीक ही है कि बालक की एक अवस्था की आवश्यकता दूसरे से भिन्न होती है। मस्तिष्क जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे बालक की रुचियों में भी परिवर्त्तन आने लगता है। अतः एक अवस्था की शिक्षा दूसरे से भिन्न होगी। इस वास्तविकता की ओर संकेत कर रूसो ने शिक्षा की बड़ी सेवा की है। अब हम यह देखेंगे कि प्रत्येक अवस्था के लिए रूसो ने कैसी शिक्षा व्यवस्था की चर्चा की है।

(८) एक से पाँच वर्ष तक शिक्षा—

शैशव में बालक कुछ न कुछ सदा करता रहता है। वह कभी आलसी नहीं दिखलाई पड़ता। जो वस्तु पाता है उसी से वह खेलने लगता है। पहले प्रायः सभी वस्तुएँ वह मुँह में डालने का प्रयत्न करता है। इसलिये उसे ऐसे वातावरण में रखा जाय कि उसकी स्वाभाविक क्रियाओं में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। उसके आसपास की वस्तुएँ ऐसी न हों कि उन्हें मुँह में डालने से किसी प्रकार की हानि हो। यदि हम उसका वातावरण स्वस्थकर रखेंगे तो उसे दवाओं तथा डाक्टरों की आवश्यकता न पड़ेगी। उसके कपड़े चुस्त नहीं

होने चाहिये। टोपियों तथा हाथ या पैर के कड़ों से उसकी स्वाभाविक गति में किसी प्रकार की बाधा न हो। बच्चों को दाइयों के हाथ सौंपना भूल है। वे माता का सा प्यार नहीं दिखला सकतीं। भावनाओं तथा मस्तिष्क के पूर्ण विकास के लिये यह आवश्यक है कि बच्चा माँ के प्रेम का भली-भाँति अनुभव करे। अतः उसका पूरा पालन-पोषण माँ को ही करना चाहिये। रूसो 'आदतें' बनाने के विरुद्ध है। इसलिये वह कहता है कि बच्चे को किसी कार्य के लिये विवश न करना चाहिये। बच्चों के खिलौने बहुत ही साधारण होने चाहिये। "सोने चाँदी की घण्टियाँ, शीशे तथा लकड़ी के भाँति-भाँति के खिलौने न हों।" उसे छोटी-छोटी टहनियाँ, फूल और फल खेलने के लिये देना चाहिये—जिससे कि वह देखे कि फूल कैसे उग रहा है और फल कैसे लगता है। उससे बहुत ही सरल भाषा में बोलना चाहिये। उसे समय के पहले बातचीत करना नहीं सिखलाना चाहिये। प्रारम्भ में उसे ऐसे शब्द सिखलाने चाहिये जो उसके स्वाभाविक विचार के अनुकूल हों। इस प्रकार हम देखते हैं कि शैशव में एमील की शिक्षा एकदम निषेधात्मक है। उसे कुछ सिखलाने का प्रयत्न नहीं किया जाता। उद्देश्य यह है कि उसमें कोई बुरी आदत न पड़ने पावे। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और भावनायें दूषित न हों। इसके लिये यह आवश्यक है कि उसकी स्वाभाविक क्रियाओं के लिये उसे पूरी स्वतन्त्रता दी जाय।

(६) पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक शिक्षा—

यह समय ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षा देने का है। "हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सबसे पहले बलवती होती हैं, इसलिये सबसे पहले उन्हीं की शिक्षा होनी चाहिये; पर इनकी हम बड़ी अवहेलना करते हैं।" "हम देखते हैं कि बच्चा सब कुछ छूना चाहता है, उठाना चाहता है। उसकी इस गति को कभी न रोकना चाहिये क्योंकि इसी प्रकार उसे गर्म, ठण्डा नरम, कड़ा तथा उसके आकार और रूप का अनुभव होगा। इस क्रिया में वह स्पर्श तथा दृष्टि का प्रयोग करता है। उसकी अँगुलियों तथा आँखों की क्रिया में एक सामञ्जस्य स्थापित होता है।" जैसे बिल्ली जब कमरे में आती है तो वह भली-भाँति चारों ओर घूर और सूँघ लेती है; चलना इत्यादि सीख लेने पर बालक भी यही करता है। अन्तर केवल इतना है कि बालक पहले अपना हाथ काम में लाता है और बिल्ली अपनी सूँघने की शक्ति। यदि बालक की इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया गया और उसमें किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाई गई तो वह तीव्र होगा, नहीं तो सुस्त। हमारी सभी मानसिक क्रियायें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ही

हमारे विवेक के आधार हैं। "हमारे पैर, आँख और हाथ ही हमें दर्शन-शास्त्र का पहला पाठ पढ़ाते हैं। यदि इसके स्थान पर पुस्तकें रख दी जायें तो विवेक का विकास नहीं होगा। वहाँ तो दूसरे के विवेक का प्रयोग होगा—अपना नहीं। इससे हम विश्वास पर ही सब मान लेने के अभ्यस्त हो जाते हैं और वास्तव में कुछ सीखते नहीं।" "यदि हम 'सोचना' सीखना चाहते हैं तो हमें अपने ज्ञानेन्द्रियों और अंगों को शिक्षा देनी ही होगी क्योंकि वे ही बुद्धि के अस्त्र हैं। यदि हम इन अस्त्रों का सदुपयोग चाहते हैं तो शरीर को शक्तिशाली बनाना आवश्यक है। इस प्रकार स्वस्थ शरीर पर ही मानसिक क्रिया का सरल होना निर्भर है।" * "यदि बच्चा वस्तुओं को पहचानने लगता है तो उन्हें उचित ढंग से चुनकर उसे देना चाहिये।" सर खुला रहे, पहनावा छोटा और कम रहे। उसे कुछ कठिनाई सहने के योग्य बनाना चाहिए। लॉक भी बच्चे को कठिनाई सहने के योग्य बनाना चाहता है। तैरना, कूदना, फाँदना सीखना आवश्यक है। ऊँचाई, दूरी तथा तौल आदि के माप से आँख की शिक्षा देनी चाहिये। इनकी शिक्षा स्वाभाविक समस्या के हल करने से होगी। कान की शिक्षा संगीत से देनी चाहिए। रेखागणित भी सिखलाई जा सकती है। प्रथम बारह वर्ष तक एमील को भूगोल, इतिहास तथा भाषायें नहीं पढ़ाई जायेंगी।

परन्तु एमील को सामाजिक प्राणी बनाने के लिये रूसो 'सम्पत्ति' तथा 'आचार' का कुछ ज्ञान दे देना चाहता है। पर यह केवल समयानुसार ही दिया जा सकता है। किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा देने का उसका उद्देश्य नहीं। जब तक बच्चे को नैतिक विचारों का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसे अपने स्वाभाविक कार्यों के फल से ही सीखना चाहिए। इस समय तक उसका 'अनुभव' प्रधान होना चाहिए। यहाँ हम रूसो की बात से पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते। बच्चे को सब कुछ उसके अनुभव से ही सिखाना ठीक न होगा। उसके कुछ कार्यों को हमें ठीक करना होगा। यदि बचा आग में हाथ डालता है तो हमें उसे मना करना ही होगा। यदि वह चाकू से खेल रहा है तो हमें चाकू छीन ही लेना होगा—नहीं तो फल दुःखद हो सकता है। अतः रूसो का 'स्वाभाविक फल' के अनुसार सीखने का सिद्धान्त ठीक नहीं लगता। परन्तु उसके कहने का इतना तात्पर्य हम निकाल सकते हैं कि 'सत्य की खोज के लिये जहाँ तक सम्भव हो बालक को स्वयं अभिप्रेरित करना चाहिये।'

* एमील, आई जे, १८३।

(१०) बारह से पन्द्रह वर्ष तक शिक्षा—

बारह और पन्द्रह वर्ष के भीतर अन्वेषण में बालक की रुचि और जिज्ञासा उत्पन्न करनी चाहिए। स्वाभाविक जिज्ञासा जागृत हो जाने पर उसे प्राकृतिक विज्ञानों में शिक्षा दी जा सकती है। "यह 'परिश्रम', शिक्षा और अध्ययन का समय है।" रूसो बालक को मनुष्यों की परस्पर-निर्भरता का कुछ अनुमान करा देना चाहता है। इसके लिये कुछ औद्योगिक अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है। "उसकी समझ के भीतर उससे प्रश्न करो।" "उसे सोचने दो।" भूगोल तथा खगोल-विद्या मानचित्र से नहीं पढ़ानी चाहिएँ। इससे बच्चे को वास्तविक ज्ञान नहीं होता। पृथ्वी का आकार वह गलत समझ लेता है। उगते और डूबते हुये सूर्य को देखकर उसे समय और ऋतु का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। प्राकृतिक वस्तुओं में उसकी जिज्ञासा उसे अपने आप आगे ले जायगी। रूसो पाठ्य-पुस्तकों द्वारा नहीं पढ़ाना चाहता। 'मैं पुस्तकों से घृणा करता हूँ। जो हम नहीं जानते उसी के बारे में बातचीत करना वे हमें सिखलाती हैं।" रूसो यह समझ नहीं सका कि तीन साल का समय इन सब विषयों को अपने अनुभव से सीखने के लिये बहुत कम है। पृथ्वी के आकार का ज्ञान तो हमें 'ग्लोब' से ही देना होगा। हम केवल इसी के लिये बालक को पृथ्वी की परिक्रमा करने के लिये बाध्य नहीं करेंगे।

(११) पन्द्रह से बीस वर्ष तक की शिक्षा—

पन्द्रह और बीस वर्ष के भीतर बालक में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भावनायें उत्पन्न होती हैं। उसके मस्तिष्क में नाना प्रकार के व्यतिरेक उठा करते हैं। ऐसे ही समय में सामाजिक तथा नैतिक कर्त्तव्यों को वह सरलता से सीख सकता है। "जब एमील को साथी की आवश्यकता होगी तो उसे अकेला नहीं रक्खा जायगा।" "हमने उसके शरीर, ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि को प्रबल बना दिया है, अब हम उसे 'हृदय' देना है।" रूसो अब बालक में नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक भावनाएँ जागृत करना चाहता है। बालक को इस समय सामाजिक गुणों और अवगुणों को समझना है। वह समाज में आवे और अपने अनुभव से ईमानदार और बेईमान व्यक्तियों की पहचान करे। कैसी आश्चर्य की बात है? अब तक तो बालक को समाज से एकदम अलग रखा गया है परन्तु अब मानो जादू के बल से ही सब कुछ शीघ्र सिखला दिया जावेगा!!! रूसो नहीं चाहता कि अध्यापक शिक्षा देकर उसे सारी बातें सिखलावे। उसके अनुसार बालक अस्पताल, अनाथालय तथा जेलखाना को देखकर समाज की बुराइयों

का अनुमान करे। वहाँ के दुःखियों को देखकर उसके हृदय में करुणा आयेगी और वह मानव प्राणी से प्रेम करना सीखेगा। इन सब स्थानों पर वह इतनी बार न जाय कि उसका हृदय दुःखों को देखते-देखते कठोर हो जाय। उसको इतिहास भी पढ़ाया जायगा जिससे वर्त्तमान परिस्थिति को देख कर उसे भ्रम न हो। प्राचीन कथाओं को पढ़ाकर उसे प्रशंसा और निन्दा का अनुमान कराया जायगा। अध्यापक बालक को धनी व दीन, दुःखी-सुखी, धर्मात्मा-दुरात्मा तथा निरोगी-रोगी के सम्पर्क में ले आयेगा—जिससे उसमें वांछित भावनाओं का विकास हो सके।

(१२) स्त्री-शिक्षा—

'एमील' का पाँचवाँ भाग रूसो के 'स्त्री-शिक्षा' के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है। यह रूसो के सिद्धान्तों का दुर्बलतम अंग है। रूसो के अनुसार स्त्री-पुरुष में भेद उनके विभिन्न उद्देश्यों के कारण होता है। रूसो स्त्रियों के विषय में बड़ा अनुदार दिखलाई पड़ता है। लड़कों को तो वह पूरी स्वतन्त्रता देता है परन्तु लड़की को वह कड़े नियन्त्रण में रखना चाहता है। लड़का अपना धर्म अपने विवेक से चुन लेगा। लड़की से जो कहा जायगा वह उसे मानना ही पड़ेगा। स्त्री की शिक्षा उसे पुरुष के योग्य बनाने के लिये होगी। "स्त्री को पुरुष की दृष्टि में सुखद बनना है, उसका प्रेम और आदर पाना है, बचपन में उसको शिक्षा देना है, युवावस्था में उसकी सेवा करनी है, उसको राय देनी है, सान्त्वना देनी है, उसका जीवन सब प्रकार से सुखी बनाना है, सभी समय की स्त्रियों का यह कर्तव्य है, और जब वह छोटी है तो उसे यही पढ़ाना चाहिये" (एमील, ३२८)। लड़कियों को प्रारम्भ से ही सब कार्यों में आदत डाल देनी चाहिये। स्त्रियों की निर्बलतायें रूसो के अनुसार स्वाभाविक हैं। इसलिए वह उन्हें दूर करने की चेष्टा न कर उनके दुरुपयोग को रोकना चाहता है। रूसो कहता है कि स्त्रियों की प्रवृत्ति पढ़ने-लिखने की ओर नहीं होती। अतः यदि वे स्वयं रुचि न दिखलायें तो उन्हें पढ़ाना व्यर्थ है। उन्हें गृहकार्य में निपुण बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। कताई, बुनाई इत्यादि का काम उन्हें सिखलाने चाहिये। स्त्रियों की धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में रूसो कहता है "यदि धर्म छोटी लड़कियों को पढ़ाना हो तो उसे अरुचिकर न बनाओ। उसे एक कठिन कार्य के रूप में उसके सामने न रक्खो। उसे भजन भी रटने के लिए न दो। यदि छोटी उम्र में वह धर्म नहीं पढ़ती है तो कोई चिन्ता नहीं, पर यदि पढ़ाया ही जाता है तो उसे ऐसा पढ़ाया जाय कि वह धर्म को प्यार करने लगे।" स्त्रियों में

'सोचने' की कला होती है परन्तु उन्हें तर्क और आध्यात्म-विद्या का केवल सार समझ लेना चाहिए। सोफ़ी शीघ्र समझ लेती हैं पर तुरन्त भूल जाती है। नैतिक-विज्ञान और शौन्दर्य-शास्त्र में वह अच्छी उन्नति करती है पर भौतिक शास्त्र उसकी समझ में भली-भाँति नहीं आता।" इस प्रकार, हम देखते हैं कि रूसो स्त्रियों के व्यक्तित्व को न समझ सका। उसके अनुसार स्त्रियों को अपने पति के अन्याय को सहने के लिए पहले से ही तैयार रहना चाहिए। उन्हें गाने और नाचने में प्रवीण होना चाहिए जिससे पुरुषों को वे प्रसन्न कर सकें। "प्रत्येक लड़की को अपनी माँ का धर्म मानना चाहिये और प्रत्येक स्त्री को अपने पति का।" 'स्त्री दर्शन-शास्त्र तथा कलाओं का अध्ययन नहीं भी कर सकती है परन्तु 'पुरुष' का अध्ययन तो उसे करना ही है।'

(१३) 'एमील' की आलोचना—

अब यहाँ पर 'एमील' के गुण व दोष पर दृष्टिपात करना ठीक होगा 'एमील' में रूसो ने उस समय की 'स्वाभाविक विनय' की प्रणाली और उपदेशात्मक विधियों की आलोचना कर लोगों का ध्यान बालक के स्वभाव की ओर आकर्षित किया। 'ज्ञानेन्द्रियों' को ज्ञान का आधार मान कर उनके विकास के लिये उचित व्यवस्था की चर्चा कर रूसो ने शिक्षा को रुचिकर बनाना चाहा। 'एमील' से हमें प्रकृति-अध्ययन और शारीरिक-शिक्षा की आवश्यकता का ज्ञान होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि 'एमील' में रूसो कई स्थान पर परस्पर विरोधी बातें कहता है। कहीं-कहीं 'भ्रमात्मक', असंगत तथा अतार्किक बातें मिलती हैं। रूसो बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहता है पर वह भूल जाता है कि उसका एमील हर समय अपने अध्यापक के मार्गप्रदर्शन पर चल रहा है। लड़के को जितनी ही स्वतन्त्रता दी गई है, लड़की को उतना ही नियन्त्रण। उसके स्त्री-शिक्षा के सिद्धान्तों के सामने पहले की कही हुई सभी अच्छी बातें व्यर्थ सी जान पड़ती हैं। पर हमें 'एमील' के सार को समझना है। 'एमील' के अतिशयोक्तियों का प्रभाव शिक्षा पर अच्छा ही पड़ा। उस समय की शिक्षा-प्रणाली इतनी दोषमय हो गई थी कि लोगों का उस ओर ध्यान करने के लिये अतिशयोक्तियों को छोड़ कर रूसो को दूसरा सरल साधन न दिखाई पड़ा। रूसो अपने उद्देश्य में सफल हुआ, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। आजकल हम शिक्षा-क्षेत्र में जितने सुधार देखते हैं उन सब का बीज हमें 'एमील में दिखलाई पड़ता है।

(१४) रूसो का प्रभाव—

हम ऊपर देख चुके हैं कि रूसो सामाजिक परम्परा को उखाड़ कर फेंक देना चाहता है। सामाजिक व्यवस्था में उसका विश्वास नहीं। इसलिए व्यक्ति को वह प्राकृतिक अवस्था की ओर ले जाता है। वह बालक की शिक्षा कृत्रिम तथा आडम्बरयुक्त वातावरण में नहीं रखना चाहता। साधारण मनुष्यों के अधिकार की चर्चा करते हुए वह उन्हें औद्योगिक कार्यों में निपुण बनाना चाहता है जिससे वे अपनी जीविकार्जन कर सकें। वह समाज को दूषित समझता है, पर व्यक्ति के चरित्र में उसका पूर्ण विश्वास है। यही कारण है कि उसके शिक्षा-सिद्धान्तों में हम मानव कल्याण का बीज पाते हैं। आजकल नैतिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की ध्वनि उठाई जाती है। यदि ध्यानपूर्वक देखें तो इसकी प्रेरणा हमें 'एमील' में भी मिलती है। हरबार्ट ने यदि अपने नैतिक उद्देश्य के लिए 'एमील' से प्रेरणा ली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पेस्तॉलॉजी और फ़ेलेवर्ग के स्कूल में औद्योगिक कार्य हमें 'एमील' की ही याद दिलाते हैं। कहना न होगा कि फ़्रोबेल की शिक्षा-प्रणाली से बच्चों में जो सहकारिता और सामूहिक कार्य की भावना का प्रादुर्भाव होता है उसका बीज 'एमील' में ही दिखलाई पड़ता है।

(१५) रूसो और वैज्ञानिक प्रगति—

रूसो पुस्तकीय शिक्षा के विरुद्ध था। वह बालकों को 'प्रकृति-निरीक्षण' की ओर लगाना चाहता था। रूसो के समय तक स्कूलों के पाठ्य-क्रम में विज्ञान को विशेष स्थान नहीं दिया जाता था। रूसो की वाणी का क्रमशः प्रभाव हुआ। धीरे-धीरे स्कूलों में प्राकृतिक-विज्ञान, पौधे तथा जानवरों आदि का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। आश्चर्य नहीं यदि पेस्तॉलॉजी, बेसडो, सैलमैन तथा रीटर ने 'भूगोल' और 'प्रकृति' के अध्ययन में रूसो से प्रेरणा ली हो। स्पेन्सर और हक्सले का भी वैज्ञानिक आन्दोलन रूसो के विचारों से कुछ-कुछ मिलता है।

(१६) रूसो और मनोवैज्ञानिक प्रगति—

हम कह चुके हैं कि रूसो को बाल-मनोविज्ञान का ठीक ज्ञान न था। पर उसने बालक को समझने का प्रयत्न किया। उसका यही प्रयत्न दूसरों को उत्साह देने के लिये पर्याप्त था। उसने उपदेशात्मक विधि की आलोचना की। इस प्रकार उसने शिक्षा में 'मनोवैज्ञानिक प्रगति' का प्रारम्भ किया है। उसके विचारों के फलस्वरूप बालक को शिक्षा देने के पहले उसे 'समझना' आवश्यक

माना जाने लगा। रूसो ने बालक की 'जिज्ञासा' और 'रुचि' का उल्लेख किया है। वह उन्हीं को शिक्षा का आधार मानता है। यहाँ वह हरबार्ट के सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। रूसो ने दिखलाया कि बालक को प्रोत्साहन देने का क्या मूल्य है। उसने यह दिखलाया कि ज्ञानेन्द्रियों तथा बालकों की स्वाभाविक क्रियाओं के उपयोग से शिक्षा में क्या लाभ हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'एमील' से शिक्षा-क्षेत्र में एक नया युग प्रारम्भ होता है। इसके कारण शिक्षकों के सामने अनेक समस्यायें आईं जिनके समाधान में पोथे के पोथे रंग डाले गये। क्रिक के अनुसार रूसो की रचनायें इतिहास की विचित्र वस्तुओं में से हैं। उनका शिक्षा पर कमेनियस, मॉनटेन तथा लॉक से अधिक प्रभाव पड़ा। अतिशय उत्साह में रूसो ने अपने सिद्धान्तों को इतना ऊँचा बना दिया है कि उन्हें कार्यान्वित करना असम्भव है। कमेनियस किसी सिद्धान्त को कार्यान्वित करने की कला से परिचित था। वह शिक्षक और आयोजक दोनों था। इसलिये उसने कुछ असम्भव बात न कही। समाज को जैसा पाया उसे स्वीकार कर उसके सुधार में वह जुट गया। इसके विपरीत रूसो बुरे समाज को चूर-चूर कर देगा किन्तु उसे स्वीकार न करेगा।

४—रूसो के शिक्षा-सिद्धान्त तथा अन्य शिक्षा विशेषज्ञों से उनका सम्बन्ध

रूसो अपने सिद्धान्त को तर्क-बद्ध न कर सका। उनका उल्लेख हमें समुद्र में मोतियों के समान इधर-उधर मिलता है। तथापि निम्नलिखित को हम उनके सिद्धान्तों का सार मान सकते हैं—

१—बच्चे को समाज की प्राचीन परम्परा में बाँधकर उसके स्वाभाविक कार्यों में बाधा नहीं डालनी चाहिये।

२—प्रारम्भिक शिक्षा में प्रत्यय ज्ञान सारभूत है। इसी बात पर बेसडो ने भी बल दिया है। पेस्तॉलॉज़ी का 'वस्तु के सहारे पढ़ाने' का सिद्धान्त इसी पर निर्भर है।

३—शिक्षा भावी जीवन की तैयारी के लिए नहीं है, शिक्षा स्वय जीवन है। ड्यूइ भी यही आदर्श मानता है।

४—बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा योग्यता के प्रौढ़ हो जाने पर शिक्षा प्रारम्भ करनी चाहिये। पेस्तॉलॉज़ी भी इस बात की ओर संकेत करता है। परन्तु फ्रोबेल इसको अच्छी प्रकार मानता है।

५—बिना समझे हुए शब्दों को 'रटना' हानिकर है। इससे बच्चे की बुद्धि कुन्द पड़ जाती है। बालक की रुचि और जिज्ञासा पर ध्यान देना चाहिए। हर एक बालक दूसरे से भिन्न है। पहले तो पेस्तालॉज़ी ने भी 'रटने' की निन्दा की है पर बाद में 'रटने' का दोष उसकी प्रणाली में आ गया। हरबार्ट तथा बाद के सभी सुधारकों ने 'रटने' का विरोध किया है।

६—स्वास्थ्य के लिए शारीरिक परिश्रम आवश्यक है। बेसडो, पेस्तालॉज़ी और फ्रोबेल इससे सहमत हैं।

७—प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यवसाय सीखना चाहिये। ड्यूइ भी इसको मानता है।

८—बच्चे धर्म का आध्यात्मिक पक्ष नहीं समझते। उन्हें इस सम्बन्ध में उपदेश नहीं अच्छे लगते। उनके सामने उदाहरण रखना चाहिए। पेस्तॉलॉज़ी और बेसडो भी इस ओर संकेत करते हैं।

९—इतिहास की बारी बाद में आनी चाहिए। उसे पढ़ कर बच्चे को स्वयं निर्णय करना है।

१०—अपने स्वाभाविक कार्य के फल से ही बालकों को सीखना चाहिए। हरबार्ट स्पेन्सर भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन करता है।

११—बालक अपनी साधारण क्रियाओं द्वारा अपने को व्यक्त करना चाहता है। अतः बातचीत, लिखने, चित्र खींचने, संगीत तथा खेलने में उनका उपयोग करना चाहिए। वर्तमान काल के कर्नल पार्कर और ड्यूइ इस सिद्धान्त को मानते हैं।

१२—बालक समय-समय पर बढ़ा करता है। तदनुसार उसकी रुचियों में परिवर्त्तन आता रहता है। प्रत्येक काल के लिये उचित प्रबन्ध होना चाहिये। पेस्तॉलॉज़ी, फ्रोबेल तथा हरबार्ट ने भी इस पर बल दिया है।

१३—पहले निकट वातावरण का भूगोल पढ़ाना चाहिये। पेस्तॉलॉजी ने भी इसे स्वीकार किया है।

१४—भाषा व्यवहार तथा बातचीत के द्वारा पढ़ानी चाहिये।

१५—व्यावहारिक और वैधानिक अध्ययन के लिये 'राबिन्सन क्रूसो' आधार है। बेसडो, उसके सहयोगी तथा हरबार्ट के वर्तमान अनुयायी इससे सहमत हैं।

१६—शिक्षा का उद्देश्य बालक के विभिन्न अंगों को पुष्ट करना है। पेस्तॉलॉज़ी का "शक्तियों के अनुरूप विकास" तथा हरबार्ट का 'बहुरुचि-सिद्धान्त' रूसो के ही सिद्धान्त को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हैं।

१७—आद्योगिक दृष्टिकोण से सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करना चाहिए। बेसडो, पेस्तालॉज़ी तथा फ्रोबेल ने इस ओर संकेत किया है परन्तु ड्यूई इस पर विशेष बल देता है।

१८—यदि बच्चों में तर्क करने की शक्ति है तो उसका उपयोग व्यावहारिक विज्ञान की छोटी-छोटी समस्याओं के अन्वेषण में करना चाहिए। इस सिद्धान्त की बहुत दिन तक अवहेलना की गई। फ्रोबेल ने थोड़ा इस ओर संकेत अवश्य किया है। आजकल ड्यूई इसका समर्थक है।

५—प्रकृतिवाद का प्रभाव

प्रकृतिवाद का प्रभाव योरोप के स्कूलों पर शीघ्र न पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिक आन्दोलन से प्रकृतिवाद का भी प्रभाव दिखलाई देने लगा। वास्तव में मनोवैज्ञानिक आन्दोलन तो प्रकृतिवाद के प्रभाव से ही फैला। रूसो की रचनाओं का इङ्गलैण्ड में बड़ा मान हुआ परन्तु 'एमील' का शिक्षा पर कुछ प्रभाव न पड़ सका। फ्रान्स के सदृश् वहाँ भी 'राष्ट्रीय शिक्षा' का विकास अभी नहीं हो पाया था। स्कूल प्रायः अलग-अलग संस्थाओं या व्यक्तियों के आधीन थे। फ्रान्स में रूसो के शिक्षा-सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव हम उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से देखते हैं। राज्यक्रान्ति तथा नैपोलियन काल में शिक्षा का पुराना ही रूप था। परम्परा को छोड़ने में लोगों को डर लग रहा था। रूसो 'चर्च' तथा 'धनी समाज' का शत्रु समझा जाता था परन्तु मनोवैज्ञानिक लहर चलने से ऐसी स्थिति में परिवर्तन होने लगा। प्रकृतिवाद के कुछ सिद्धान्तों पर शिक्षा-संचालन का प्रयत्न किया जाने लगा। अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी में रूसो के सिद्धान्तों का प्रसार शीघ्र हुआ। उनके प्रसार में बेसडो, सैलमैन और कैम्प का विशेष हाथ था। बेसडो का कार्य शिक्षा-दृष्टि से महत्व का है। अतः उस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक स जान पड़ता है।

६—बेसडो (जर्मनी, १७२३–१७९०)

(१) उसका जीवन—

बेसडो 'स्वानुभववादी यथार्थवादियों' की कोटि में गिना जा सकता पर वह रूसो के सिद्धान्तों पर चलता है और एक दृष्टि से उसे यदि पेस्तॉलॉः का अगुआ भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। बेसडो की प्रवृत्ति पह

बेसडो

धार्मिक थी। परन्तु 'एमील' के पढ़ने से वह इतना प्रभावित हुआ कि अपने जीवन को शिक्षा के लिये उत्सर्ग कर दिया। बेसडो का बचपन सुखद न था। उसे इधर-उधर घूमना पड़ा। उसकी शिक्षा भी ठीक न हो पाई। १७४८ ई० में हरवॉन कालेन नामक एक रईस के बच्चों का वह अध्यापक हो गया। वहीं उसे अपनी प्रतिभा का ज्ञान हुआ। सन् १७५३ में वह 'डैनिश एकेडेमी' में दर्शन-शास्त्र का अध्यापक हो गया। परन्तु १७६३ ई० में अपने विचारों के कारण उसे वहाँ से त्याग-पत्र देना पड़ा। अब वह अपनी पुस्तकें छपवाने की धुन में आया। उसने राजा तथा रईसों से आर्थिक सहायता लेकर शिक्षा-सम्बन्धी 'एलेमेण्टरी वर्क' और 'बुक ऑव् मेथड' नामक दो पुस्तकें १७७४ ई० में प्रकाशित कीं। ये पुस्तकें बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा पर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त उसने अपने धार्मिक विचारों के प्रतिपादन में दूसरी पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। पर उन पर रोक डाल दी गई। बेसडो अन्धविश्वासी न था। अपनी बात कहने में उसको कुछ झिचक न थी। उसे किसी के विरोध की चिन्ता न थी! इसीलिये प्रारम्भ में उसे इधर-उधर बहुत भटकना पड़ा।

(२) 'फ़िलैनथ्रोपिनम—

अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिये १७७४ ई० में उसने 'दी फ़िलैनथ्रोपिनम" नामक स्कूल डेसू स्थान पर खोला। स्कूल केवल बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिये था। पहले इसमें केवल तेरह विद्यार्थियों को लिया गया। पर कहा जाता है कि इसकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि योरोप के दूसरे

देशों से भी इसमें विद्यार्थी आने लगे। 'फ़िलैनथ्रोपिनम' में सभी नवीन विचारों का समावेश किया गया। पर बेसडो के स्वभाव के कारण यह स्कूल सफलता न प्राप्त कर सका। हम कह चुके हैं कि कमेनियस और रूसो के विचारों का प्रभाव 'प्रचलित' शिक्षा पर विशेष न पड़ा। स्कूल अब भी अमनोवैज्ञानिक ढंग पर चल रहे थे। लैटिन और ग्रीक पहले ही के सदृश् पढ़ाई जाती थीं। मातृभाषा को उचित स्थान नहीं दिया गया था। दीन बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध न था। कविता और व्याकरण मार-मार कर याद कराया जाता था। बालकों को युवकों के समान पूरे पहनावे पहनने पड़ते थे। इससे उनको चलने-फिरने में बड़ी असुविधा होती थी।

(३) फ़िलैनथ्रोपिनम का सिद्धान्त—

वेसडो ने रूसो की ही ध्वनि दुहराई—"बच्चों को युवक न मानो। उन्हें बच्चों की तरह रहने दो जिससे उनमें दोष न आवे। बच्चों पर 'विषय' से अधिक ध्यान दो।" "जो बच्चे भाववाचक शब्द नहीं समझ सकते उन्हें ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से वातावरण की वस्तुओं का ज्ञान कराना चाहिये। प्रकृति को उन्हें स्वयं देखने दो। यदि यह सम्भव न हो तो नमूने या चित्र से उन्हें उनके सम्पर्क में ले आओ। रटने के कार्य को बहुत कम कर दो।" विदेशी और जंगली मनुष्यों का चित्र अथवा नमूना दिखा कर उन्हें मनुष्यों के विषय में ज्ञान देना चाहिये। घरेलू जानवरों का ज्ञान भी चित्रों कराया जा सकता है। उपयोगी पेड़, पौधे, फूल तथा फल आदि के सम्पर्क में उन्हें ले आना चाहिये। बागवानी और खेती के हथियार उन्हें दिखलाने चाहिये। इतिहास की घटनाओं को यदि चित्र तथा मानचित्र की सहायता से पढ़ाया जायगा तो बालकों के मस्तिष्क में बात शीघ्र बैठ जायगी। व्यापार आदि में परिचय देने के लिये व्यापार की वस्तुयें बच्चों को दिखलाई जा सकती हैं। परन्तु उस समय की जनता बहुत पीछे थी। लैटिन तथा फ्रेञ्च का ज्ञान अब भी आवश्यक माना जाता था। केवल उसके पाठन-विधि में ही कुछ परिवर्त्तन किया जा सकता था। बेसडो ने बातचीत के ढंग पर उसे पढ़ाना आरम्भ किया। उसने धार्मिक शिक्षा निष्पक्ष भाव से देने की व्यवस्था की। सब कुछ 'प्रकृति' के अनुसार ही पढ़ाने का नियम बनाया गया। बालकों की स्वाभाविक इच्छाओं और प्रवृत्तियों पर पूरा ध्यान दिया गया। वेसडो अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के उत्साह में इतने दूर तक चला गया कि उसका 'फ़िलैनथ्रोपिनम' केवल बच्चों के लिये ही रह गया क्योंकि दस वर्ष

की उम्र के बालकों का ही उसने विशेष ध्यान रक्खा है। यदि हम उसकी विधि केवल छः से दस तक के बच्चों के लिये माने तो उसमें हमें अनेक गुण मिलेंगे। "बच्चे ऊधम मचाना और दौड़ना-कूदना अधिक पसन्द करते हैं। १७–१८ वर्ष के बच्चों के समान उन्हें पुस्तकों पर बिठा देना बड़ा अमनोवैज्ञानिक है। "हाथ, कान व आँख के प्रयोग में वे जिस प्रसन्नता का अनुभव करते हैं उस पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। अपनी रुचियों और समझ के परे उन्हें कठिन विषयों को पढ़ाना पढ़ता है।" बेसडो इन सब कुरीतियों को दूर करना चाहता था। 'फ़िलैनथ्रोपिनम' में उनसे बहुत कुछ परिवर्त्तन किये। सामाजिक दृष्टिकोण से प्रत्येक बालक को कोई न कोई हस्तकला सिखलाई जाती थी। चौबीस घण्टे का पूरा कार्य-क्रम निश्चित कर दिया जाता था। धनी लड़कों को आठ घण्टा सोना, आठ घण्टा भोजन तथा मनोरंजन, छः घण्टे शारीरिक परिश्रम और दो घण्टे पढ़ना पड़ता था। इस प्रकार धनी और दीन बालकों को एक ही स्थान पर शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। शरीर के विकास पर उचित ध्यान दिया जाता था। बच्चों को भाँति-भाँति के साधारण व्यायाम करने पड़ते थे। कभी-कभी वे दूर तक घूमने भी चले जाया करते थे। 'फ़िलैनथ्रोपिनम' की देखा-देखी और स्कूलों में भी 'व्यायामशालायें' खुलने लगीं। शिक्षा पहले के सदृश् शाब्दिक न थी। उसमें कुछ अधिक वास्तविकता आ गई। बालक को चित्र दिखा कर उसमें अंकित चित्रों का वर्णन करने के लिये कहा जाता था। कमरे तथा बागीचे की वस्तुओं का नाम उसे सीखने के लिये कहा जाता था। इस प्रकार उनकी निरीक्षण-शक्ति का विकास किया जाता था। बेसडो प्रधानाध्यापक का काम सरलता से न कर सका। उसे त्याग-पत्र देना पड़ा। बेसडो की सफलता उसके सहयोगियों पर भी निर्भर थी। उसके त्यागपत्र के बाद कैम्प तथा सैलेमन कुछ दिन तक फ़िलैनथोपिनम का संचालन करते रहे। परन्तु १७९३ ई० में इसे बन्द कर देना पड़ा।

(४) बेसडो का स्थायी प्रभाव—

'फ़िलैनथोपिनम' के संचालन से अन्य स्कूलों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उनके लिये अच्छे भवन तथा उपयुक्त साधन की आवश्यकता का सबको ज्ञान हो गया। अध्यापकों को पढ़ाने की कला सिखाना आवश्यक समझा जाने लगा। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के पहले इसका कोई उचित प्रबन्ध नहीं किया जा सका। नियन्त्रण का नियम ढीला कर दिया गया। प्रकृति-अध्ययन में लोग अधिक रुचि रखने लगे। फलतः इसकी विधि में भी सुधार हुआ। बेसडो ने

'फ़िलैनथ्रोपिनम' के आदर्श से शिक्षा के लिये लोगों में परोपकार की भावना का संचार किया।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

प्रकृतिवाद

१—प्रकृतिवाद क्यों उठा ?

'राजनीति', 'धर्म' तथा 'विचार' के क्षेत्र में निरंकुशता, 'नियमित विनय' का बोलबाला, 'पीएटिज़म्' 'जैनसेनिज़म्' तथा 'प्यूरिटैनिज़म्' की प्रतिक्रिया में आडम्बर का बढ़ना, सभी क्षेत्रों में फ्रान्स दूसरों के लिये आदर्श, चर्च की प्रधानता, जनवर्ग शक्तिहीन, 'बुद्धि' द्वारा तथा जनवर्ग द्वारा स्थिति का विरोध, 'बुद्धि' द्वारा विरोध से प्रकृतिवाद की उत्पत्ति।

२—'प्रबोध'

निरंकुशता सह्य नहीं, 'विचार' तथा 'विश्वास' की 'नियमित विनय' का खण्डन, 'मानव-स्वभाव' और 'विवेक' में पूरा विश्वास, राज्य न्याय, धार्मिक सहिष्णुता तथा विचार-स्वातन्त्र्य, 'विचार' अनुभव के बल पर, 'धार्मिक सत्य' की परीक्षा मनुष्य की समझ से, वॉलटेयर के अनुसार धर्म मनुष्य का अभिशाप, विचारकों तथा विद्वानों का भी एकवर्ग—जनवर्ग को वह नापसन्द।

नये आदर्श की ओर ध्यान, 'स्वानुभाव-ज्ञान' ही सब कुछ नहीं, आन्तरिक भावनाओं को भी स्थान, रूसो प्रतिनिधि, रूसो से शिक्षा का नया युग प्रारम्भ।

३—रूसो (१७१२–१७७८)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

'एमील', कृत्रिम उपायों को दूर कर मनुष्य को प्रकृति के निकट लाना, शिक्षा स्वाभाविक रीति से, प्रकृति के 'सौन्दर्य' तथा आश्चर्य के वातावरण में एमील की विभिन्न शक्तियों का विकास।

(२) रूसो का प्रकृतिवाद—

समाज-सुधार के लिये कृत्रिमता का दूर करना, मनुष्य का सुधार प्राकृतिक अवस्था में ही, व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये कौटुम्बिक प्रेम का अनुभव आवश्यक, सभ्यता को एकदम नये सिरे से प्रारम्भ करना आवश्यक, रूसो मानव स्वभाव को न समझ सका।

रूसो का उद्देश्य प्राचीन परम्परा को नष्ट करना, रूसो के परस्पर विरोधी विचार,—प्रकृतिवाद के तीन स्वरूप—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और शारीरिक, शिक्षा सामाजिक ढंग पर नहीं, शिक्षा की नींव मानव स्वभाव के सच्चे ज्ञान पर, प्रकृति

मनुष्य समाज के बन्धनों के अनुसार चलने को बाध्य नहीं, प्रकृति के अनुसार चलने में समाज का विरोध निहित।

'अपना विचार', 'प्रवृत्ति' तथा 'भावना' मनुष्य के कार्यों की जड़, दूसरों के अनुभव पर आश्रित रहना भूल ?

शिक्षा में बुराइयाँ आदमी के सम्पर्क से, मनुष्य को समाज से एकदम अलग कर देना, 'राज्य नियन्त्रण' का रूप अपनी आवश्यकतानुसार, रूसो के प्रकृतिवाद के कारण कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान।

(३) प्राकृतिवाद और शिक्षा—

बालक को युवकों के कर्तव्य में शिक्षा न दो, बच्चे की रुचि बड़ों से भिन्न, बालक की शक्तियों के विकास के लिये उसकी आवश्यकताओं को समझना, शिक्षा के लिये उसके स्वभाव को समझना।

(४) निषेधात्मक (नगेटिव्) शिक्षा—

पहले 'गुण' तथा सत्य का सिद्धान्त नहीं पढ़ाना चाहिये, हृदय को पाप से और मस्तिष्क को भ्रम से बचाना, शिक्षा बालक की प्रवृत्तियों और शक्तियों के अनुसार, जब तक सम्भव हो मस्तिष्क को निष्क्रिय रक्खो, बचपन में विवेक सोता है।

बालक के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर रूसो का ध्यान नहीं।

रूसो की अतिशयोक्ति, बारह वर्ष तक किसी प्रकार की शिक्षा नहीं, बालक पर ध्यान दो—ज्ञान पर नहीं, बचपन में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा,—उनकी अनुरूपता प्राप्ति के लिये संगीत सिखाना, अपनी उम्र के बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक ढग से पढ़ाना बालकों के लिये रुचिकर।

(५) शिक्षा का उद्देश्य—

प्रकृति, मनुष्य और वस्तुओं द्वारा शिक्षा; इन तीनों में सामञ्जस्य आवश्यक; शिक्षा प्रकृति के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य सभी स्वाभाविक कार्यों में योग दे कर शक्तियों का विकास करना, बालक के नियम बड़ों से भिन्न।

(६) स्व-शिक्षा (सेल्फ़ टीचिंग)

उपदेशात्मक पाठन-विधि ठीक नहीं, बालक में कार्यशीलता, वातावरण से परिचित रहना चाहता है, अध्यापक का परिपक्व ज्ञान उसे नहीं चाहिये, अभ्यास से मानसिक शक्ति का बढ़ाना, अपने अनुभव से सीखी हुई बात अधिक स्थायी, पर सब कुछ अपने अनुभव से सीखना असम्भव, दृष्टि आलोचनात्मक हो, विवेक शक्ति का विकास करना।

बारह वर्ष तक केवल शारीरिक शिक्षा, स्वस्थ शरीर से बालक गणित व विज्ञान का आविष्कार स्वयं नहीं कर सकता, मानसिक विकास के लिए प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहना।

(७) विकास की अवस्थायें—

शैशव, बचपन, किशोरावस्था तथा युवावस्था एक दूसरे से सम्बन्धित, एक काल की आवश्यकता दूसरे से भिन्न।

(८) एक से पाँच वर्ष तक शिक्षा—

बालक कभी सुस्त नहीं, वातावरण से उसकी स्वाभाविक क्रियाओं में बाधा न हो, पहनावे चुस्त नहीं, बच्चों को दाइयों को सौंपना भूल, मस्तिष्क के पूर्ण विकास के लिये माँ का प्रेम आवश्यक, टहनियाँ, फूल-फल के साथ खेलना, समय के पहले बातचीत करना नहीं सिखाना, बुरी आदत न पड़ने पावे यही उद्देश्य।

(९) पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक शिक्षा—

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा, ज्ञानेन्द्रियाँ विवेक का आधार, कठिनाई सहने के योग्य बनाना, तैरना, कूदना, ऊँचाई, दूरी तथा तौल को नापना सिखाना, काम की शिक्षा संगीत से, समय का सदुपयोग करना नहीं वरन् खोना है।

सामाजिक बनाने के लिये सम्पत्ति तथा आचार का ज्ञान, नैतिक शिक्षा का उद्देश्य नहीं, स्वाभाविक कार्यों के फल से ही सीखना, सब कुछ अनुभव से ही सिखाना ठीक नहीं।

(१०) बारह से पन्द्रह वर्ष तक शिक्षा—

अन्वेषण में रुचि और जिज्ञासा उत्पन्न करना, प्राकृतिक विज्ञान में शिक्षा, परस्पर निर्भरता का ज्ञान कराना आद्योगिक अनुभव आवश्यक, सूर्य को देख कर समय और ऋतु का ज्ञान, पाठ्य-पुस्तकों द्वारा शिक्षा नहीं।

(११) पन्द्रह से बीस वर्ष तक की शिक्षा—

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भावनायें, सामाजिक तथा नैतिक कर्तव्यों का ज्ञान, हृदय देना, ईमानदार और बेईमान की पहचान करना, अस्पताल, अनाथालय तथा जेलखाना देख कर सामाजिक दशा का अनुमान करना, इतिहास तथा प्राचीन कथायें पढ़ाना, सभी प्रकार के मनुष्यों के सम्पर्क में आना।

(१२) स्त्री-शिक्षा—

स्त्री-पुरुष में भेद उनके विभिन्न उद्देश्यों के कारण, लड़की की शिक्षा कड़े नियन्त्रण में, पुरुष के योग्य बनाना, उसका जीवन-उद्देश्य पुरुष को सुखी बनाना, आदत डालना, स्त्रियों की निर्बलतायें स्वाभाविक, उनकी प्रवृत्ति पढ़ने-लिखने की ओर नहीं, गृह-कार्य में शिक्षा, छोटी उम्र में धर्म पढ़ाना बहुत आवश्यक नहीं, भौतिक-शास्त्र का समझना कठिन, पति के अन्याय को सहना, गाने-नाचने में प्रवीण होना, पुरुष को समझना।

(१३) 'एमील' की आलोचना—

बालक के स्वभाव की ओर आकर्षित किया, प्रकृति-अध्ययन और शारीरिक-शिक्षा

की आवश्यकता का ज्ञान; कहीं-कहीं भ्रमात्मक, असंगत तथा अतार्किक बातें, स्त्रियों के विषय में अनुदारता; अतिशयोक्तियों का फल अच्छा ही, सभी शिक्षा-सुधारकों का बीज 'एमील' में।

(१४) रूसो का प्रभाव—

बालक की शिक्षा कृत्रिम तथा आडम्बरयुक्त वातावरण में नहीं, अपनी जीविका कमाने के योग्य बनना, रूसो का अन्य शिक्षा-सुधारकों पर प्रभाव।

(१५) रूसो और वैज्ञानिक प्रगति—

रूसो और शिक्षा में वैज्ञानिक आन्दोलन।

(१६) रूसो और मनोवैज्ञानिक प्रगति—

रूसो ने मनोवैज्ञानिक प्रगति को प्रारम्भ किया, बालक को समझना आवश्यक, 'एमील' से शिक्षा के एक नये युग का प्रारम्भ, रूसो और कमेनियस।

४—रूसो के शिक्षा सिद्धान्त तथा अन्य शिक्षा-विशेषज्ञों से उनका सम्बन्ध

५—प्रकृतिवाद का प्रभाव

प्रकृतिवाद का प्रभाव तुरन्त न पड़ा।

६—बेसडो (जर्मनी, १७२३-१७९०)

(१) उसका जीवन—

'स्वानुभववादी यथार्थवादियों' की कोटि में, रूसो का अनुयायी, पेस्तॉलॉज़ी का अगुवा, प्रारम्भिक जीवन, 'एलेमेण्टरी वर्क' और 'बुक ऑव् मेथड'।

(२) 'फ़िलैनथ्रोपिनम'—

प्रारम्भिक शिक्षा के लिये, स्कूल अब भी अमनोवैज्ञानिक ढंग पर, मातृभाषा को स्थान नहीं, दीन बालकों की शिक्षा की व्यवस्था नहीं, लड़कों को युवकों की तरह पूरी पोशाक।

(३) 'फ़िलैनथ्रोपिनम' का सिद्धान्त—

रूसो की ध्वनि दुहराई, शिक्षा में वास्तविकता का होना आवश्यक, भाषा का पढ़ाना बातचीत विधि से, धार्मिक शिक्षा निष्पक्ष भाव से, प्रकृति के अनुसार पढ़ाना, हस्तकला, २४ घण्टे का कार्य-क्रम निश्चित, धनी और दीन की शिक्षा एक ही स्थान पर, शारीरिक शिक्षा, निरीक्षण शक्ति का विकास।

(४) बेसडो का स्थायी प्रभाव—

अन्य स्कूलों को प्रोत्साहन, अच्छे भवन और उपयुक्त साधन की आवश्यकता, अध्यापकों की शिक्षा, नियन्त्रण ढीला, प्रकृति अध्ययन में अधिक रुचि, परोपकार की भावना का संचार।

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—'टेक्स्ट-बुक.........' अध्याय, १०।
२—ग्रेव्ज़—'ए स्टूडेण्ट्स.........' अध्याय १९-२०।
३— ,, —'इन माडर्न टाइम्स' अध्याय २।
४— ,, —'ग्रेट एडूकेटर्स', अध्याय ७-८।
५—पार्कर एस० सी०—'हिस्ट्री ऑव् माडर्न एलेमेण्टरी एडूकेशन' अध्याय ८-१०।
६—कबरली—'हिस्ट्री.........' पृष्ठ ५३०-३३।
७—रस्क—'दी डॉक्ट्रिन्स.........' अध्याय ८।
८—उलिच—'हिस्ट्री.........' पृष्ठ—२११-२२४।
९—क्रिक—'एडूकेशनल रिफ़ॉमर्स', अध्याय १४-१५।
१०—रूसो—कनफ़ेशन्स, लेटर्स, एन्ड रीवरीज़; डिसकोर्स ऑन दी साइन्सेज़ ऐन्ड आर्ट्स, डिस्कोर्स ऑन इनक्वलिटी; द न्यू हेल्वायस, सोशल कॉन्ट्रैक्ट, एमील।
११—डेविडसन, टी०—'रूसो ऐण्ड एडूकेशन एकॉर्डिङ्ग टू नेचर'।
१२—हडसन, डब्लू० एच०—'रूसो ऐन्ड नेचरलिज़म् इन लाइफ़ ऐण्ड थॉट'।
१३—मैकडॉनॉल्ड, एफ०—स्टडीज़ इन द फ़ान्स ऑव् वॉलटेयर एण्ड रूसो', अध्याय, २, ७।
१४—मार्ले, जे०—रूसो।
१५—मनरो, जे० पी०—'दी एडूकेशनल आइडियल' अध्याय ७।
१६—बेसडो, जे० बी०—'एलेमेण्टर बर्क'।
१७—बर्नार्ड, एच०—जर्मन, टीचर्स ऐण्ड एडूकेटर्स, पृष्ठ ४८८-५२०।

१०

मनोवैज्ञानिक प्रगति

१—तात्पर्य

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रगति प्रकृतिवाद के ही कारण फैली। बचपन के प्रति लोग सहानुभूति दिखलाने लगे। शिक्षा को सफल बनाने के लिए बालक के स्वभाव, रुचि, मस्तिष्क तथा योग्यता का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा जाने लगा। मध्ययुग में प्रारम्भिक-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान न था। शिक्षकों का ध्यान माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षा की ही ओर उन्मुख था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त से मनोवैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप शिक्षा का कलेवर बदलना प्रारम्भ हुआ। अब प्राथमिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी में जितने शिक्षा-सुधारक हुए प्रायः सभी ने प्राथमिक-शिक्षा की ओर ध्यान दिया। प्रकृतिवाद से शिक्षा का उतना कल्याण नहीं हो पाया जितना कि मनोवैज्ञानिक प्रगति से। पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रकृतिवाद ही के लगाये हुये पौधे को मनोवैज्ञानिक प्रगति ने सींच कर बड़ा किया। प्रकृतिवाद शिक्षा की सभी समस्याओं पर सुचारू रूप से विचार न कर सका। इसका यह भी कारण हो सकता है कि उसके स्थान को मनोवैज्ञानिक प्रगति ने बहुत शीघ्र ही छीन लिया। प्रकृतिवाद का ध्यान विशेषकर 'बालक-स्वभाव' और 'पाठन-विधि' पर था। मनोवैज्ञानिक प्रगति ने इसको और आगे बढ़ाया। ज्ञान को किसी प्रकार से देना ही शिक्षा नहीं है। कृत्रिम और दिखावटी ढँग से दी हुई शिक्षा बच्चे पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकती। इस प्रकार सीखे हुये ज्ञान का उपयोग वे लौकिक व्यवहार में नहीं कर सकते। मनोवैज्ञानिक प्रगति पाठन-विधि को ऐसा बनाना चाहती थी कि बालक अपने आप ज्ञान सीख लें। सीखे हुये ज्ञान और उनके व्यावहारिक जीवन में सम्बन्ध हो। बालक स्कूल को वैसे ही हँसते-हँसते जायँ जैसे वे खेल के मैदान में जाते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रगति ने शिक्षा को 'आन्तरिक विकास' की स्वाभाविक-क्रिया माना। उसके अनुसार शिक्षा द्वारा सारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। अतः अमनोवैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक रीति से इस विकास में बाधा या सहायता पहुँचाई जा सकती है।

रूसो के विचार निषेधात्मक थे। मनोवैज्ञानिक प्रगति ने उसी के विचारों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया। रूसो प्रचलित प्रणाली को समूल नष्ट कर देना चाहता था। मनोवैज्ञानिक प्रगति के सूत्रधारों ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। मध्यकालीन शिक्षा को स्थित रखते हुये उसी में सुधार लाने के वे इच्छुक थे। वे प्रकृतिवाद और प्रचलित प्रणाली में एक प्रकार का समझौता करना चाहते थे। पर वे पूर्णतया इसमें सफल न हो सके क्योंकि नई प्रणाली के व्यवस्थापन में पुरानी प्रथा को नष्ट करना अनिवार्य ही था। यही कारण है कि प्रारम्भ में पेस्तॉलॉज़ी ऐसे त्यागी पर भी अविश्वास किया गया और उसे अनेक कष्ट भोगने पड़े। नये सुधारकों ने पाठन-विधि के परिवर्त्तन पर अधिक बल दिया। अतः हम उन्हें प्रचलित प्रणाली का विरोधी ही पाते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रगति को उस समय के दर्शन-शास्त्र तथा विज्ञान की लहर से बहुत प्रोत्साहन मिला। इन क्षेत्रों के विचारकों ने भी बालक की रुचि, स्वभाव तथा योग्यता पर ध्यान दिया। वे भी शिक्षा का उद्देश्य बालक की आन्तरिक शक्तियों का विकास समझते थे। स्कूल में बच्चे की कार्यशीलता पर पहले से अधिक बल दिया गया। इस प्रकार दार्शनिक और वैज्ञानिक आन्दोलनों से मनोविज्ञान के सिद्धान्त और स्पष्ट हो गये। सत्तरहवीं शताब्दी में स्वानुभववादी यथार्थवाद के आन्दोलन से मानसिक और शारीरिक विकास का भेद कुछ स्पष्ट हो गया था। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा का भी महत्त्व लोगों को स्पष्ट हो चला था। वैज्ञानिकों और दार्शनिकों को यह विश्वास होने लगा कि मनुष्य के मस्तिष्क के सम्बन्ध में अन्य बातों का भी पता लगाया जा सकता है और उनके पूर्ण अध्ययन पर यदि शिक्षा की व्यवस्था की जाय तो वह अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। इन विचारों से मनोवैज्ञानिक प्रगति के प्रतिनिधि पेस्तॉलॉज़ी, फ्रोबेल तथा हरबार्ट को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इन्होंने अपने विचारों का प्रसार इस प्रकार किया कि सार्वलौकिक शिक्षा के सूर्योदय की आशा लोगों को होने लगी।

२—पेस्तालॉज़ी (१७४६-१८२७)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

पेस्तॉलॉज़ी का जन्म ज़ूरिच में हुआ था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने से इसके पालन-पोषण का भार भाई तथा माता पर पड़ा। रूसो तथा लॉक से उसका बचपन अधिक सुखी था। स्कूल में उसका उपहास करने के लिये उसे हैरी ओडिटी (भोंदू) पुकारते थे। पर अपने सरल

स्वभाव से उसने सहपाठियों तथा अध्यापकों को वशीभूत कर लिया। गाँव के स्कूल में शिक्षा पाने के बाद उसने स्विट्जरलैण्ड के एक विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। परन्तु उसकी विश्वविद्यालय की शिक्षा सफल न हो सकी। पेस्तॉलॉज़ी आध्यात्म-विद्या में प्रारम्भ से ही रुचि रखता था। वह महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसकी प्रवृत्ति सुधार की ओर थी। किसानों के कष्ट से वह द्रवीभूत हो जाता था। बाइस वर्ष की उम्र में पढ़ाई-लिखाई छोड़ उसने किसान बनना निश्चय किया। वह किसानों की दशा सुधारना चाहता था। वह शिक्षा को ही सुधार का सबसे बड़ा साधन समझता था। पेस्तॉलॉज़ी शिक्षा की परिभाषा यों करता है—"शिक्षा का अर्थ पुस्तकीय शिक्षा नहीं जो वे नहीं, जानते उसे बतलाना नहीं है वरन् जैसा वे व्यवहार नहीं करते वैसा व्यवहार करना सिखाना है।" पेस्तॉलॉज़ी आदर्श किसान बनना चाहता था। १७६९ ई० में ऋण लेकर उसने खेत खरीदा और खेती करने लगा। इसके बाद ही अनाशुल्येस से विवाह कर 'न्यूहॉफ़' में रहने लगा। पेस्तॉलॉज़ी खेती करने में सफल न हो सका। अतः उसने शिक्षा द्वारा समाज की सेवा करना निश्चय किया। १७७४ ई० में उसने किसानों के बीस लड़कों को अपने घर पर रखकर पढ़ाना प्रारम्भ किया। उसका विश्वास था कि यदि बच्चे जान जाँय कि उनका आदर किया जाता है तो वे अपना सुधार स्वयं कर सकते हैं। उन्हें बड़े को ही नहीं वरन् स्वयं अपने को भी आदर करना सिखाना है। उन्हें ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि वे स्वयं ही अपनी कुछ सहायता कर सकें—अपनी जीविका अपने आप कमा सकें। पेस्तॉलॉज़ी उन बालकों को पुत्र समझता था। वह उनके साथ बागीचे और खेतों में काम किया करता था। उसका विश्वास था कि पढ़ने-लिखने के पहले बातचीत सीखना अधिक आवश्यक है। अतः वह दैनिक जीवन के विषयों पर बालकों को बातचीत करने और बोलने के लिये उत्साहित किया

पेस्तॉलाज़ी

करता था। उनसे बाईबिल के कुछ वाक्यों को तब तक दुहरवाता था जब तक वे याद न हो जायँ। थोड़ी ही समय में इन बालकों को बड़ा लाभ हुआ। वे स्वस्थ्य हो गये। पेस्तॉलॉज़ी बच्चों को पढ़ा सकता था पर उनके माता-पिता को नहीं। उनके माता-पिता को ऐसा अनुमान हुआ कि पेस्तॉलॉज़ी बालकों को अपने साथ रखकर अपना कार्य करवाता है और स्वयं लाभ उठाता है। उन्होंने अपने बालकों को वापस बुला लिया। पेस्तॉलॉज़ी अच्छा प्रबन्धक न था। उसे इस प्रयोग में बड़ा घाटा हुआ। १७८० ई० में उसे स्कूल बन्द कर देना पड़ा। वह अपनी सारी सम्पत्ति खो बैठा। अठारह वर्ष तक वह दीनता का घोर कष्ट भोगता रहा। परन्तु वह आशावादी था। भाग्यवश गरट्रूड नामक स्त्री उसकी सहायता करने आ गई। वह पढ़ी लिखी न थी परन्तु पेस्तॉलॉज़ी के सभी विचारों को उसने सरलता से समझ लिया। लोगों के कहने पर पेस्तॉलॉज़ी किताबें लिखने की ओर प्रवृत्त हुआ। उसने सबसे पहले 'इवनिङ्ग ऑवर आव् ए हरमिट' लिखी। पर पुस्तक प्रसिद्ध न हो सकी। इसके बाद 'ल्योनार्ड ऐण्ड गरट्रूड' नामक पुस्तक लिखी। इसमें उसने अपने शिक्षा-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस पुस्तक ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इसके बाद १७८२ ई० में "क्राइस्टोफ़र ऐण्ड एलिज़ा," १७६७ ई० में "इनक्वायरी इन्टू द कोर्स ऑव् नेचर इन द डेवलपमेण्ट ऑव् द ह्यूमन रेस" और 'फेबुल्स' लिखी। १७८२ ई० में उसने एक 'स्विस जर्नल' नाम की पत्रिका का भी सम्पादन किया। पर ग्राहकों की कमी से फ्रेंच डाइरेक्टरों ने उसे बन्द कर दिया। १७६८ ई० में उसे 'आर्गो' में स्कूल खोलने की आज्ञा मिली। पर थोड़े ही दिनों में उसे 'स्टेंज़' में स्कूल खोलने का आदेश मिला। पाँच महीने के बाद ही इसे यह स्थान छोड़ देना पड़ा क्योंकि स्कूल भवन में सरकार की ओर से एक अस्पताल खोल दिया गया। इसके बाद पेस्तॉलॉज़ी ने वर्गडॉर्फ़ में स्कूल खोला। उसके सहयोगियों की सहायता से धीरे-धीरे यह स्कूल बहुत बढ़ गया। शिक्षकों की शिक्षा के लिये भी यहाँ व्यवस्था कर दी गई है। तीन साल तक यह स्कूल बड़ी सफलता पूर्वक चलता रहा। सरकारी आज्ञा से यह स्कूल वर्गडॉर्फ़ से हटा कर म्यून्शेनबूशी में कर दिया गया। इसकी अध्यक्षता पेस्तॉलॉज़ी के मित्र फैलेनवर्ग को दे दी गई। पेस्तॉलॉज़ी ने अब 'वरडन' में दूसरा स्कूल खोला। यह बहुत प्रसिद्ध हुआ। दूर-दूर से शिक्षक अध्यापन-कला सीखने के लिये यहाँ आने लगे। कार्लवॉन रोमन, फ्रोबेल और हरबार्ट ने भी यहाँ कुछ दिन रह कर अध्यापन कला सीखी। पर आपस में मतभेद हो जाने से

'बुरडन' स्कूल को १८२४ ई० में बन्द कर देना पड़ा। इसके बाद क्लिण्डी में पेस्तॉलॉज़ी ने दूसरा स्कूल खोला। १८१५ ई० में पेस्तॉलॉज़ी की पत्नी का स्वर्गवास हो चुका था। इसका उसे बड़ा धक्का लगा क्योंकि उसने पति के आदर्शों को पूरा करने के लिये अपने जीवन का सारा सुख त्याग दिया था। अन्ततः १८२७ ई० में पेस्तॉलॉज़ी भी इस संसार से चल बसा।

(२) उसके शिक्षा-सिद्धान्त—

पेस्तॉलॉज़ी लोगों को दीनता और नीचता से बचाने के लिये कोई साधन ढूँढ़ना चाहता था। शिक्षा से ही उसे उनके सुधार की आशा थी। उसका विश्वास था कि दीन बालकों में भी अनेक ऐसे गुण हैं जो शिक्षा द्वारा विकसित किये जा सकते हैं। पेस्तॉलॉज़ी के समय की सामाजिक दशा अच्छी न थी। अज्ञानता, दरिद्रता और नीचता चारों ओर व्याप्त थी। शिक्षा का ठीक तात्पर्य किसी की समझ में नहीं आता था। बालकों को दूसरे के अनुभव का ज्ञान कराया जाता था। उनके व्यक्तित्व-विकास की कहीं चर्चा ही न थी। आन्तरिक शक्तियों का विकास न कर व्यर्थ के ज्ञान को उनके मस्तिष्क में ठूँसने की चेष्टा की जाती थी। पेस्तॉलॉज़ी शिक्षा द्वारा मनुष्य को मनुष्य बनाना चाहता था। उसने लिखा है—"'शब्द ज्ञान' के स्कूल हैं, 'लिखने' के स्कूल हैं, 'वादविवाद' के स्कूल हैं पर हमें तो 'मनुष्य के स्कूल' की आवश्यकता है।" उसका विश्वास था कि "प्रकृति मनुष्य की शक्तियों को अभ्यास से विकसित करती है और प्रयोग से बढ़ाती है।" महत्त्वाकांक्षी होने से उसे मनुष्य की आवश्यकताओं और इच्छाओं का सदा ध्यान रहा। इसके लिए वह शरीर और मस्तिष्क में एक निकट सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। शिक्षा और व्यवसाय को एक साथ रख कर वह स्कूलों में व्यावहारिकता का समावेश करना चाहता था। बालकों को कुछ प्रारम्भिक बातों का ज्ञान कराके ही वह उन्हें आगे बढ़ाना चाहता था। "यदि हम दीनों की सहायता करना चाहते हैं तो उसका एक ही साधन है और वह है स्कूलों को शिक्षा का सच्चा स्थान बनाना। ईश्वर प्रदत्त नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों का विकास करना है जिससे मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत कर सके।.........योरोप के सार्वजनिक स्कूल रूपी गाड़ी में केवल अच्छा घोड़ा ही नहीं लगाना है वरन् उसे एक नई सड़क पर भी लाना है।" * पेस्तॉलॉज़ी का मानव-स्वभाव में पूर्ण विश्वास था। उसे मानवता का अंश प्रत्येक व्यक्ति में दिखलाई पड़ता था। अच्छे बनने की

*—मॉर्क-पेस्तॉलॉज़ी, १—पृष्ठ २११

प्रवृत्ति उसे सब में दिखलाई पड़ती थी। उसकी समझ में केवल मार्ग-प्रदर्शन ही पर्याप्त था। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सभी शक्तियों का 'अनुरूप विकास' था। उसने प्रचलित शिक्षा के उद्देश्य को एकदम बदल दिया। उसने बतलाया कि स्कूल का उद्देश्य पढ़ाना नहीं वरन् विकास करना है। अतः 'बालकों का महत्त्व' सबसे अधिक समझना चाहिये। विकास में प्रारम्भिक स्थिति पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। "अपनी शक्तियों के उचित विकास का प्रत्येक को अधिकार है।" जिनके ऊपर बच्चों का उत्तरदायित्व है उनका इस पर ध्यान देना कर्तव्य है। बालक की स्वाभाविक शक्तियों के विकास के अनुकूल ही शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये। जैसे प्रकृति में सभी वस्तुएँ एक क्रम से बनती हैं उसी प्रकार बालकों की शिक्षा में भी एक क्रम से बढ़ने का आयोजन होना चाहिये।

बालकों में स्नेह, भय, आदर और सहानुभूति का भाव उत्पन्न करने के लिये हमें स्वयं उनसे स्नेह करना चाहिए। शिक्षा का सिद्धान्त पढ़ाना नहीं अपितु प्यार करना है। "बालक 'सोचने' और 'करने' के पहले 'प्यार' और 'विश्वास' करता है। जैसे वृक्ष बिना जड़ के नहीं बढ़ सकता उसी प्रकार बालक बिना 'विश्वास' और प्रेम के नहीं बढ़ सकता।" शिक्षा देने के पहले शिक्षक को यह निश्चित कर लेना चाहिये कि बालक के पास है क्या। बालक का केवल विकास ही नहीं करना है वरन् यह भी पता लगाना है कि ईश्वर उसे क्या बनाना चाहता था—अर्थात् उसकी विभिन्न सम्भावनाओं को भली-भाँति से पहचानना है। "हमें केवल रोटी की ही आवश्यकता नहीं है, प्रत्येक बालक अपना धार्मिक विकास भी चाहता है। वह जानना चाहता है कि विश्वास और प्रेम से ईश्वर की कैसे प्रार्थना करनी चाहिये।" यदि बालक की शिक्षा में इस पर ध्यान न दिया गया तो उसका विकास अधूरा ही रह जायगा। पेस्तॉलॉज़ी कहता है—"जो बालक प्रारम्भ से ही 'प्रार्थना करने' 'सोचने' और 'काम करने' में अभ्यस्त हो गया उसकी आधी शिक्षा हो चुकी।" इस प्रकार पेस्तॉलॉज़ी का शिक्षा-उद्देश्य व्यावहारिक, नैतिक तथा सामाजिक तथ्यों के निकट आता है।

(३) 'ऑन्स्वॉङ्ग'—

पेस्तॉलॉज़ी बच्चों को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहता था। अतः वह चाहता था कि वे ज्ञान का अन्वेषण स्वयं करें। दूसरे के प्रमाण और अनुभव को मान कर वे चुप न बैठ जाएँ। यह ज्ञान दूसरे के अनुभव पर बातचीत करने

से नहीं मिल सकता वरन् स्वयं सोचने से मिलेगा। यदि बालक प्रेम का अनुभव करना चाहता है तो अध्यापक को उसे प्रेम करना सिखाना चाहिये। वह प्रेम का अनुभव 'प्रेम' पर व्याख्यान सुनने से नहीं कर सकता। इसी प्रकार 'विश्वास' विश्वास करने से होता है तर्क, करने से नहीं। पेस्तॉलॉज़ी शिक्षा को मानसिक विकास के क्रम के अनुसार व्यवस्थित करना चाहता था। अतः उसके लिये यह स्वाभाविक था कि वह एक नई पाठन-विधि का आविष्कार करता। पेस्तॉलॉज़ी का शिक्षा-क्षेत्र में महत्त्व इस नई पाठन-विधि के विकास पर ही प्रायः माना जाता है। उसकी पाठन-विधि का सार 'स्वानुभूति' है अर्थात् यदि हमें किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है तो उसे अपने अनुभव से प्राप्त करना चाहिये। पेस्तॉलॉज़ी के इस सिद्धान्त को 'ऑन्श्वॉङ्ग' या 'स्वानुभूति' कहते हैं। सभी ज्ञानेन्द्रियों से स्वयं प्राप्त अनुभव स्वानुभूति के अन्तर्गत आ जाते हैं, जैसे 'देखा हुआ', 'सुना हुआ', सूँघा हुआ', 'स्पर्श किया हुआ' अथवा 'चखा हुआ'। पेस्तॉलॉज़ी के समय में मनोविज्ञान का विकास बहुत ही अधूरा था। मनुष्य की मानसिक क्रियाओं को लोग अच्छी प्रकार नहीं समझ पाते थे। अतः आश्चर्य नहीं कि पेस्तॉलॉज़ी केवल 'संख्या', 'आकृति' और 'नाम' को ही स्वानुभूति का सारभूति मानता है। पेस्तॉलॉज़ी कहता है कि प्रारम्भिक शिक्षा का आधार आकृति, संख्या और नाम ही बनाया जा सकता है क्योंकि बालक पहले वस्तु को देखकर उसकी आकृति पहचानेगा फिर उसकी संख्या की ओर उसकी दृष्टि जायगी तत्पश्चात् भाषा की सहायता से उसका नामकरण करेगा। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार पढ़ाना बड़ा लाभप्रद होगा। पेस्तॉलॉज़ी कहता है कि यदि हम इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देंगे तो पहले हमें बच्चों को 'गिनना', 'नापना' तथा 'बोलना' सिखाना होगा। अपने से ज्ञान प्राप्त करने के लिये ये विधियाँ आधार स्वरूप हैं।

पेस्तॉलॉज़ी अपने सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करना चाहता है। केवल 'संख्या', 'आकृति' तथा 'नाम' ही क्यों ज्ञान के आधारभूत हैं? इन्हीं को क्यों चुना गया? क्योंकि प्रायः जानने योग्य सभी वस्तुएँ इन तीनों आधार के अन्तर्गत आ जाती हैं। बच्चों के पढ़ाने के योग्य वस्तुओं के विशिष्ट गुण 'संख्या', 'आकृति' अथवा 'नाम' द्वारा स्पष्ट किये जा सकते हैं। रस्क पेस्तॉलॉज़ी के इन सिद्धान्तों से सहमत नहीं। उसके अनुसार संख्या, आकृति और नाम ज्ञान के आधारभूत नहीं है क्योंकि 'आकृति' और 'संख्या' का ज्ञान मानसिक क्रियाओं के बाद ही होता है। पेस्तॉलॉज़ी के सिद्धान्त में केवल स्थान-

सम्बन्धी वस्तुओं का ही उल्लेख है। वह वस्तुओं की 'गति' तथा 'परिवर्त्तन' को भूल जाता है। तथापि रस्क पेस्तॉलॉज़ी को प्रशंसा के योग्य बतलाता है क्योंकि उसने प्रत्येक प्रारम्भिक विषय के लिये एक आधार मान कर ज्ञान प्राप्ति के लिये 'स्वानुभूति' को ही ठीक समझा।

(४ शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना—

पेस्तॉलॉज़ी अपने 'ऑन्श्वॉङ्ग के सिद्धान्तानुसार शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता था। उसने कहा, "मैं शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता हूँ—अर्थात् मनुष्य की बुद्धि जिस प्रकार बढ़ती है उसी के आधार पर मैं शिक्षा देना चाहता हूँ।" हम देख चुके हैं कि अपने विद्यार्थियों की हेय सामाजिक स्थिति के कारण ही पेस्तॉलॉज़ी को शिक्षा में व्यावहारिकता लानी पड़ी। वह बालकों को साथ ही साथ कुछ व्यावहारिक शिक्षा भी देना चाहता था। फलतः बालक के स्वभाव और मस्तिष्क का उसे कुछ ज्ञान हो गया था। शिक्षा को व्यावहारिक बनाने के साथ ही साथ उसने उसमें निरीक्षण और प्रयोग की विधि का भी समावेश किया। प्रारम्भिक शिक्षा को वह स्वानुभव से प्राप्त ज्ञान पर आधारित करना चाहता था। इस प्रकार उसने शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रगति लाने का प्रयत्न किया। पेस्तॉलॉज़ी की विधि में कुछ दोष अवश्य था, उसमें क्रमबद्धता न थी तथापि उसकी विधि की उपयोगिता छिपी न रही। पेस्तॉलॉज़ी के जीवन चरित्र लेखक मार्फ ने उसके पाठन सिद्धान्तों को इस प्रकार क्रमबद्ध किया है—

१—निरीक्षण शिक्षा का आधार है अर्थात् बालक को वस्तु का ज्ञान स्वयं प्राप्त करना चाहिये।

२—विद्यार्थी जो कुछ देखता या अनुभव करता है उसका भाषा से सम्बन्ध होना चाहिये।

३—सीखने के समय निर्णय तथा आलोचना नहीं करनी चाहिये।

४—शिक्षा का प्रारम्भ सरल से सरल तत्व को लेकर होना चाहिए। फिर धीरे-धीरे बालक के विकास के अनुसार क्रमशः उसको आगे बढ़ाना चाहिए। सबका एक मनोवैज्ञानिक क्रम होना चाहिये।

५—एक बात समझा देने के बाद कुछ रुक जाना चाहिए जिससे बालक भली-भाँति सब कुछ समझ ले। जब तक पाठ का ठीक से बोध न हो जाय तब तक आगे नहीं पढ़ाना चाहिये।

६—जिस प्रकार विकास का एक क्रम होता है उसी प्रकार अध्यापन

का भी एक क्रम होना चाहिए। शिक्षा भाषण अथवा उपदेश के रूप में नहीं देनी चाहिये।

७—बालक का व्यक्तित्व पवित्र है। अध्यापक का सारा प्रयत्न बालक के विकास की ओर ही केंद्रित होना चाहिए। वह ऐसी बात न कहे जिससे बालक की कोमल भावनाओं पर किसी प्रकार का आघात पहुँचे।

८—प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य बालक को ज्ञान अथवा कौशल देना नहीं है। उसका उद्देश्य तो मानसिक शक्तियों का विकास करना है।

९—ज्ञान से शक्ति आनी चाहिए और जानकारी से कौशल।

१०—स्कूल का वातावरण प्रेममय होना चाहिए अर्थात् अध्यापक और विद्यार्थी का सम्बन्ध एक दूसरे के प्रति प्रेम और आदर का हो।

११—शिक्षा के उच्च उद्देश्य के अनुसार ही अध्यापन की व्यवस्था करनी चाहिए।

१२—नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा का आधार माता और बालक के सम्बन्ध में मिल सकता है।

पेस्तॉलॉज़ी पढ़ने और लिखने को सरल से सरल बनाना चाहता था। इसके लिये उसने 'ऑन्श्वॉङ्ग' के सिद्धान्त के अनुसार हर एक बात को एक दूसरे से क्रमबद्ध कर दिया। अतः लिखना और चित्र खींचना सीखने के लिए आकृति के भिन्न-भिन्न अंगों में पहले अभ्यास कराया जाता था। फिर उन अंगों के योग से वस्तु की आकृति समझाई जाती थी। इस विधि के निर्माण में स्वयं पेस्तॉलॉज़ी विशेष सफल न हो सका। उसके सहयोगी 'बस' ने इसको कार्यान्वित किया। सीधी, तिरछी और टेढ़ी आकृतियों का ज्ञान श्यामपट्ट पर छड़ी अथवा किसी टेढ़ी वस्तु का आकार खींच कर कराया जाता था। वस्तु को बालकों को दिखलाकर उसकी आकृति खींची जाती थी। इसके बाद बालकों को स्वयं इन आकृतियों को खींचना पड़ता था। आकृति के विभिन्न अंगों को मिलाकर उन्हें वास्तविक आकृति बनानी पड़ती थी।

(५) अङ्कगणित का पढ़ाना—

चौसठ में आठ कितनी बार मिला हुआ है यह समझाने के लिये चौसठ छोटी-छोटी वस्तुओं को बटोर कर उन्हें आठ-आठ की संख्या में अलग-अलग रख दिया जाता था। फिर बालक से प्रश्नों द्वारा ठीक उत्तर निकलवा लिया जाता था। संख्या का ज्ञान कराने के लिये लड़की के तख्ते पर सौ चोकोर खाने खींच दिये जाते थे। फिर उन्हीं से ईकाई, दहाई तथा विभिन्न संख्याओं का ज्ञान

कराया जाता था। ऊँगलियों तथा पत्थर की टुकड़ियों की सहायता से जोड़ना और घटाना सिखलाया जाता था। कुछ वस्तुओं को उनके सामने रख कर पूछा जाता था, "इसमें यह कितनी बार मिला हुआ है?" बालक देखकर गिनता था और ठीक-ठीक उत्तर दे देता था। बालकों को ठीक-ठीक निरीक्षण करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता था जिससे उन्हें विषय का ज्ञान भली-भाँति हो जाय। भिन्नों की एक मनोवैज्ञानिक 'तालिका' की सहायता से अङ्कगणित सरलता से पढ़ाई जाती थी। बड़े-बड़े समकोण चतुर्भुजों को आठ अथवा दस भागों में विभाजित कर बालकों को पूर्णाङ्क और उसके अंशों के सम्बन्ध को समझाया जाता था। इस प्रकार की पाठन-विधि में प्रचलित प्रथा से पेस्तॉलॉजी बहुत आगे था। इसको उसके सहयोगी 'क्रुसी' और 'शिड' ने और भी परिष्कृत किया। सारा कार्य प्रायः मौखिक होता था। इससे बालकों को गिनने का अच्छा अभ्यास हो जाता था।

(६) ज्यामिति में शिक्षा—

ज्यामिति सीखने में बालकों को समकोण चतुर्भुज, चतुर्भुज, वृत्त, खड़ी या पड़ी रेखा, सामानान्तर रेखायें तथा विभिन्न कोण अध्यापक के बताने पर स्वयं खींचने पड़ते थे। इस प्रकार पुस्तक की परिभाषा का 'रटाना' निकाल दिया गया। बालक अपनी अभ्यास-पुस्तक में आकार खींच कर उसकी परिभाषा स्वयं लिख लिया करते थे। कभी-कभी वे कागज को काट कर आकृति का नमूना भी बना लेते थे। इस प्रकार ज्यामिति का अध्ययन बहुत मनोरंजक बना दिया गया।

(७) प्रकृति-अध्ययन, भूगोल व इतिहास—

प्रकृति अध्ययन, भूगोल तथा इतिहास में भी निरीक्षण-विधि का ही प्रयोग किया गया। वातावरण के भौगोलिक ज्ञान के लिये बालकों को घूमने को भेज दिया जाता था। घाटियों और छोटी-छोटी पहाड़ियों को देखने के बाद मिट्टी से उनका नमूना बनाने के लिये उत्साहित किया जाता था। पेड़ों, फूलों और चिड़ियों को ध्यानपूर्वक देखा जाता था। कभी-कभी उनका आकार भी खींचा जाता था। अपने-अपने अनुभव को बच्चे अध्यापक के सामने एक दूसरे से कहते थे। संगीत से पेस्तॉलॉजी का विशेष परिचय न था। इसलिये उसको सफलतापूर्वक वह मनोवैज्ञानिक ढंग पर न ला सका। इस सम्बन्ध में उसके मित्र 'नगेली' ने उसकी सहायता की। नगेली ने संगीत के विभिन्न स्वरों को उनके प्राथमिक अंशों में विभाजित कर एक में क्रम-बद्ध कर दिया।

(८) नैतिक और धार्मिक शिक्षा—

नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा में भी पेस्तॉलॉज़ी स्पष्ट उदाहरणों द्वारा बालकों में 'विवेक' का विकास करना चाहता था। पेस्तॉलॉज़ी का विश्वास था कि माता के प्रेम, प्रश्नोत्तर तथा सिद्धान्त के निरूपण से बालकों में ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है। स्वार्थ-त्याग, आज्ञा-पालन तथा कर्तव्य का पाठ पढ़ाने के लिये उनकी इच्छाओं की पूर्ति तुरन्त नहीं कर देनी चाहिये। उन्हें इसके लिये प्रतीक्षा करने का अवसर देना चाहिये जिससे वे समझें कि उन्हीं की इच्छा संसार में सर्वोपरि नहीं है।

(९) प्रत्यक्ष पदार्थों की सहायता से शिक्षा—

पेस्तॉलॉज़ी चाहता था कि वस्तु का अनुभव कर बालक उसका वर्णन स्वयं कर सके। वह प्रत्यक्ष पदार्थों की सहायता (ऑब्जेक्ट टीचिङ्ग) से शिक्षा देना चाहता है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

अध्यापक—बच्चो ! मेरे हाथ में तुम क्या देख रहे हो ?

उत्तर—हम आप के हाथ में एक पेन्सिल देख रहे हैं।

अध्यापक—बहुत ठीक, अब जो मैं कहता हूँ उसे दुहराओ।

"मैं हाथ में एक पेन्सिल देख रहा हूँ।"

"मैं हाथ में एक हरी पेन्सिल देख रहा हूँ।"

"पेन्सिल से मैं कागज पर लिख रहा हूँ।"

"पेन्सिल से मैं पीले कागज पर लिख रहा हूँ।"

"पेन्सिल से मैं तुम्हारा नाम लिख रहा हूँ।"

"पेन्सिल से मैं तस्वीर खींच रहा हूँ।"

"पेन्सिल से मैंने एक भालू का चित्र बनाया।"

प्रत्यक्ष पदार्थों की सहायता के कारण मौखिक शिक्षा को पहले से अधिक महत्त्व दिया गया। अब बालकों को शाब्दिक ज्ञान देना ही उद्देश्य नहीं रहा। उन्हें पढ़ाई हुई वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान देना आवश्यक समझा गया। पुस्तकीय शिक्षा का महत्त्व घट गया। अध्यापक पहले से अधिक क्रियाशील हो गये। वे एक समय एक ही बालक को न पढ़ाकर कई बालकों के समूह को साथ ही पढ़ा सकते थे। पहले बालकों को बोलने का अभ्यास नहीं कराया जाता था। मौखिक प्रणाली के समावेश से उनका इसमें अभ्यास बढ़ने लगा। परन्तु इसका प्रभाव आगे चलकर अच्छा न हुआ। अध्यापक केवल बालकों के अनुभव पर प्रश्न किया करते थे। वस्तु के बारे में स्वयं कुछ बताने

की प्रवृत्ति घट गई। मौखिक शिक्षा को प्रधानता देने के कारण पुस्तकों का महत्त्व बहुत घट गया। लड़के अध्यापक के शब्द को ही पुस्तक का सा महत्त्व देने लगे। वे पुस्तकों का प्रयोग करना न सीख सकें।

(१०) विश्लेषण और संश्लेषण—

पेस्तॉलॉज़ी चाहता था कि बालकों के शब्द-चयन की वृद्धि क्रमबद्ध रूप में हो जिससे वे अपने अनुभवों को अच्छी प्रकार व्यक्त कर सकें। शिक्षा इस प्रकार देनी चाहिये कि बालकों के मस्तिष्क में विचारमाला का एक क्रम हो। बालक की मानसिक क्रियाओं को वह बहुत महत्त्व देता था। उसने भाषा में शिक्षा देने के लिये अंकगणित की भी सहायता ली। पेस्तॉलॉज़ी समझता था कि अध्यापक के विश्लेषण कर देने से बालक विभिन्न अंगों को भली-भाँति सीख लेंगे। उसके अनुसार अंगो का संयोग करना तो विद्यार्थी का कार्य है। वस्तु के छोटे से छोटे अंग का विश्लेषण कर बालकों को पढ़ाना पेस्तॉलॉज़ी के अनुसार शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना था।

(११) शक्तियों के विकास से चार अभिप्राय—

पेस्तॉलॉज़ी शक्तियों के विकास को चार दृष्टिकोण से देखता है। वह कहता है कि स्वाभाविक प्रवृत्ति का दिखलाई देना ही किसी शक्ति का द्योतक है। जन्म लेते ही शिशु चल और बोल नहीं सकता, कुछ दिन के बाद ही वह यह सीखता है। समय के पहले कुछ सीखना उसके लिये हानिकारक है। रूसो कहता है—"बिना स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रगट हुये बालक को चलना सिखाना लाभ के बदले हानि पहुँचाना है।" वह पहले बालक को प्राकृतिक वातावरण में रखकर उसमें जिज्ञासा उत्पन्न करता है। इन जिज्ञासाओं के समाधान में अध्यापक की सहायता ही शिक्षा है। इस सिद्धान्त से सहमत होकर बालक को किशोरावस्था के पहले इतिहास पढ़ाना पेस्तॉलॉज़ी ने अमनोवैज्ञानिक समझा। विकास की दूसरी स्थिति 'स्वाभाविक प्रौढ़ता' है। बालक की बोलने की शक्ति स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे बढ़ती है। विकास की तीसरी स्थिति 'शिक्षा' में है। शिक्षा द्वारा बालक की किसी भी शक्ति का विकास किया जा सकता है। विकास की चौथी स्थिति सभी शक्तियों की साधारण प्रौढ़ता में है। शिक्षा द्वारा शारीरिक, नैतिक तथा बौद्धिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। शक्तियों के विकास का यह विश्लेषण बहुत ही हितकर सिद्ध हुआ। उस समय की प्रचलित पाठ्य-वस्तु के संकुचित होने के कारण विभिन्न शक्तियों के अनुरूप विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता

था। पेस्तॉलॉज़ी के इस विश्लेषण से सबको विश्वास होने लगा कि शिक्षा से किसी भी शक्ति का विकास किया जा सकता है। परन्तु अपने 'अनुरूप विकास' के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने में पेस्तॉलॉज़ी ने कुछ अव्यावहारिक वस्तुओं में बालकों का अभ्यास कराया। यह प्रगति हानिकर सिद्ध हुई। वह प्रत्येक बालक को सभी विषय पढ़ाना चाहता था। उसकी विशेष योग्यता की ओर उसका ध्यान न था। फलतः उसके लिये यह भूल जाना स्वाभाविक था कि बालक के लिये विषय का सामाजिक मूल्य क्या होगा। अध्यापक के कहे हुये शब्दों को दुहराने में बालकों को बड़ा आनन्द आता था और उन्हें सरलता से विषय का ज्ञान भी हो जाता था। इस विधि को पेस्तॉलॉज़ी अपने 'ऑन्श्वॉङ्ग' सिद्धान्त का विरोधी नहीं मानता था क्योंकि विद्यार्थी इस प्रकार सीखे हुये ज्ञान का प्रयोग करके दिखला भी सकता था। पेस्तॉलॉज़ी ने पाठ्य-वस्तु को एकदम बदल दिया। प्रारम्भिक कक्षाओं में केवल पढ़ना-लिखना, अंकगणित तथा लैटिन व्याकरण न पढ़ा कर भाषा, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, संगीत तथा आचरण-शिक्षा को भी स्थान दिया गया। पेस्तॉलॉज़ी का पक्का विश्वास था कि किसी भी विषय का यदि सूक्ष्मतम विश्लेषण कर लिया जाय तो उसे बालक को बड़ी सरलता के साथ पढ़ाया जा सकता है। उसके इस विश्वास का मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। इसी के कारण वह शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बना कर स्कूल की कायापलट कर सका।

(१२) 'स्कूल प्यार का घर'—

यदि बालक की शक्तियों का अनुरूप विकास अपेक्षित है तो अध्यापक को उसके स्वभाव का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। जब तक बालक की इच्छा, आवश्यकता और योग्यता का ज्ञान न होगा तब तक शिक्षा का उचित आयोजन नहीं किया जा सकता। यदि अध्यापक बालकों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता तो उसका सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। स्कूलों के कड़े नियन्त्रण को देख कर पेस्तॉलॉजी बड़ा क्षुब्ध हुआ। वह बालक को ईश्वर का अंश समझता था। उसके भोलेपन वह द्रवीभूत हो जाता था। उसका विश्वास था कि 'स्नेह की दृष्टि' ही बालकों को ऊँचा उठा सकती है। उसका कहना था—"बालकों को पढ़ाना नहीं वरन् प्यार करना सिखाना है।" स्कूल को वह 'प्यार का घर' बनाना चाहता था। एक बार किसी विद्यार्थी का पिता पेस्तॉलॉजी का स्कूल देखने आया। स्कूल को देख कर उसने कहा—यह तो स्कूल नहीं, एक परिवार है।" पेस्तॉलॉज़ी ने उत्तर दिया—"यही तुम मुझे

सबसे बड़ी प्रशंसा दे सकते हो—ईश्वर तुझे धन्यवाद है कि मैं संसार को यह दिखला सका कि स्कूल और घर में अन्तर नहीं है।" पेस्तॉलॉज़ी चाहता था कि शिक्षक और शिष्य में पिता-पुत्र जैसा प्रेम हो। जैसे पिता पुत्र का शारीरिक, नैतिक एवं मानसिक विकास चाहता है उसी प्रकार शिक्षक को भी शिष्य के विकास में कुछ न उठा रखना चाहिये। स्कूल का वातावरण घर जैसा हो। जैसे घर में बालक निर्भय इधर-उधर घूमा करता है और आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार स्कूल में भी वह आनन्द से रहे। स्कूल जाते समय वह दुःखी न हो वरन् प्रसन्न रहे। स्कूल का वातावरण कृत्रिम न हो। नहीं तो बालक का आचरण भी आडम्बरपूर्ण हो जायगा। शिक्षक को उपदेशक नहीं बन जाना है। उसे बालक को भय दिखला कर कुछ न पूछना चाहिये। वह यह न कहे "अरे! तुम्हारा नख, मुँह, दाँत तो बड़ा गन्दा है!!! अरे! तुम्हारी आँखें कितनी गन्दी है। देखें तो तुम्हारे हाथ, उँगली, कान और नाक,—आदि।" इसकी अपेक्षा यदि वह यह कहे तो अधिक स्वाभाविक होगा—"बच्चे यहाँ आओ, मैं तुम्हारा नख व मुख स्वच्छ कर दूँ; यहाँ आओ मैं तुम्हारे बाल ठीक कर दूँ।" स्कूल में प्यार का भाव ले आने के कारण पेस्तॉलॉज़ी शिक्षा-क्षेत्र में अमर हो गया है। उसने यह बतलाया है कि शिक्षा का तात्पर्य विभिन्न विषयों का ज्ञान देना नहीं है। बालक की रुचि को ध्यान में रख कर प्यार के साथ उसे ऐसा मार्ग प्रदर्शन करना है कि उसकी ईश्वर प्रदत्त आन्तरिक शक्तियों का पूर्णतया विकास हो सके। अतः शिक्षक का कर्तव्य प्यार से मार्ग प्रदर्शन करना है। (आजकल के स्कूलों में इस प्रेम-भाव की बड़ी कमी है। शिक्षा का कोई कार्य-क्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक शिक्षक बालकों के प्रति सहानुभूति का अनुभव न करें। हमारे स्कूलों के आधुनिक शिक्षक तो पुलिस की तरह बालकों पर शासन करते हैं। आठ दस वर्ष नौकरी कर लेने पर वे अनुभव करने लगते हैं कि अध्यापन-कार्य के प्रति उनका कर्तव्य पूरा हो चुका। इसके बाद पढ़ाने में उनकी रुचि नहीं दिखलाई पड़ती। उनकी कक्षा में हमें जो कुछ नियन्त्रण दिखलाई पड़ता है वह उनकी चपत के डर का परिणाम है। विद्यार्थी उनकी आज्ञाओं का पालन प्रायः डर से किया करते हैं न कि भक्ति और आदर से। 'सहानुभूति' और 'प्रेम' के बल पर ही शिक्षक अपने शिष्य के चरित्र को आदर्श बना सकता है।)

(१३) शिक्षा में दण्ड का स्थान—

पेस्तॉलॉजी दण्ड देने के पक्ष में न था। परन्तु यदि चरित्र-निर्माण के हित में आवश्यक हुआ तो दण्ड देने में उसे हिचक नहीं। यदि स्कूल एक घर है तो उसमें दण्ड दिया जा सकता है क्योंकि माता-पिता भी तो कभी-कभी दण्ड दिया ही करते हैं। माता-पिता के दण्ड देने पर बालक को ग्लानि नहीं होती क्योंकि उसे उनके अभिप्राय में कभी सन्देह नहीं होता। शिक्षक का भी व्यवहार ऐसा हो कि दण्ड देने पर बालक उसके आशय में सन्देह न कर सके। बहुत अच्छा होता यदि दण्ड की आवश्यकता ही न उठती क्योंकि दण्ड का प्रभाव देने और पाने वाले दोनों पर बुरा पड़ता है। अतः जहाँ तक सम्भव हो इसे दूर ही करने की चेष्टा करनी चाहिये।

(१४) पेस्तॉलॉजी की प्रणाली प्रयोगात्मक

अपनी 'हाउ गरट्रड टीचेज़ हर चिल्ड्रेन' नामक पुस्तक में पेस्तॉलॉज़ी ने अपनी पाठन-विधि को स्वयं प्रयोगात्मक बतलाया है। अतः उसमें हमें वैज्ञानिक शुद्धता नहीं मिलती। विशाल अनुभव और प्रयोग के बल पर ही उसने अपनी पाठन-विधि को हमारे सामने रक्खा। अपने समय की सभी प्रचलित प्रणालियों से उसकी प्रणाली सबसे अधिक विश्वसनीय लगती है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक शिक्षा-क्षेत्र में उसी का बोलबाला था। "पेस्तॉलॉज़ी के सम्बन्ध में यह बहुत सरलता से कहा जा सकता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है।" हम पीछे देख चुके हैं कि स्कूलों की गिरी दशा देखने पर ही वह शिक्षा-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ और अपने 'अॉन्शवॉङ्ग' सिद्धान्त का प्रतिपादन कर नई प्रणाली का आविष्कार किया।

(१५) पेस्तॉलॉज़ी ने रूसो के निषेधात्मक सिद्धान्तों को निश्चयात्मकता दी—

विद्वानों का कथन है कि पेस्तॉलॉज़ी ने रूसो के ही निषेधात्मक सिद्धान्तों को निश्चयात्मक रूप देकर उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया है। अतः यहाँ रूसो और पेस्तॉलॉज़ी का तुलनात्मक अध्ययन अनुपयुक्त न होगा। पेस्तॉलॉज़ी अपनी पुस्तक 'दी इवनिङ्ग ऑवर ऑव् ए हरमिट' में लिखता है—"मनुष्य की शक्तियाँ उसके उद्योग अथवा संयोग के फलस्वरूप नहीं, वे तो प्रकृति की देन है—अतः प्रकृति के अनुसार ही शिक्षा का आयोजन करना चाहिये।" पेस्तॉलॉज़ी अपनी सभी रचनाओं में बालक की शक्तियों

के विकास की तुलना प्राकृतिक नियमों के साथ करता है। उदाहरणतः वह कहता है—"मनुष्य वृक्ष के समान है"—जैसे बीज में एक बड़े वृक्ष होने की सम्भावना निहित है वैसे ही बालक में भी विभिन्न शक्तियों का विकास अपेक्षित है। इस प्रकार पेस्तॉलॉज़ी के शब्दों में रूसो की ही आत्मा हमें दिखलाई पड़ती है।

(१६) पेस्तॉलॉज़ी और रूसो—

सामाजिक कुरीतियों से क्षुब्ध हो कर रूसो ने मनुष्य के उद्धार के लिये प्रकृतिवादी शिक्षा की ध्वनि उठाई थी। पेस्तॉलॉज़ी निर्धन किसानों के बालकों की दीन दशा पर द्रवीभूत हो उठा। हम कह चुके हैं कि उसका विश्वास था कि दीन बालकों में भी ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका पूर्ण विकास शिक्षा से किया जा सकता है। पेस्तॉलॉज़ी के ऐसा कहने का एक सामाजिक कारण भी था। उस समय शिक्षा से विशेषकर धनी लोगों का ही सम्बन्ध था। दीन बालकों को कोई पूछने वाला न था। पेस्तॉलॉज़ी का विश्वास था कि दीन बालकों की शिक्षा में धनी बालकों की शिक्षा से अधिक परिवर्त्तन की आवश्यकता है। प्रकृति मनुष्य के लिये बहुत कुछ करती है—'परन्तु हम उस पथ को छोड़ देते हैं। दीन तो प्रकृति के वातावरण से हटा दिया जाता है परन्तु धनी उसे रौंद डालता है।' दीन बालकों की शिक्षा की ओर ध्यान देकर पेस्तॉलॉज़ी ने सार्वलौकिक शिक्षा की नींव डाली। वह शिक्षा को सब के लिये उपलब्ध बनाना चाहता था। यहाँ वह रूसो से बढ़ जाता है। एमील में रूसो का ध्यान सर्वसाधारण की शिक्षा की ओर नहीं है। उसमें केवल धनी बालक की ही शिक्षा की ओर संकेत है।

रूसो प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का विरोधी था। वह किसी विषय के 'रटाने' के विरुद्ध में था। वह चाहता था कि बालक सब कुछ अपने अनुभव से ही सीखे। स्वानुभूति के ही सिद्धान्त को पेस्तॉलॉज़ी ने अपने 'ऑन्श्वॉङ्ग' में आगे बढ़ाया है। सामाजिक सुधार के लिये पेस्तॉलॉज़ी बालक की स्वाभाविक शक्तियों को 'निरीक्षण-विधि' से विकसित करना चाहता है। रूसो के सदृश् पेस्तॉलॉज़ी 'रटाने' की विधि के विपक्ष में है। बालक को स्कूल से हटा लेना ही रूसो को सबसे सरल और श्रेष्ठ उपाय सूझ पड़ा। पेस्तॉलॉज़ी रूसो से अधिक व्यावहारिक था। वह परिस्थिति से हार मानने वाला नहीं। पेस्तॉलॉज़ी ने प्यार और सहानुभूति के भाव से आविभूत होकर अपने सम्पूर्ण जीवन को ही शिक्षा-सुधार के लिये उत्सर्ग कर दिया। 'रटने' की विधि को

हटा कर ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यक्ष अनुभव को ही उसने शिक्षा का आधार माना। रूसो भी प्रत्यक्ष अनुभव का उल्लेख करता है। परन्तु उसकी सारी बातें हवा में कही हुई शून्यवत् प्रतीत होती हैं। विषय के लिये कहीं खड़े होने का स्थान नहीं दिखलाई पड़ता। खड़े होने का स्थान देना पेस्तॉलॉज़ी का ही कार्य था। वह बालक को प्रत्यक्ष पदार्थ की सहायता से पढ़ाना चाहता है, जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है। पेस्तॉलॉज़ी प्रत्येक अनुभव को भाषा के साथ सम्बन्धित करना चाहता है अर्थात् निरीक्षण-शक्ति के साथ भाषा की भी वह उन्नति करना चाहता है। रूसो तो बारह वर्ष तक भाषा का नाम तक भी नहीं लेता। वह बालक को भाँति-भाँति के प्राकृतिक अनुभव देना चाहता है। वह बालक में स्वतन्त्र क्रियाशीलता उत्पन्न करना चाहता है। उसे समाज अथवा स्कूल का दबाव पसन्द नहीं। उसका सुझाव निषेधात्मक है। पेस्तॉलॉज़ी बालक को विषयों के स्वाभाविक अध्ययन में ही क्रियाशील बनाना चाहता है। फलतः उसने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाया और सूक्ष्मतम विश्लेषण कर विषयों को बालकों के पढ़ने योग्य बना दिया। भाषा, अंकगणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, संगीत तथा आचरण का ज्ञान छोटे-छोटे बालकों के लिये भी सरल बना दिया।

रूसो बालक की आन्तरिक शक्तियों का विकास करना चाहता है। हम देख चुके हैं कि पेस्तॉलॉज़ी भी शिक्षा का तात्पर्य 'भीतर से बाहर की ओर विकसित' करने से समझता है। वह सभी शक्तियों का स्वाभाविक और अनुरूप विकास चाहता है। वह कहता है "बालक को शिक्षा द्वारा जो ज्ञान दिया जाय वह इस प्रकार क्रमबद्ध हो कि उसकी प्रारम्भिक शक्तियों का विकास में पूर्णतया योग मिल सके।" "हमारे अमनोवैज्ञानिक स्कूल कृत्रिम मशीन के सदृश हैं। प्रकृति द्वारा जो कुछ भी हम अनुभव या शक्ति प्राप्त करते हैं उन्हें वे नष्ट कर देते हैं।"

रूसो के सदृश पेस्तॉलॉज़ी भी बालक के स्वभावानुकूल ही शिक्षा का आयोजन करना चाहता है। परन्तु मनुष्य तो शीघ्र ही अपनी कुप्रवृत्तियों का दास हो जाता है। क्या इन प्रवृत्तियों को रोकना शिक्षा का कार्य नहीं? यदि सभी को अपने स्वभावानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो प्रतिदिन सैकड़ों के नाक-कान काट लिये जायँगे—अराजकता फैल जायगी। अतः रूसो का सिद्धान्त भ्रमात्मक है। पेस्तॉलॉज़ी शिक्षा में बालक के स्वभाव का ध्यान रखता है; परन्तु उसे नियन्त्रणों में रखकर निश्चित पथ पर ले जाना चाहता

है। उसका विश्वास है कि ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक शक्तियाँ दी हैं। इन शक्तियों का विकास करना ही शिक्षा का परम ध्येय है। "ईश्वर की दी हुई शक्तियों के विकास से ही हम अपना व्यक्तित्व प्राप्त करते हैं। हमारे सभी ज्ञान; उपयोगी शक्तियाँ तथा अच्छे भाव इसी व्यक्तित्व के दूसरे रूप हैं।" रूसो का स्वाभाविक शिक्षा का तात्पर्य शक्तियों के ऊटपटाँग विकास से है। पेस्टॉलॉज़ी इसका अभिप्राय स्वाभाविक योग्यता तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अनुकूल विकास से समझता है।

(१७) पेस्टॉलॉज़ी की महानता—

पेस्टॉलॉज़ी की महानता बड़े कार्य के पूर्ण कर देने में नहीं वरन् उसे प्रारम्भ करने में है। शिक्षा में सुधार करने का जो बीड़ा उसने उठाया उसे वह पूरा न कर सका। इसमें उसका दोष नहीं क्योंकि वह एक व्यक्ति के लिये सम्भव न था। पेस्टॉलॉज़ी ने समय की आवश्यकता को पहचान लिया। वॉल-टेयर, रूसो तथा अन्य सुधारक अपने विवेकवाद, व्यक्तिवाद तथा अनीश्वरवाद आदि से समाज की कुरूतियों को दूर करना चाहते थे। पेस्टॉलॉज़ी ने समझा कि शिक्षा ही सभी कुरीतियों का रामवाण है। रूसो सभ्यता-रूपी-भवन को चूर-चूर कर देना चाहता था। उसके पुनर्निर्माण की उसे चिन्ता नहीं। पेस्टॉ-लॉज़ी इस भवन को नष्ट न करके स्वीकार करता है—परन्तु बिना उसका सुधार किए उसे चैन नहीं। अतः उसने रूसो के प्रकृतिवाद को सबके लिये सुलभ बनाने का प्रयत्न किया। विभिन्न विषयों के पढ़ाने का उसने नया ढंग निकाला। उसी के प्रयत्न से प्रेरणा लेकर भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, प्राकृतिक-विज्ञान आदि विषयों की शिक्षा में आजकल सुधार किये जा रहे हैं। शिक्षक और शिष्य के सम्बन्ध में प्रेम और सहानुभूति का भाव लाकर उसने स्कूल के वातावरण को बदल देने की चेष्टा की। पेस्टॉलॉज़ी दीन विद्यार्थियों को व्यव-साय-सम्बन्धी कुछ कौशल सिखलाने का पक्षपाती था। इस प्रकार पेस्टॉलॉज़ी के सुधारों से शिक्षा में सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रगति प्रारम्भ होती है।

(१८) बेसडो और पेस्टॉलॉज़ी—

बेसडो और पेस्टॉलॉज़ी के तुलनात्मक अध्ययन से पेस्टॉलॉज़ी के विचार अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। बेसडो के सदृश् पेस्टॉलॉज़ी बालक के मस्तिष्क को सांसारिक बातों से भरना नहीं चाहता। वह 'स्वानुभूति' के सिद्धान्त का पोषक था। बालक को कार्य में लगाकर उसकी विभिन्न शक्तियों का वह विकास करना चाहता था। वह बालक की शक्तियों के अध्ययन पर ही उसकी शिक्षा की व्यव-

स्था करना चाहता था। बेसडो बहुत से विषयों को साथ ही पढ़ाने का पक्षपाती था। परन्तु बालक के मानसिक विकास की ओर उसका विशेष ध्यान न था। पेस्तॉलॉज़ी इसको ढोंग समझता था। वह तो शक्तियों का अनुरूप विकास चाहता था। वह शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करना चाहता था कि बालक अपनी उन्नति का अनुभव करता रहे। पेस्तॉलॉज़ी और बेसडो दोनों ही शिक्षक और शिष्य के प्रेमपूर्वक व्यवहार से सहमत थे। शिक्षा का उपयोगी होना वे शिक्षक के प्रेम और सहानुभूति पर ही निर्भर समझते थे। बेसडो बालकों में कभी-कभी स्पर्धा-भावना जागृत करना चाहता था पर पेस्तॉलॉज़ी इसका पक्षपाती न था।

बेसडो भी पेस्तॉलॉज़ी के सदृश् शिक्षा को बाहरी वस्तुओं के व्यक्तिगत ज्ञान से प्रारम्भ करना चाहता था। पेस्तॉलॉज़ी बेसडो से थोड़ा आगे बढ़ा हुआ था। वह बालकों को निरीक्षण करने की कला भी सिखलाना चाहता था। विचार-शक्ति के विकास के लिये बेसडो अलग ही अभ्यास दिया करता था। पेस्तॉलॉज़ी का विचार था कि ऐसा करना भ्रम है। प्रत्येक विषय को ऐसा पढ़ाना चाहिये कि विचार-शक्ति स्वतः विकसित हो जाय। उसका विश्वास था कि संख्या, अनुपात तथा आकृति के आधार पर यदि पढ़ाया जाय तो विचार शक्ति का विकास अपने आप हो जायगा। पेस्तॉलॉज़ी ने बेसडो के सदृश् अंक-गणित की शिक्षा पर बल दिया। परन्तु उसे बेसडो से इसकी व्यावहारिकता का अधिक ज्ञान था। मस्तिष्क को प्रौढ़ बनाने का इसे वह अच्छा साधन समझता था। बेसडो भाषा का प्रयोग केवल 'पत्र' और 'लेख' लिखने में कराना चाहता था। इससे भिन्न, पेस्तॉलॉज़ी भाषा का समावेश प्रत्येक विषय के अध्ययन में करना चाहता था। भाषा तो उसके 'ऑन्श्वॉङ्ग' सिद्धान्त का एक अंग थी। पेस्तॉलॉज़ी बेसडो के सदृश् संगीत की शिक्षा का पक्षपाती था। परन्तु उसका विचार इस सम्बन्ध में बेसडो से कुछ ऊँचा था। वह बालकों को लय तथा स्वर का भी अच्छी प्रकार ज्ञान दे देना चाहता था। बेसडो का ध्यान धार्मिक शिक्षा की ओर विशेष न था। पेस्तॉलॉज़ी धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। वह धार्मिक शिक्षा का सम्बन्ध हृदय से स्थापित करना चाहता था। उसका विश्वास था कि धार्मिक भाव का विकास बालक में माता-पिता के प्रति प्रेम, आदर, भक्ति, कृतज्ञता, विश्वास तथा आज्ञा-पालन से उत्पन्न किया जा सकता है। पुनः इन्हीं भावनाओं को वह ईश्वर के लिए परिवर्तित कर देना चाहता था।

(१६) पेस्तॉलॉज़ी के सिद्धान्तों के सार ये हैं—

१—शिक्षा का उद्देश्य सभी स्वाभाविक शक्तियों का अनुरूप विकास है। शिक्षा व्यावहारिक-नैतिक तथा धार्मिक होनी चाहिये।

२—शिक्षा से सामाजिक कुरीतियाँ दूर की जा सकती हैं।

३—शिक्षा का आयोजन बालक के स्वभाव, इच्छा तथा शक्ति के अनुसार मनोवैज्ञानिक ढंग पर होना चाहिये।

४—इन्द्रिय-जनित-ज्ञान, निरीक्षण तथा स्वानुभूति शिक्षा के आधार हैं।

५—स्कूल 'प्यार का घर' है। शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध प्यार और सहानुभूति पर आधारित होना चाहिये। शिक्षक को बालक के व्यक्तित्व का आदर करना है।

६—भूगोल और प्रकृति-अध्ययन की शिक्षा वातावरण के प्राकृतिक दृश्य की सहायता से देनी चाहिये।

७—अंकगणित की शिक्षा प्रत्यक्ष पदार्थ की सहायता से हो।

८—ज्यामिति की शिक्षा श्यामपट्ट पर विभिन्न आकारों को बनाकर दी जाय, परिभाषा रटा कर नहीं।

९—विषय के सूक्ष्मतम विश्लेषण के आधार पर प्रारम्भिक शिक्षा बहुत ही सरल बनाई जा सकती है। नियमों का 'रटना' अमनोवैज्ञानिक है।

१०—अपने अनुभव के वर्णन करने का प्रोत्साहन बालक को देते रहना चाहिये। ज्यामिति, भूगोल व इतिहास आदि की शिक्षा में भाषा का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

११—नैतिक भावना के विकास के लिये संगीत की शिक्षा आवश्यक है।

(२०) स्कूलों पर पेस्तॉलॉज़ी का प्रभाव—

पेस्तॉलॉज़ी के शिक्षा-सिद्धान्तों का स्कूलों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अपने अन्तिम दिनों में पेस्तॉलॉज़ी इतना प्रसिद्ध हो चला कि योरोप के भिन्न-भिन्न देशों से शिक्षक अध्यापन-कला सीखने के लिये उसके पास आने लगे। पेस्तॉलॉज़ी ने शिक्षा का तात्पर्य आन्तरिक शक्तियों के विकास से समझा था। इसके लिये नई विधि की आवश्यकता थी। फलतः 'रटने' की प्रथा धीरे-धीरे हटने लगी। बालकों के प्रत्यक्ष अनुभव पर बल दिया जाने लगा। पेस्तॉलॉज़ी ने दीन बालकों को शिक्षा देना प्रारम्भ किया था। उसमें बहुत से बालक सामान्य बुद्धि के न थे। उनको शिक्षा देने का प्रयत्न कर पेस्तॉलॉज़ी ने मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा की नींव डाली। स्कूलों में बालकों की क्रियाशीलता पर बल दिया जाने लगा। उनकी शक्तियों का विकास एक क्रमबद्ध रूप में किया जाने लगा। अब तक शिक्षा का ध्येय विशेषकर 'चर्च' के उद्देश्यों की पूर्ति समझा जाता था। पेस्तॉलॉज़ी के प्रभाव-स्वरूप शिक्षा का उद्देश्य अब सामाजिक हो गया। इस प्रकार पेस्तॉलॉज़ी ने उन्नीसवीं शताब्दी के स्कूलों को एक नया उद्देश्य दिया।

३—हरबार्ट (१७७६--१८४१)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

हरबार्ट गोल्डेनवर्ग (जर्मनी) में पैदा हुआ था। वह प्रारम्भ से ही कुछ आध्यात्मिक प्रवृत्ति का था। अपने प्रारम्भिक विद्यार्थी-जीवन में ही वह आध्यात्मिक विषयों पर लेख लिखा करता था। जेना विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते समय उसने 'फिच और शेलिङ्ग' की मौलिक आलोचना की। विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के पहले १७६७ ई० में वह स्विट्ज़रलैण्ड चला गया। वहाँ इन्टरलेकैन के गवर्नर के बच्चों का वह अध्यापक बन गया। यहीं पर शिक्षा से उसका प्रेम हुआ और उसे मौलिक शिक्षा सिद्धान्त-निर्माण करने की प्रेरणा मिली। इस सम्बन्ध में पेस्तॉलॉज़ी की ओर उसका ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। १७६६ ई० में वर्गडॉफ़ जाने पर उसके सिद्धान्तों से वह परिचित हुआ। उसने पेस्तॉलॉज़ी की पुस्तक "हाउ गरट्रूड टीचेज़ हर चिल्ड्रेन" पर एक लेख लिख उसके सिद्धान्तों की पूरी विवेचना की। पेस्तॉलॉज़ी और हरबार्ट के जीवन में हमें बड़ा विरोधाभास मिलता है। दोनों के जीवन-आदर्श में बड़ा अन्तर था। पेस्तॉलॉज़ी ने दीन बालकों की सेवा में अपने जीवन का सच्चा सुख और वैभव त्याग दिया। उनकी चिन्ता में उसका कोई भी कार्य नियम से न चलता था। उसे सुचारु रूप से एक पुस्तक भी पढ़ने का अवकाश न मिलता था। हरबार्ट प्रारम्भ से ही शान्त वातावरण में रहा। उसकी माता शिक्षित थी। उसे ग्रीक और गणित का अच्छा ज्ञान था। फलतः हरबार्ट बचपन से ही विद्या के वातावरण में रहा। उसने भाषा, गणित, संगीत तथा आध्यात्म-विद्या का गहन अध्ययन किया। तभी तो 'कुनिसबर्ग विश्वविद्यालय' (१८०६ ई०) में वह काण्ट का उत्तराधिकारी हो सका। यहीं पर उसने अपना प्रसिद्ध स्कूल खोला जहाँ शिक्षकों को अध्ययन-कला की शिक्षा दी जाती थी। हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धान्तों का विवरण हमें उनके 'साइन्स

हरबार्ट

आव् पेडागॉगी, (१८०६), 'आउटलाइन्स ऑव् पेडगॉजीकल थियरी' (१८३५) तथा उसके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों में मिलता है।

(२) शिक्षा-उद्देश्य—

पेस्तॉलॉज़ी ने शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने की चेष्टा की थी। उसके मनोविज्ञान से प्रेरणा लेकर अपने मौलिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर हरबार्ट ने शिक्षा को दार्शनिक बनाना चाहा। वह उच्चकोटि का दार्शनिक था। शिक्षा-समस्याओं के स्पष्टीकरण में वह अपने दर्शन-शास्त्र की सहायता लेता है। वह मानव-स्वभाव को समझने के लिये आध्यात्म-विद्या को उत्तम साधन समझता था। इसलिये उसका विश्वास था कि नींव आध्यात्म-विद्या पर डाली जा सकती है। उसके शिक्षा-सिद्धान्त के तीन भाग किये जा सकते हैं: १—नीति-सिद्धान्त—इससे अध्यापक के उद्देश्य का पता चलता है। २—मनोविज्ञान—इसमें हमें शिक्षा-व्यवस्था के सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन मिलता है। ३—पाठन-सिद्धान्त—इससे हमें यह पता चलता है कि अध्यापक कक्षा में विषय को किस प्रकार पढ़ाये कि बालक को शीघ्र बोध हो जाय। अपने निर्णय के अनुसार लोग एक को दूसरे से अधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु वास्तव में तीनों एक दूसरे से बढ़कर हैं। एक के बिना दूसरा व्यर्थ हो जायगा। वे एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक ही साध्य के वे तीन आवश्यक साधन हैं। हरबार्ट का विश्वास था कि अध्यापक बालक के विचारों को नियन्त्रित कर सकता है। अध्यापन-कार्य इस प्रकार किया जाय कि बालक के मस्तिष्क में विभिन्न विचारों का विकास हो। विचारों के विकास से बालक स्वतः क्रियाशील हो जायगा। क्रियाशीलता आने पर चरित्र का निर्माण अपने आप होगा। यदि हमारे विचार शुद्ध हैं तो हमारे कार्य भी शुद्ध होंगे। बालकों में अच्छे विचारों का विकास कर उनमें नैतिक और धार्मिक भाव लाने चाहिए। हरबार्ट के अनुसार नैतिकता के विकास से चरित्र का निर्माण ही शिक्षा का परम ध्येय कहा जा सकता है।

(३) हरबार्ट और पेस्तॉलॉज़ी—

पेस्तॉलॉज़ी के साथ तुलना करने से हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धान्त और उद्देश्य अधिक स्पष्ट हो जायँगे। हम देख चुके हैं कि पेस्तॉलॉज़ी का कार्य एकांगीय है। समय की माँग की ओर ध्यान देते हुए भी वह शिक्षा की सारी आवश्यकताओं को पूरी न कर सका। हरबार्ट ने पेस्तॉलॉज़ी के अनुभव से लाभ उठाया और कुछ अंशों में उसके अधूरे कार्य को पूरा करने की चेष्टा की।

पेस्तॉलॉज़ी ने 'वस्तुओं के अध्ययन' को ही स्कूल का प्रधान कार्य माना। हरबार्ट का उद्देश्य इससे बड़ा था। वह स्कूल में नैतिकता का वातावरण लाना चाहता था जिससे विद्यार्थी विश्व को नैतिक दृष्टि से देखें। पेस्तॉलॉज़ी ने हमें निरीक्षण का महत्त्व समझाया और बतलाया कि स्वानुभूति से प्राप्त अनुभव मस्तिष्क में कैसे घर बना लेते हैं। हरबार्ट इससे थोड़ा और आगे बढ़ता है। वह दिखलाता है कि इन्द्रियजनित ज्ञान हमारे मस्तिष्क में विचार रूप में कैसे परिणित होते हैं और इन विचारों की सहायता से नैतिक चरित्र का विकास कैसे किया जा सकता है। इन विचारों के विवेचन में हरबार्ट ने हमें एक ऐसी पाठन-प्रणाली दी जिसका महत्त्व अपने विशिष्ट क्षेत्र में आज तक भी सर्वमान्य है। यह उसकी मस्तिष्क की तार्किक प्रवृत्ति का ही फल है। पर हरबार्ट के भी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से हम पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते। तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वे पेस्तॉलॉज़ी के सिद्धान्तों से बहुत आगे हैं। पेस्तॉलॉज़ी, शिक्षा का उद्देश्य सब 'शक्तियों का अनुरूप विकास' समझता था। हरबार्ट के अनुसार 'सद्व्यवहार में ही शिक्षा का सारा सार निहित है।" उसके लिये 'गुण' (वर्चू) का बालक की शिक्षा में विशेष महत्त्व है। वह 'सौन्दर्य-कला' को 'नीति-कला से श्रेष्ठ मानता है। यदि शिक्षा का सहायता से व्यक्ति विश्व-सौन्दर्य का अभिप्राय ले तभी शिक्षा सफल कही जा सकती है (इसका विवरण आगे हम और स्पष्टता से करेंगे)। हरबार्ट इतने से ही सन्तुष्ट नहीं। वह कहता है कि 'नीति' अथवा 'सौन्दर्य-शास्त्र' से हम शिक्षा का उद्देश्य ठीक-ठीक निर्धारित नहीं कर सकते। शिक्षा में सत्य, सदाचार तथा भलाई का आदर्श आना भी वांछित है। केवल सौन्दर्य-सुख के अनुभव से व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। उसके लिये जिज्ञासा, आदर का भाव तथा धार्मिक भक्ति भी उतनी ही आवश्यक है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास ही है और कुछ नहीं। हरबार्ट मनोविज्ञान को शिक्षा का अच्छा साधन समझता है। परन्तु सारी गुरुता उसे ही दे देना उसे मान्य नहीं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आचरण-शास्त्र को भी हरबार्ट शिक्षा का आधार मानता है। अतः मनोविज्ञान और आचरण-शास्त्र दो स्तम्भ हैं जिस पर हरबार्ट अपने शिक्षा रूपी भवन का निर्माण करता है।

(४) हरबार्ट का भाव-सिद्धान्त—

हरबार्ट ने 'शक्ति मनोविज्ञान' (फ़ैकल्टी साइकोलोजी) को स्वीकार नहीं किया। लॉक ने भी अन्तर्विचार के अस्तित्व को नहीं माना था। उसी प्रकार

हरबार्ट ने कहा "मस्तिष्क की 'आन्तरिक प्रवृत्तियाँ' नहीं है। मनुष्य का मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का योग नहीं है।" हरबार्ट ने आत्मा के भी अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। 'उसका मनोविज्ञान एक प्रकार का मानसिक यन्त्र-विद्या मालूम होता है' (रस्क)। हरबार्ट के समय में लोगों का विश्वास था कि मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का योग है। उसमें सारी शक्तियाँ जन्म से ही उपस्थित रहती हैं। परन्तु उनका रूप अविकसित रहता है। उदाहरणतः स्मरण-शक्ति, ध्यान इच्छा, विवेक आदि स्वतन्त्र रूप से मस्तिष्क में रहते हैं। हरबार्ट को यह वर्गीकरण भ्रमात्मक प्रतीत हुआ। उसने कहा कि मस्तिष्क का हम इस प्रकार विभाजन नहीं कर सकते। शिक्षा-सिद्धान्त को वह अपने "भाव-सिद्धान्त पर आधारित करता है।

(५) उसका विचार-सिद्धान्त (थियरी ऑव् आइडियाज़)—

वातावरण के सम्पर्क से हमारे मस्तिष्क में विभिन्न विचार उठा करते हैं। परन्तु सभी 'विचार' हमारे लिये समान महत्व के नहीं होते। कुछ तो पानी के बुलबुले की तरह शीघ्र ही विस्मृत हो जाते हैं। कुछ विचार ऐसे हैं जिनका हमारे दैनिक, नैतिक तथा सामाजिक जीवन से सीधा सम्बन्ध होता है। अतः वे हमारी चेतना-धारा में आकर कुछ देर तक ठहरते हैं। हमारे मस्तिष्क में उनको स्थायी स्थान मिल जाता है। अवसर पाने पर वे हमारी चेतना में अग्रगण्य हो जाते हैं। इस प्रकार हरबार्ट सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि हमारी मानसिक शक्तियाँ एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। जन्म से ही वे नहीं आ उपस्थित होतीं। व्यक्ति के वातावरण के सम्पर्क में आने से उनका विकास होता है। 'विचारों' का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। उनका जन्म वातावरण के सम्पर्क से ही सम्भव है। अतः हरबार्ट अध्यापक से नैतिक विकास के लिये उचित वातावरण के आयोजन की अपेक्षा करता है।

परन्तु सभी विचार एक तरह के नहीं होते, कुछ तो समान होते हैं, कुछ असमान और कुछ विरोधी। जब समान विचारों का संयोग होता है तो वे एक दूसरे से मिल जाते हैं। इस संयोग से उनकी शक्ति दूसरों से बढ़ जाती है। वे सदा हमारी चेतना में अग्रगण्य रहने की चेष्टा करते हैं। उदाहरणतः सितार, हारमोनियम, वेला, वीणा और बन्शी आदि वाद्य जब एक ही स्वर में मिलाकर बजाये जाते हैं तो उनकी ध्वनि एक-सी प्रतीत होती है। वीणा की ध्वनि बन्शी से अलग करना कठिन हो जाता है। विभिन्न वाद्यों से जो ध्वनि हमारे कानों तक पहुँचती है उनके सम्बन्ध में हमारे मस्तिष्क में समान विचार

उठता है। इस समानता से एक ही वाद्य बजता हुआ जान पड़ता है अर्थात् समान ध्वनियाँ एक में मिलकर हमारे सामने एक 'समान रूप' उपस्थित करती हैं। स्पष्ट है कि समान विचार आपस में मिलकर एक हो जाते हैं।

अब हम असमान विचारों पर आते हैं। जब हमारे मस्तिष्क में असमान विचार आते हैं तो वे समान विचारों की तरह एकमय नहीं होते। परन्तु उनका भी एक मिश्रण हो जाता है। उदाहरणतः एक व्यक्ति को हम सितार बजाते हुये देखते हैं। हमारे मस्तिष्क में उस संगीतज्ञ, सितार तथा उसके बैठने के स्थान सम्बन्धी—तीन असमान विचार आते हैं। ये तीन विचार एकमय नहीं हो सकते। तथापि हमारे सामने तीनों विचारों का एक मिश्रित चित्र आता है, यद्यपि 'संगीतज्ञ', 'सितार' और 'स्थान' तीनों की कल्पना हमें पृथक-पृथक जान पड़ती है।

परस्पर विरोधी विचार न तो एकमय होते हैं और न मिश्रित ही। वे एक दूसरे को चेतना से भगाने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणतः अँधेरे और उजाले की कल्पना, या काला और सफेद कागज, काले और सफेद की कल्पना एक दूसरे से एकदम भिन्न हैं। उनको मस्तिष्क में साथ ही साथ स्थान नहीं मिल सकता।

इस प्रकार अपनी जाति के अनुसार 'विचार' हमारे मस्तिष्क में अपना अपना स्थान पाते हैं। यदि वे समान हुये तो स्वीकृत कर लिये जाते हैं। असमान होने पर वे परिवर्धित रूप में माने जाते हैं। विरोधी होने पर उन्हें मस्तिष्क में स्थान ही नहीं मिलता। जिस मानसिक क्रिया अथवा शक्ति से विचार स्वीकृत या परिवर्धित किए जाते हैं उसे 'पूर्व संचित ज्ञान' कहते हैं।

विचारों के इस विवेचन से हरबार्ट एक महत्वपूर्ण अध्यापन-सिद्धान्त हमारे सामने रखता है। हमारा मानसिक जीवन विभिन्न विचारों से ओतप्रोत रहता है। उसमें एक विचार दूसरे की अपेक्षा अधिक चेतना में आना चाहता है। इस स्थिति का उचित उपयोग ही शिक्षक का कर्तव्य है। उसको जानना चाहिये कि नए विचारों का पुराने विचारों से एक सम्बन्ध होता है—चाहे समान, असमान या विरोधी। वह अध्यापन का आयोजन इस प्रकार करे कि वांछित विचार बालक की चेतना में अग्रगण्य रहें। इसके लिये हरबार्ट अध्यापक को तीन बातों पर ध्यान देने के लिये कहता है:—

१—नये पाठ के प्रधान 'विचारों' तथा बालकों के 'पुराने विचारों' में

समान सम्बन्ध स्थापित करना।' इससे बालक नये पाठ को बड़ी सरलता से समझ लेगा।

२—अध्यापक को इस विधि से पढ़ाना चाहिये कि बालक नये विचारों को अपने मस्तिष्क में रख सके।

३—इसके लिये उसे बालक की रुचि पर ध्यान देना होगा। बालक की रुचियों का विकास करना अध्यापक के प्रधान कर्तव्यों में से है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नया ज्ञान सदा से पुराने पर निर्भर रहता है। एक दूसरे का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इन्द्रियजनित ज्ञान ही प्रधान नहीं है। आन्तरिक अनुभव का भी महत्व है। बालक को नया ज्ञान इस प्रकार दिया जाय कि उसे मालूम हो कि वह उसके पुराने ही ज्ञान का उत्तर विकास है। जो कुछ हम सीखते हैं वह तत्कालिक उत्तेजना पर उतना निर्भर नहीं है जितना कि उस समय की मानसिक स्थिति पर। अपने पुराने विचार या अनुभव के आधार पर विश्लेषण करने की शक्ति के ही अनुपात में हम नया ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर हरबार्ट ने पेस्तालॉज़ी के 'ऑन्श्वाङ्ग'-सिद्धान्त के अधूरे कार्य को कुछ पूरा ही किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विद्यार्थी के सामने पाठ्य-वस्तु क्रम-बद्ध रूप में रखनी चाहिये। उसके सामने रखे हुये विचारों का क्रम भी मनुष्य के मानसिक विकास के अनकूल हो। हरबार्ट के अनुसार बालक का मस्तिष्क दो प्रकार से काम करता है। पहले तो वह विचारों को समझकर स्वीकार करता है। इसको 'आत्मसात् क्रिया' कह सकते हैं। विचारों के ग्रहण कर लेने के बाद वह अपने पुराने विचारों से उनका सम्बन्ध जोड़ता है। इसे 'मनन' (रिफ्लेक्शन्) कहते हैं। विद्यार्थी का मस्तिष्क 'आत्मसात् क्रिया' और 'मनन' के अन्दर दौड़ा करता है। शिक्षक को दोनों पर समान बल देना चाहिए।

(६) हरबार्ट के 'नियमित पद' (फ़ॉर्मल स्टेप्स)—

'हरबार्ट' ने 'आत्मसात् की क्रिया' और 'मनन' को बहुत व्यावहारिक न समझा। अतः विश्लेषण द्वारा इन्हें और सरल बना दिया। आत्मसात् की क्रिया को 'स्पष्टता' (क्लीयरनेस) और संगति (एसोसियेशन्) में, तथा 'मनन' को 'आत्मीकरण' (सिस्टम) और प्रयोग (ऐप्लीकेशन्) में विभाजित किया। इसी को हरबार्ट के नियमित पद (फ़ॉर्मल स्टेप्स) कहते हैं।

स्पष्टता (क्लीयरनेस) का अभिप्राय बालक को स्पष्ट विचार देने से है। इसको हम दो भागों में बाँट सकते हैं—प्रस्तावना (प्रीपरेशन्) और

विषय-प्रवेश (प्रेजेण्टेशन्)। प्रस्तावना में बालकों के पुराने विचारों का विश्लेषण कर उन्हें नये पाठ के लिये तैयार करना है। उन्हें ऐसा जताना है कि नया पाठ उनके पुराने विचारों का ही विकसित रूप है। इसके लिये प्रस्तुत पाठ के उद्देश्य को भली-भाँति स्पष्ट कर देना चाहिये। 'विषय-प्रवेश' में अध्यापक 'पाठ्य-वस्तु' के कुछ अंश को क्रमबद्ध रूप में बालकों के सामने रखता है।

'संगति' (एसोसियेशन) में अध्यापक 'वस्तु' को विद्यार्थियों के पुराने विचारों से सम्बन्धित करता है। विद्यार्थी अध्यापक की सहायता से आपस में 'विचार-विनिमय' करते हैं। विद्यार्थियों में 'वाद्‌विवाद' का रुख एक निश्चित उद्देश्य की ओर होना चाहिए।

'आत्मीकरण' (सिस्टम) में विचारों को क्रमबद्ध किया जाता है जिससे विद्यार्थी नये विचारों तथा पुराने विचारों का सम्बन्ध समझ लें। 'प्रयोग' में नये 'विचारों' पर अभ्यास कराया जाता है जिससे वे स्थायी हो जायँ। 'प्रयोग' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। नये पाठ की सफलता प्रायः इसी पर निर्भर रहती है।

हरबार्ट ने स्वयं कहा है कि उसके नियमित पद अति आवश्यक नहीं हैं। उनके बिना भी कार्य चलाया जा सकता है। वे 'पाठन-विधि में सहायक मात्र हैं। बहुत से सफल अध्यापक बिना उनका अनुसरण किये भी बहुत अच्छी तरह पढ़ा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य विधियों का भी उपयोग किया जा सकता है। बहुत से सफल अध्यापक बिना इसका नाम सुने भी इसका प्रयोग करते हैं।

रस्क ने नियमित पद की दो दृष्टिकोण से आलोचना की है। प्रथम तो नियमित पद तभी सफल हो सकता है जबकि शिक्षक शिक्षार्थी को कुछ ज्ञान कराना चाहता है। पर किसी कौशल में प्रवीणता प्राप्त करने में उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः संगीत, हस्तकला तथा चित्रकारी आदि 'नियमित पद' से नहीं पढ़ाये जा सकते। दूसरे नियमित पद का उपयोग केवल उन्हीं 'पाठ' में किया जा सकता है जो स्वयं पूर्ण हों। प्रत्येक पाठ में इनका प्रयोग भूल होगी।

(७) विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक विधि (एनलिटिक ऐण्ड सिन्थेटिक)—

नियमित पद के साथ ही साथ हरबार्ट दो अन्य विधियों का भी उल्लेख

करता है—विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक। वास्तव में ये विधियाँ एक प्रकार से 'नियमित पद' के अन्तर्गत भी आ जाती हैं। परन्तु उनका अपना अलग महत्त्व है। संश्लेषणात्मक विधि के अनुसार विषय को इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए कि बालक को प्रतीत हो कि वस्तु को साक्षात् वह अपने सामने देख रहा है। बालकों के ही विभिन्न विचारों का उनके सामने ऐसा सामञ्जस्य रक्खा जाय कि उन्हें नई बातों का ज्ञान हो। ऐसा विशेषकर गणित के पाठ में किया जा सकता है। परन्तु इस विधि से ज्ञान प्राप्त करने में बालक त्रुटि कर सकते हैं। वे अध्यापक के शब्दों का मनगढ़न्त तात्पर्य लगा सकते है। अतएव विश्लेषणात्मक विधि की भी आवश्यकता है। इस विधि से उनके मस्तिष्क के भ्रमात्मक विचार अपने आप निकल जायेंगे। वास्तव में विश्लेषणात्मक विधि संश्लेषणात्मक विधि का साधन मात्र ही है। यह भी कहा जा सकता है कि वे एक दूसरे के पूरक हैं।

(८) रुचि व बहुरुचि (इनटेरेस्ट–मेनीसाइडेड इनटेरेस्ट)—

हरबार्ट का विश्वास था कि अध्यापन-कार्य 'नियमित पद' के अनुसार किया जाय तो बालकों में विभिन्न रुचियों का विकास होगा। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में 'गुण' अथवा 'नैतिकता' उत्पन्न करना है। परन्तु वास्तविक उद्देश्य तो 'रुचि' उत्पन्न करना है। रुचि के उत्पन्न होने से ही उसमें अच्छे-अच्छे आदर्शों का आविर्भाव हो सकता है। हरबार्ट के अनुसार रुचि वह चेतन दशा है जो सदा ज्ञान प्राप्त करने के साथ रहती है। रुचि सदा अपनी इच्छित वस्तु पर निर्भर रहती है। उदासीनता इसके एकदम प्रतिकूल है। इच्छा की उत्पत्ति रुचि से ही होती है। इच्छा से वस्तु की प्राप्ति की धुन सवार हो जाती है। धुन से क्रियाशीलता आती है। इच्छा के पूर्ण हो जाने पर क्रियाशीलता का ह्रास हो जाता है और रुचि भी लुप्त हो जाती है। रुचि को मनोरंजन समझना चाहिये। मनोरंजन का स्थान बहुत छोटा है। हम छोटी छोटी बातों से मनोरंजन ले सकते हैं परन्तु उसका विशेष महत्व नहीं हो सकता। जो बहुत सरल हो उसमें बालकों की रुचि नहीं उत्पन्न करनी चाहिये क्योंकि उसमें उनके चरित्र-विकास की सम्भावना कम है। हरबार्ट का विश्वास है कि विभिन्न विचारों के विकास से 'बहुरुचि' ऐसी उत्पन्न होगी जो व्यक्ति को उदार और निष्पक्ष बनाने में सहायक होगी। बहुरुचि की चर्चा में हरबार्ट व्यक्ति की विशिष्ट योग्यता के पूर्ण विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालना चाहता। "प्रत्येक को सभी विषयों में रुचि रखनी चाहिये परन्तु एक

में प्रवीणता भी।" व्यक्ति को ऐसा होना चाहिए कि वह प्रत्येक परिस्थिति और विषय का स्वतन्त्र रूप से निष्पक्ष निर्णय कर सके। यदि उसकी रुचि की बड़ी परिधि हुई तो वह निष्पक्ष हो सकेगा अन्यथा नहीं। बहुरुचि से ही चरित्र का पूर्ण विकास सम्भव है।

रुचि तो अपनी स्वाभाविक योग्यता पर निर्भर है परन्तु शिक्षा से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि स्कूल में शिक्षा व्यवस्थित न की गई तो उसका महत्व बहुत कम होगा। तब रुचि के विकास में सन्देह रहेगा। विभिन्न विषयों का परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित करना चाहिए कि 'बहुरुचि' के विकास में सामञ्जस्य आ सके। विद्यार्थी की किसी 'विशिष्ट योग्यता' के सहारे विभिन्न विषयों में परस्पर-सम्बन्ध (कॉरीलेशन) स्थापित किया जा सकता है। अध्यापक विषयों को इस प्रकार उपस्थित करे कि विद्यार्थी को सब एक ही विषय जान पड़े। यदि ऐसा करने में वह असफल हुआ तो 'बहुरुचि' का सूत्र दृढ़ न होगा। स्कूल के सभी विषयों में कुछ न कुछ परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। ज्ञान को एक क्रमबद्ध रूप देने के लिये यह बहुत आवश्यक है। हरबार्ट का ग्रीक और लैटिन साहित्य, भाषा तथा इतिहास से प्रेम था। उसका विश्वास था कि इनके अध्ययन से बहुरुचियों का विकास हो सकता है। और इनकी सहायता से विषयों में परस्पर-सम्बन्ध भी स्थापित किया जा सकता है। उसके अनुसार किसी जाति के इतिहास में वही रुचियाँ और कार्य मिलते हैं जो स्वभावतः किसी व्यक्ति के जीवन में मिलते हैं। इन विभिन्न रुचियों और कार्यों के सम्पर्क में बच्चों को लाने के लिये हरबार्ट को होमर की रचनायें सर्वोत्तम जचीं। इस विचार को हरबार्ट के अनुयायी विशेषकर ज़िलर ने अधिक स्पष्ट किया और उसे 'संस्कृत युग सिद्धान्त' (कल्चर इपॉक थियरी) का नाम दिया। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का मानसिक विकास जाति के सभ्यता-विकास के सदृश् होता है। अतः पाठन-वस्तु का चुनाव इस विकास के अनुसार ही होना चाहिये। इस सिद्धान्त की यथार्थता कभी पूर्णतया सिद्ध नहीं की जा सकी, तथापि उन्नीसवीं शताब्दी के स्कूलों में इसका बहुत प्रभाव रहा। आजकल इस सिद्धान्त का महत्त्व बहुत घट गया है।

'रुचि' के उत्पन्न करने से अध्यापक विद्यार्थियों का ध्यान पाठ की ओर अच्छी प्रकार आकर्षित कर सकता है। वस्तुतः ध्यान तो रुचि पर ही निर्भर रहता है। यदि विषय में रुचि न हुई तो अध्यापक के पढ़ाने से कुछ भी लाभ नहीं। रुचि के ही होने से विद्यार्थी के मस्तिष्क में नये विचारों का संचार होता

हैं और वे विचार मस्तिष्क में दृढ़ता से जम जाते हैं। यदि पठित विषय में उसकी रुचि हुई तो उसकी आगे जानने की इच्छा सदैव रहेगी। संकीर्णता को दूर करने तथा हृदय और मस्तिष्क को उदार बनाने के लिए बहुरुचि का होना आवश्यक है। रुचि उत्पन्न करके अध्यापक बालक की प्रतिभा बहुमुखी बना सकता है। इस प्रकार उसकी इच्छा पर उसका पूरा नियन्त्रण रह सकता है। यदि बालक की इच्छा अध्यापक के अन्तर्गत आ जाती है तो उसे वह जैसा चाहे वैसा बना सकता है। हरबार्ट के अनुसार 'इच्छा' मस्तिष्क की कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं। हमारे विचारों से ही वह प्रेरित होती है। इच्छा एक मानसिक क्रिया है जो सदैव हमारे विचारों पर निर्भर रहती है। 'इच्छा' का यह 'सिद्धान्त' हरबार्ट के मनोविज्ञान का आवश्यक अंग है। वह इच्छा को अनुभव का फल मानता है। अनुभव से विचार उत्पन्न होते हैं। विचार से क्रियाशीलता आती है। क्रियाशीलता से हमारे चरित्र का विकास होता है। इस प्रकार चरित्र के विकास में क्रियाशीलता नितान्त आवश्यक है। यहाँ शिक्षक के कर्तव्य की गुरुता स्पष्ट है। उसे बालक के मस्तिष्क और विवेक को इस प्रकार क्रियाशील बनाना है कि वह अपने से 'सोचने' तथा 'निर्णय' करने के योग्य हो जाय। इस स्वतन्त्रता के प्राप्त करने पर ही वह अपने बल पर नया कार्य प्रारम्भ कर सकता है।

(६) अन्तः स्वातन्त्र्य—

हरबार्ट नैतिक विकास को शिक्षा में विशेष महत्त्व देता है। हम अपनी 'नैतिकता' से ही किसी कार्य को भला या बुरा ठहराते हैं। हम अपनी जिस शक्ति से किसी कार्य को अच्छे या बुरे होने का निर्णय करते हैं उसे हरबार्ट "अन्तः स्वातन्त्र्य" (इनर फ्रीडम) कहता है। इसी 'अन्तः स्वातन्त्र्य' को हम 'गुण' (वर्चू) कह सकते हैं। यदि हमारे मन, वचन और कर्म में सामञ्जस्य है तो हमारी 'अन्तः स्वातन्त्र्य' अथवा 'गुण' का कुछ महत्त्व हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह सामञ्जस्य हम प्रतिदिन के अभ्यास से ही प्राप्त कर सकते हैं। एक दिन के करने से कुछ नहीं होता। अतः शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालक को अच्छे कार्यों की ओर निरन्तर उत्साहित करता रहे। तभी अच्छे विचार उसके मस्तिष्क के अंग हो सकते हैं और 'अन्तः स्वातन्त्र्य' से कार्य करने का वह अभ्यस्त हो सकता है। इस 'गुण' को उत्पन्न करना ही शिक्षा का प्रधान उद्देश्य कहा जा सकता है। हरबार्ट कहता है कि व्यक्ति का 'नैतिक निर्णय' उसकी सौन्दर्य-भावना के अनुसार होता है। इस निर्णय का कुछ भी कारण

नहीं दिया जा सकता। किसी कार्य के ग़लत या ठीक होने का निर्णय हम अपनी 'अन्तः स्वातन्त्र्य' से करते हैं।

(१०) "विश्व का सौन्दर्यबोधक प्रदर्शन" (इस्थीटिक प्रेजेन्टेशन ऑव् द यूनिवर्स)—

विश्व को अपनी अन्तर्प्रेरणा के दृष्टिकोण से देखना उसे अपनी सौन्दर्य-भावना के अनुसार समझना है। इस प्रकार हरबार्ट अपने 'नीति-शास्त्र' को 'सौन्दर्य-भावना' पर निर्भर कर देता है अर्थात् हम ठीक या ग़लत का निर्णय अपनी 'सौन्दर्य-भावना' के अनुसार करते हैं। कहा जा सकता है कि 'विश्व का सौन्दर्यबोधक प्रदर्शन' ही शिक्षा का आदर्श है। परन्तु 'नैतिकता' और सौन्दर्य-भावना से ही सब कुछ नहीं हो जायगा। उनका महत्त्व अवश्य है। परन्तु 'सत्य' और धर्मपरायणता का भाव भी आवश्यक है। व्यक्ति केवल नैतिक तथा सौन्दर्य-भावनाओं से ही तृप्त नहीं हो सकता। वैज्ञानिक गवेषणा तथा धार्मिक विचारों पर चिन्तन करना भी उसके लिये बहुत स्वाभाविक है। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता, सौन्दर्य, धर्म और सत्य के भावों का विकास करना है। इन भावों के विकास के लिए हरबार्ट के अनुसार व्यक्ति में 'निपुणता, 'सद्भावना' (गुडविल) 'न्याय' तथा 'निष्पक्षता' (इक्विटी) का होना आवश्यक है, अन्यथा उसके 'अन्तः स्वातन्त्र्य' का कुछ महत्त्व न होगा और न उसमें अन्य वांछित भावों का पूर्णतया विकास ही हो सकता है। किसी व्यक्ति में किसी अच्छे कार्य करने का अभिप्राय हो सकता है— परन्तु यदि उसमें निपुणता नहीं है तो वह उसमें सफल नहीं हो सकता। यह निपुणता उसके विभिन्न विचारों में तुलना से ही सम्भव हो सकती है। न्याय का भाव रखने से ही हम दूसरे के अधिकार तथा अपने कर्तव्य पर ध्यान दे सकते हैं। अच्छे अभिप्राय के होने से हम दूसरे के सुख व दुःख को अपने ही समान महत्त्व दे सकते हैं। निष्पक्षता की भावना से हम में उदारता आ सकती है। इसी की सहायता से हम संकीर्णता से दूर रह सकते हैं और अनुभव के अनुसार अपने विचारों को बदल सकते हैं। यह निष्पक्षता मानसिक परिधि के फैलने से ही सम्भव हो सकता है। हरबार्ट ने इन विचारों से हमें पाठ्य-वस्तु की ओर संकेत मिल जाता है। उसके अनुसार सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ पाठ्य-वस्तु बदलते रहना चाहिये क्योंकि जो वस्तु आज उपयोगी है, वह कल नहीं हो सकती। अतः समयानुसार इसके बदलते रहने से ही बालक में उदारता के भाव का आविर्भाव हो

सकता है। पाठ्य-वस्तु ऐसी हो कि उसमें सभी प्रकार के सद्भावों का समावेश हो जाय। अतः भाषा, साहित्य, इतिहास, गणित, विज्ञान तथा व्यावसायिक कौशल आदि सिखाने का स्कूलों में प्रबन्ध होना चाहिये।

(११) विनय (डिसीप्लिन), शिक्षा (ट्रेनिङ्ग) तथा उपदेश (इन्स्ट्रक्शन)—

हरबार्ट का विश्वास है कि बालक के मस्तिष्क में पहले से ही विचार उपस्थित नहीं रहते। उनका विकास तो शिक्षा से ही किया जा सकता है। इसलिये पाठन की आवश्यकता है। बालकों की नैतिकता पर भी उसे विश्वास नहीं। जब तक उनके व्यवहार नैतिक नहीं दिखलाई पड़ते तब तक शिक्षक को उन्हें अपने नियन्त्रण में रखना चाहिये। अतः विनय की भी आवश्यकता है। "विनय, उपदेश और शिक्षा के अन्तर्गत हरबार्ट के सभी शिक्षा-सिद्धान्त आ जाते हैं।" विनय का महत्त्व उतना नहीं जितना कि पाठन और शिक्षा का, पर उसकी आवश्यकता में सन्देह नहीं। विनय के सम्बन्ध में शिक्षक को बहुत सतर्क रहना चाहिये, नहीं तो बालक के ऊपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ सकता है। वस्तुत: हरबार्ट 'विनय' का विशेष पक्षपाती नहीं। परन्तु इन्टरलेकेन में गवर्नर के लड़कों को पढ़ाते समय उसे अनुभव हुआ कि 'विनय' एक ऐसी बुरी वस्तु है जो कि आवश्यक है। इसमें और 'शिक्षा' में बहुत अन्तर है। 'विनय' का उद्देश्य तात्कालिक है परन्तु 'शिक्षा' का भविष्य से। 'विनय' का उद्देश्य कक्षा में पूर्ण शान्ति स्थापित करना है। विद्यार्थियों में से शिक्षक के प्रति अपमान की भावना को दूर करना है, जिससे पाठन-कार्य सरलता से चलाया जा सके। 'शिक्षा' का उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। उसे व्यक्ति के स्वभाव को क्रियाशील बना उसके चरित्र का निर्माण करना है। 'विनय' की आवश्यकता हर समय नहीं पड़ती। उसका उपयोग केवल पाठन के समय रुक-रुक कर किया जाता है। 'शिक्षा' कभी बन्द नहीं होती। वह हर समय चलती रहती है। विनय 'कार्य' का तात्कालिक फल देखती है। 'शिक्षा' व्यक्ति का 'अभिप्राय' अथवा 'आशय' देखती है।

'विनय' में चाहे जितना दोष हो परन्तु वह अराजकता से तो अच्छी ही है। इसके अनुचित उपयोग से बालक के चरित्र में निर्बलता आ जाती है। यदि अध्यापक अपना प्रभाव प्रदर्शित करने के लिये व्यर्थ डाँट-फटकार करता है अथवा पाठ के न याद होने से बालक को दण्ड देता है तो इसका बालकों की कोमल भावनाओं पर बड़ा आघात पहुँचता है। वे अपने को धीरे-धीरे

अयोग्य समझने लगते हैं। उनकी उन्नति वहीं रुक जाती है। उनका पुनः ऊपर उठाना बहुत कठिन हो जाता है। इसलिये अध्यापकों को उचित है कि वे बालकों को पेस्तॉलॉज़ी के सिद्धान्तों के अनुसार प्यार करें। नितान्त आवश्यक होने पर ही उन्हें उसी भावना से दण्ड दिया जाय जैसे पिता पुत्र को दण्ड देता है। कहना न होगा कि हरबार्ट इन विचारों का विरोधी नहीं। वह 'विनय' से केवल 'बाह्य-नियन्त्रण' का तात्पर्य रखता है और उसे निषेधात्मक निर्धारित करता है। वह कहता है कि 'शिक्षा' से आत्मसंवरण और संयम की वृद्धि होती है। अतः वह परिणाम में 'विनय' से एकदम प्रतिकूल है। उसके अनुसार बालक को अधिक नियन्त्रण में रखना भूल है। इससे उसकी सद्‌वृत्तियों के स्वतः विकास का अवसर नहीं मिलता। उनकी आत्मनिर्भरता नष्ट हो जाती है। अतः 'विनय' का उपयोग शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करने के लिये ही होना चाहिये, तभी बालक के चरित्र का अनुरूप विकास हो सकता है।

(१२) 'शिक्षा' और 'उपदेश'—

अब हम शिक्षा और 'उपदेश' के भेद पर आते हैं। हरबार्ट कहता है कि दोनों भविष्य की ओर देखते हैं। परन्तु 'उपदेश' साधन है और शिक्षा साध्य। शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति पाठन से ही की जा सकती है। "बिना 'उपदेश' की 'शिक्षा' साधन बिना 'साध्य' है और बिना 'शिक्षा' का 'उपदेश' साध्य बिना 'साधन' के समान है।" केवल शिक्षा से ही हम चरित्र का विकास नहीं कर सकते; क्योंकि चरित्र तो भीतर से विकसित होता है। इसलिये चरित्र विकास के लिये आवश्यक है कि अन्तर्भावनाओं का पता लगा लिया जाय। परन्तु इसका पता 'पाठन' से ही लगाया जा सकता है क्योंकि 'पाठन' के समय बालकों के सामने नये-नये विचार आते हैं। इन विचारों की प्रतिक्रियास्वरूप हम बालकों की अन्तर्भावनाओं का अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिये शिक्षा-नीति निर्धारित करने के साथ ही साथ हमें पाठन की नीति भी निश्चित करना आवश्यक सा हो जाता है। अन्तर्भावनाओं से हरबार्ट का तात्पर्य 'विचार-वृत्त' (सरकिल ऑव थॉट) से है। वह कहता है—"विचार-वृत्त वह सञ्चय-गृह है जिससे धीरे-धीरे रुचि उत्पन्न होती है, तब इच्छा, तत्पश्चात् क्रियाशीलता से संकल्प। वास्तव में सभी आन्तरिक क्रियाशीलता का उद्‌गम विचार-वृत्त ही में है।" 'विचार-वृत्त' ही पर चरित्ररूपी सारा भवन निर्भर है। अतः इसी ओर शिक्षा को केन्द्रित

करना चाहिये। 'उपदेश' के भरोसे ही शिक्षा इस ओर केन्द्रित की जा सकती है। पाठन से बालकों के विचार-वृत्त का विश्लेषण कर उनके चरित्र के गूढ़तम रहस्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। इस विचार की ओर संकेत कर हरबार्ट ने शिक्षा की सबसे बड़ी सेवा की है। यही उसकी सबसे बड़ी देन है।

(१३) हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धान्त-सार—

संक्षेप में अधोलिखित हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धान्त के सार कहे जा सकते हैं :—

१—रुचि के अनुसार 'चरित्र-शिक्षा' और 'पाठन-कार्य' में सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

२—उचित वस्तु को चुनकर मनोवैज्ञानिक ढंग से विद्यार्थियों के सामने रखना शिक्षक का कर्तव्य है।

३—अध्यापक को बालकों के 'विचार-वृत्त' का पता लगाकर उसके अनकूल शिक्षा देनी है।

४—'शिक्षा' और 'साधन' एक दूसरे के पूरक हैं।

५—शिक्षा का उद्देश्य नैतिक विकास अथवा 'गुण' है।

६—शिक्षा का 'उद्देश्य' नीति से और 'साधन' मनोविज्ञान से निर्धारित करना चाहिये।

७—शिक्षा में बालक की रुचि प्रधान है।

८—नया ज्ञान पूर्व ज्ञान से सम्बन्धित करना चाहिये।

९—विषयों में परस्पर-सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है।

१०—शक्ति मनोविज्ञान भ्रमात्मक है। विचार, समान, असमान या विरोधी होने के कारण स्वीकृत, परिवर्धित अथवा अस्वीकृत किये जाते हैं।

११—जहाँ तक सम्भव हो कक्षा-पाठन में 'फ़ार्मल स्टेप्स' का प्रयोग करना चाहिये।

१२—व्यक्ति का मानसिक विकास जाति विकास के अनुकूल होता है। अतः शिक्षा की पाठ्य-वस्तु जाति-विकास के अनुसार होनी चाहिये।

१३—बालक की शिक्षा में उसके वातावरण को न भूलना चाहिये।

१४—नैतिक भावना हमारी सौन्दर्य-भावना की ही प्रतिमूर्ति है।

(१४) आलोचना—

हरबार्ट ने इतिहास और भूगोल के अध्ययन में हमें एक सामाजिक

दृष्टिकोण दिया। परस्पर-सम्बन्ध के सिद्धान्त के अनुसार इतिहास और भाषा के पाठन को उसने एक नया रूप दिया। परन्तु हरबार्ट ने बालक की क्रियाशीलता को बहुत ही कम महत्त्व दिया है। उसके जीवन के उद्देश्य और आकांक्षा की ओर भी उसका कम ध्यान है। वह बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और भावनाओं को भूल जाता है जब वह कहता है कि "बालक के मस्तिष्क में कुछ भी नहीं होता। उसे शिक्षा से सब कुछ देना है।" उसके शिक्षा-कार्यों के हम तीन भाग कर सकते हैं :-१—मनोविज्ञान, २—पाठन-विधि और ३—उद्देश्य। वह तीनों को एक दूसरे पर निर्भर समझता है। फलतः मनोविज्ञान और आध्यात्म-विद्या में उसे घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। हरबार्ट ने विचारात्मक विधि के स्थान पर गवेषणात्मक विधि का सूत्रपात किया। मनोविज्ञान, गणित, चिकित्सा-शास्त्र तथा संगीत में उसने एक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका मनोविज्ञान बुद्धिवादी कहा जा सकता है। उसका विश्वास था कि 'विचार' ही मानसिक क्रियाओं का उद्गम है। फलतः उसने 'सीखने' को मानसिक क्रिया का एक समूह माना। हरबार्ट सत्य, सदाचार, सौन्दर्य और धर्म की भावना बालकों को देना चाहता है। परन्तु उसने इसे देने के लिये किसी मनोरंजक विधि का उल्लेख नहीं किया है। बालक को ज्ञान ही ज्ञान देने की धुन में उसकी कोमल भावनाओं की शिक्षा की ओर वह यथेष्ट ध्यान नहीं दे सका, यद्यपि वह सौन्दर्य और सदाचार का उल्लेख करता है।

(१५) उसका प्रभाव—

हरबार्ट सिद्धान्तवादी था। अतः उसका प्रभाव शिक्षा सिद्धान्तों पर पड़े बिना न रहा। अनुयायियों ने उसके विचारों का प्रचार किया। फलतः उसका प्रभाव आज भी हमें स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। योरोप के विश्वविद्यालयों में ट्रेनिंग स्कूल खुलने लगे। इनमें हरबार्ट विधि की शिक्षा दी जाने लगी इसमें जेना, लिपज़िग और हाल के विश्वविद्यालय अग्रगण्य थे। प्रोफेसर स्टॉय और प्रो० रेन ने जेना विश्वविद्यालय में हरबार्ट के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने की चेष्टा की। लीपज़िग में प्रो० ज़िलर ने और आगे काम किया। उसमें "संस्कृति युग सिद्धान्त" तथा 'परस्पर-सम्बन्ध-सिद्धान्त' का आगे विश्लेषण किया। इन दो विश्वविद्यालयों से बहुत से शिक्षित अध्यापक निकले जिन्होंने अन्य स्कूलों में हरबार्ट की प्रणाली पर पाठन-कार्य के अनुसार कार्य करने का प्रोत्साहन दिया। पर इनका प्रभाव प्रधानतः जर्मन स्कूलों में ही रहा।

४—फ्रोबेल (१७८३—१८५२)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

फ्रोबेल का जन्म ओबवीसबैच (जर्मनी) में हुआ था। उसका बचपन बड़ा कष्टमय था। बचपन ही में उसकी माता मर चुकी थी। पिता का ध्यान उस पर न था। उसने अपना दूसरा ब्याह कर लिया। दया कर फ्रोबेल के मामा ने उसे अपने पास स्टाटइल्म में बुला लिया। वहीं पर उसे एक गाँव के स्कूल में भेजा गया। फ्रोबेल प्रारम्भ से ही विचार-मग्न रहा करता था। अतः स्कूल में वह मूर्ख समझा जाता था। वह सभी वस्तुओं में एकता का अनुभव करता था। जीवन भर वह इसका पता लगाता रहा। "बचपन में मनुष्य को प्रकृति के साथ घनिष्ठता स्थापित कर लेनी चाहिये। यह घनिष्ठता उसके बाह्य रूप के लिये नहीं अपितु उसमें निहित ईश्वर के भाव के समझने के लिए है।" फ्रोबेल का विश्वास था कि 'बालक इस एकता का अनुभव करता है और उसे चाहता भी है।' अपने स्कूल जीवन में वह इस एकता को न पहचान सका। स्कूली शिक्षा के न सफल होने से १७९७ ई० में उसे जङ्गल के एक अफ़सर के यहाँ काम सीखने के लिये भेज दिया गया। यहाँ कुछ काम तो वह न सीख सका परन्तु प्राकृतिक वातावरण में उसे शान्ति मिली क्योंकि यहाँ वह अपने को वस्तुओं की एकता के निकट पाता था। यहाँ वह बहुत दिन तक न रह सका। बहुत प्रयत्न के बाद १७९९ ई० में लौटकर उसने जेना विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। यहाँ भी वह सफल न रहा। तीस शिलिंग के ऋण के लिए उसे विश्वविद्यालय के कारागृह में नौ सप्ताह तक रहना पड़ा। स्थिर जीवन व्यतीत करना उसके लिये कठिन था। अपनी जीविका के लिये उसने फ्रैंकफ़र्ट में शिल्प-विद्या सीखना प्रारम्भ किया। यहीं पर उसके मित्र डा० ग्रूनर ने उसे

फ्रोबेल

अपने स्कूल में अध्यापक रख लिया। फ्रोबेल अपनी आत्मकथा में कहता है "यहाँ पहली बार अपने को तीस चालीस बालकों के सामने मुझे बड़ा आह्लाद हुआ। समझा कि मैंने अपने को पा लिया।" यहाँ पता चला कि उसे मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र का आवश्यक ज्ञान नहीं है। अतः 'वरडन' में वह पेस्तॉलॉज़ी के पास अध्ययन कला सीखने गया। यहाँ उसने अनुमान किया कि स्कूल-शिक्षा-कार्य के लिये वह अयोग्य है। अतः त्यागपत्र देकर एक कुटुम्ब के तीन लड़कों को पढ़ाना उसने स्वीकार किया। १८०७ ई० में उसे फिर प्रेरणा हुई और इन तीन लड़कों को लेकर वह वरडन आ गया। अब उसे अध्ययन-कार्य से अनुराग हो चला और अपने को शिक्षा-सुधार के लिये तैयार करने लगा। उसने फिर विश्वविद्यालय की शिक्षा लेनी चाही और १८११ ई० में गॉटिन्गेन विश्वविद्यालय में नाम लिखाया। यहाँ भी वह असफल रहा। १८१३ ई० में प्रशन राजा की प्रेरणा से नैपोलियन युद्ध में लड़ने के लिये वह सैनिक हो गया। यहीं उसका लैन्गेथल और मिडिन्डॉफ़ से परिचय हुआ। जिन्होंने आगे चलकर उसके विचारों का खूब प्रचार किया। युद्ध के अनुभव से फ्रोबेल अपने एकत्व (यूनिटी) के सिद्धान्त में और भी दृढ़ हो गया।

१८१६ ई० में फ्रोबेल अपनी भतीजी तथा कुछ और बच्चों को लेकर कीलहाउ में "यूनिवर्सल जर्मन एडूकेशनल इन्स्टीट्यूट" की स्थापना की। अभी तक छोटे बच्चों की शिक्षा का विशेष विचार फ्रोबेल के मस्तिष्क में न आया था। वह माध्यमिक शिक्षा पर ही ध्यान देता रहा। परन्तु १८२६ ई० में उसके 'एडूकेशन आव मैन' के छपने पर छोटे बच्चों की शिक्षा की ओर वह आकर्षित हुआ क्योंकि अब उसे बचपन की सम्भावनाओं का स्पष्ट ज्ञान हो गया। आठ-दस साल इधर-उधर पढ़ाने के कारण उसने अपने शिक्षा विचारों को क्रम बद्ध कर लिया था। उसे अब अपना रास्ता प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता था। अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिये उसने १८३७ ई० में ब्लैकेनवर्ग में प्रथम 'किण्डरगार्टेन' स्कूल खोला। शिक्षकों को अध्यापन-कला भी सिखाना उसने प्रारम्भ कर दिया। अपने शिक्षा-विचारों के प्रचार के लिये उसने एक साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित की। बड़े-बड़े शहरों में घूमकर भाषण देना भी उसने प्रारम्भ किया। १८५३ ई० में उसकी 'मदर एण्ड प्ले सॉङ्गस' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। अब तक फ्रोबेल ने प्रायः अपने सभी शिक्षा विचारों को लिपि बद्ध कर दिया था। फ्रोबेल का एक भतीजा समाजवाद पर अपने विचारों को प्रकाशित किया करता था। प्रशन सरकार को भ्रम हुआ।

वह इन विचारों की जड़ फ़्रोबेल को ही समझने लगी। फ़्रोबेल ने वास्तविक स्थिति समझाने का बड़ा प्रयत्न किया परन्तु कुछ फल न हुआ। सरकारी आज्ञा से प्रशा के सभी किण्डरगार्टेन स्कूल बन्द कर दिए। फ़्रोबेल को इससे बड़ा धक्का लगा। १८५२ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

(२) फ़्रोबेल ने छोटे बच्चे की ही शिक्षा पर क्यों बल दिया?

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि फ़्रोबेल ने केवल छोटे बच्चों की ही शिक्षा पर ध्यान क्यों दिया? फ़्रोबेल व्यक्ति के विकास में बचपन को बहुत महत्त्व देता है। उसके अनुसार प्रारम्भिक अनुभवों की भित्ति पर ही भावी जीवन-भवन खड़ा किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसे बचपन में बड़ा कष्ट हुआ था। इसकी प्रतिक्रिया में यदि छोटे बच्चों के प्रति उसकी सहानुभूति हो गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पेस्तॉलॉज़ी ने माता की शिक्षा की ओर ध्यान देकर छोटे बच्चों की शिक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ दिया था। फ़्रोबेल का माता की योग्यता में पूर्ण विश्वास नहीं। वह उनकी शिक्षा का भी उल्लेख करता है; परन्तु छोटे बच्चों की शिक्षा का भार माता पर ही छोड़ना उसे श्रेयस्कर न लगा। इन सब कारणों से छोटे बच्चों की शिक्षा पर ध्यान देना उसके लिये स्वाभाविक ही था। एक सामाजिक कारण की ओर भी संकेत किया जा सकता है। नैपोलियन-युद्धों से चारों ओर सामाजिक उथल-पुथल थी। इस अव्यवस्था का बुरा प्रभाव सबसे अधिक बच्चों पर ही पड़ा था। उनकी दशा पहले से भी बुरी हो गई थी। कदाचित् उनकी दशा के सुधार के लिये ही फ़्रोबेल ने किण्डरगार्टेन का आविष्कार किया!

(३) फ़्रोबेल के अनुसार बाल स्वभाव—

फ़्रोबेल 'चंचलता' को बच्चे का विशिष्ट गुण मानता है। शरीर और मन की चंचलता तथा अंगों का हर समय संचालन उसका स्वभाव है। जो कुछ वह देखता है उसे हाथ में लेकर उसकी परीक्षा करना चाहता है। परीक्षा के अतिरिक्त यदि सम्भव हो तो उसका वह रूप भी बदल देना चाहता है। बच्चे में अनुकरण-शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जैसा वह दूसरे को करता हुआ देखता है वैसा ही वह स्वयं करने की चेष्टा करता है। फ़्रोबेल ने देखा कि बच्चे मिलनसार होते हैं। जहाँ बच्चों का झुण्ड हुआ वहाँ अन्य बच्चे अवश्य ही पहुँच जाते हैं। उनमें अपने साथियों के प्रति पूरी सहानुभूति होती है। बच्चों में प्रेम, क्रोध तथा विवेक होता है। इसलिए उनको नियन्त्रण में रखना आवश्यक है। कहा जा चुका है कि फ़्रोबेल सभी वस्तुओं में एकता का अनुभव

करता है। 'बचपन' को समझने का उसका निराला ढंग है। "बचपन युवावस्था के लिए तैयारी करने का समय नहीं है। इसका अपना अलग महत्त्व है। युवक को उससे अपने को श्रेष्ठ न समझना चाहिए। उसके किसी भी स्वाभाविक कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप वांछित नहीं। युवक को उसे समझने की चेष्टा करनी चाहिए। ईश्वर की सृष्टि में उसका उतना ही अधिकार है जितना युवक का। अतः शिक्षक को भी उसकी ओर समान दृष्टि रखनी चाहिए।" यहाँ पर फ्रोबेल, रूसो और हरबार्ट में कोई विरोध नहीं।

(४) उसका शिक्षा-आदर्श—

फ्रोबेल का विश्वास था कि सब का विकास सार्वलौकिक नियमानुसार होता है। यदि हमारा आध्यात्मिक विकास क्रम-बद्ध न हो तो शिक्षा असम्भव हो जाय। "शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है। सभी स्वस्थ बालकों में बांछित दशाएँ उपस्थित रहती हैं। शिक्षा द्वारा केवल बाह्य वातावरण ही उपस्थित कर देना है।" "प्रकृति का उद्देश्य विकास है, आध्यात्मिक संसार का उद्देश्य सभ्यता का विकास करना है, इस संसार की समस्या शिक्षा है, जिसका समाधान निश्चित दैवी नियमानुसार ही हो सकता है"—(फ्रोबेल)। फ्रोबेल का विश्वास था कि शिक्षा की सच्ची नींव धर्म पर ही डाली जा सकती है। शिक्षा ऐसी हो कि व्यक्ति अपने को पहचान सके। वह सभी वस्तुओं की एकता समझ सके। शिक्षा से उसे यह भी जान लेना चाहिए कि इस ज्ञान से जीवन का कैसा विकास हो सकता है। "शिक्षा का उद्देश्य पवित्र, शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन की प्राप्ति है।" सभी शिक्षा का एक आन्तरिक सम्बन्ध होता है। शिक्षक बालकों के सामने ऐसा वातावरण उपस्थित करें कि वह विभिन्न अनुभवों में एक घनिष्ठ सम्बन्ध देख सकें। तभी वह भिन्नता में एकता का अनुभव कर सकता है। फ्रोबेल का सारा परिश्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है।

फ्रोबेल का विश्वास था कि सब कुछ ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। "सभी वस्तुओं का अस्तित्व दैवी एकता में ही है। प्रकृति या जगत् की सभी वस्तुएँ दैवी प्रकाशन रूप हैं।"* फ्रोबेल का शिक्षा-सिद्धान्त हरबार्ट की तरह उसके दार्शनिक विचारों से अलग नहीं किया जा सकता। वह काण्ट, फिच्चे और हीगेल के आदर्श से बड़ा प्रभावित हुआ था। वे लोग प्रकृति और मनुष्य

* फ्रोबेल—'द एडूकेशन् ऑव् मैन'।

की सारभूत एकता में वास्तविकता और जीवन का कारण समझना चाहते थे। फ्रोबेल मनुष्य और प्रकृति का उद्गम स्थान स्वयंभू परमात्मा में देखता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह ईश्वर में स्थित सब की एकता पहचान ले। इस आन्तरिक अविच्छिन्नता में ही फ्रोबेल की वास्तविकता का अनुमान होता है। उसका विश्वास था कि हम प्रत्येक वस्तु में ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव कर सकते हैं। यदि व्यक्ति इसे समझ लेता है तो शिक्षा का उद्देश्य सफल है, अन्यथा नहीं। यदि सृष्टि का कारण एक ही है तो उसमें भी एक अविरल क्रम होगा। फलतः परिवर्त्तन या विकास सदा एक क्रम से ही होगा। किसी प्रकार का परिवर्त्तन सार्वलौकिक नियमानुसार ही होता है। यह नियम ईश्वर का है। अतः इसमें बाह्य जगत के हस्तक्षेप से किसी प्रकार का परिवर्त्तन अपेक्षित नहीं। विकास तो भीतर से ही अपने नियमानुसार होता है। हरबार्ट का विश्वास था कि मस्तिष्क वातावरण के संघर्ष से उत्पन्न विचारों के फलस्वरूप बनता है। फ्रोबेल का विश्वास है कि इसका विकास भीतर से होता है। "बालक जो कुछ भी होगा वह उसके भीतर ही है—चाहे उसका कितना ही कम संकेत हमें क्यों न मिले ......।"

(५) विकास का रूप—

फ्रोबेल लीबनिज़ के सिद्धान्त का अनुयायी है। "बीज में वृक्ष या प्राणी का पूरा रूप सूक्ष्म में निहित है।" किसी पौधा या प्राणी का विकास उसके विभिन्न अंगों की स्वतन्त्र क्रिया का फल नहीं है। सब अंगों का विकास साथ ही होता है। शक्ति तथा कौशल 'विकास' पर ही निर्भर है। हमारे सभी स्वाभाविक कार्य विकास पर ही आश्रित हैं। परन्तु यह विकास कैसे होता है? बीज को वृहद् वृक्ष बनाने में हम क्या सहायता दे सकते हैं? विकास के लिये क्रियाशीलता और शक्तियों का अभ्यास आवश्यक है। यह सार्वलौकिक नियम है। यह कोई आवश्यक नहीं कि अभ्यास से विकास तुरन्त ही हो जाय। अफ्रीका के जीरैफ़ की लम्बी गर्दन का विकास पीढ़ियों बाद हो सका है; जैसे अभ्यास से शक्ति का विकास होता है उसी प्रकार अभ्यास के अभाव से उसका लोप भी हो जाता है। फ्रोबेल सभी वस्तुओं को शृङ्खला-बद्ध देखता है। फलतः उसके अनुसार भूत, वर्तमान और भविष्य की मानव जाति एक ही शृङ्खला में बँधी है। मानव जाति अपनी शक्ति का अभ्यास निरन्तर करती रहती है। इसीलिये तो सभ्यता अविरल गति से आगे चलती जा रही है। यदि वह अभ्यास के लिये अवसर की खोज और उसका सदुपयोग न करे तो उसकी

उन्नति रुक जायगी। यदि हम अपना हाथ व पैर हृष्ट-पुष्ट बनाना चाहते हैं तो उसके लिये दण्ड, बैठक, दौड़ना–कूदना इत्यादि व्यायाम करने ही होंगे। इसी प्रकार मानसिक शक्तियों के विकास के लिए भी अभ्यास आवश्यक है।

फ्रोबेल कहता है कि अभ्यास स्वभाव के अनुकूल न हुआ तो विकास सम्भव नहीं। यदि विकास एक सार्वलौकिक नियमानुसार होता है और बाह्य जगत् का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता तो शिक्षा की क्या आवश्यकता? तब तो विकास अपने ही आप हो जायगा। परन्तु सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के कार्यों में विघ्न पड़ता ही है। आदर्श दशा हमें कहीं नहीं मिलती। अतः शिक्षा की हमें नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा से हमें सबको समझाना है कि संसार की सारी वस्तुएँ एक सूत्र में बँधी हुई हैं और यह सूत्र ईश्वरीय है। किसी पौधे के विकास में माली किसी एक शाखा या पत्ते पर ध्यान नहीं देता। वह तो पूरे पौधे को सींचता है। अतः व्यक्ति के विकास में हमें उसके पूरे शरीर और मस्तिष्क को लेना है। माली केवल स्वाभाविक वातावरण उपस्थित कर देता है। पौधे की जड़ खोद-खोद कर देखता नहीं कि वह कितना बढ़ रहा है। वह सब कुछ पौधे के ही स्वभाव और क्रियाशीलता पर छोड़ देता है। इसी प्रकार व्यक्ति के विकास में भी हमें उसी के स्वभाव और क्रियाशीलता पर निर्भर रहना होगा। किसी पौधे के विकास में माली केवल उसकी स्वाभाविक क्रिया में ही योग देता है। विकास तो पौधे को स्वयं करना है। फ्रोबेल बच्चे की तुलना पौधे से करता है। जैसे एक छोटे से पौधे से एक बड़ा पेड़ तैयार हो जाता है उसी प्रकार बच्चे से एक बड़ा मनुष्य तैयार हो जाता है। पौधा अपने आप बड़ा होता है। बच्चा भी अपनी आन्तरिक शक्तियों के अनुसार स्वयं बढ़ता है। यदि उसके बढ़ने में स्वाभाविक रूप में हस्तक्षेप किया गया तो उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जायगा। कुछ प्रवृत्तियाँ और गुण बालक के स्वभाव में निहित हैं। वे उसे उसी प्रकार आगे बढ़ाती हैं जैसे कि बीज में निहित शक्ति पौधे का विकास करती रहती है। बच्चों और पौधों में इस समानता के ही कारण उसके मस्तिष्क में किण्डर-गार्टेन (बच्चों का बाग) का विचार आया। जैसे बाग में माली पौधों के विकास के लिये उचित वातावरण उपस्थित किया करता है, उसी प्रकार किण्डरगार्टेन स्कूल में बच्चों की प्रवृत्तियों और रुचियों को समझ कर अध्यापक को उचित वातावरण उपस्थित करना है। 'निजी क्रियाशीलता' ही किण्डरगार्टेन स्कूल की आत्मा है। किण्डरगार्टेन में बच्चों के खेल की व्यवस्था की गई है जिससे उनका स्वाभाविक विकास अविरल गति से चलता रहे।

(६) खेल का महत्व—

फ्रोबेल के अनुसार बच्चे की स्वाभाविक क्रिया 'खेल' है। अतः उसके खेल में ही योग देने से उसका विकास सम्भव है। 'स्वाभाविक क्रिया' को ही फ्रोबेल 'निजी कार्यशीलता' कहता है। वह इस 'निजी क्रियाशीलता' पर ही बच्चे का शिक्षा रूपी भवन खड़ा करना चाहता है। 'खेल'' बचपन की विशिष्ट क्रिया है। इसमें फ्रोबेल आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्त्व देखता है। खेल सबसे पवित्र और आध्यात्मिक क्रिया है। "मनुष्य के विकास की प्रत्येक अवस्था का विशेष मूल्य होता है। अतः किसी अवस्था के प्रति उदासीन रहना उचित नहीं। प्रत्येक अवस्था की हमें रक्षा करनी चाहिये। मानव विकास को निश्चित भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता। ऐसा करना घातक होगा" (एडूकेशन ऑव् मैन)। विकास में बचपन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। "बचपन केवल बचपन के लिये है, लड़कपन पढ़ने के लिये। बचपन खेल के लिये है और लड़कपन कार्य के लिये। बच्चे ने जो पहले क्रियाशीलता के लिए किया उसी को लड़का अब एक निश्चित फल के लिये करेगा।" "यदि क्रियाशीलता से बच्चे को आनन्द मिला तो कार्य से लड़के को प्रसन्नता मिलेगी।" (एडूकेशन ऑव् मैन § ४६)।

(७) मानसिक विकास—

फ्रोबेल मानसिक विकास की तुलना पौधे के विकास से करता है। जैसे पौधा भीतर से बढ़ता है उसी प्रकार मानसिक ज्ञान और कौशल भीतर से बढ़ता है। मानसिक क्रिया तीन प्रकार की होती है—जानना, अनुभव करना और संकल्प करना। मानसिक विकास में इन तीनों प्रवृत्तियों के अनुसार अभ्यास देना होगा। जैसे पौधे की शाखाओं और पत्तियों के विकास के लिए एक साथ ही माली प्रयत्न करता है, उसी प्रकार हमें ऐसा अभ्यास देना है कि ये मानसिक प्रवृत्तियाँ एक साथ ही क्रियाशील रहें। तभी मस्तिष्क का अनुरूप विकास हो सकता है—(एडूकेशन ऑव् मैन)।

(८) दैवी शक्ति—

एक दैवी शक्ति हमारे कार्यों को सदा नियमित चलाने की चेष्टा करती है। उसके अनुकूल न चलने से ही हमारी अवनति होती है। जिस वस्तु का विकास अपेक्षित है उसके रूप के अध्ययन से ही हम उस दैवी शक्ति को समझ सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य का विकास अपनी क्रियाशीलता के अनुसार अन्दर से

होता है। शिक्षा की यही समस्या और उद्देश्य है। दूसरा हो ही नहीं सकता (एडूकेशन ऑव् मैन १३)। सब का अस्तित्व ईश्वर से ही है। जो दैवी अंश चराचर में व्याप्त रहता है, वही उस वस्तु की 'सच्ची कल्पना' है। यदि हम अपनी 'सच्ची कल्पना' को समझने की चेष्टा करें तो हमारा विकास अपने आप हो जायगा और ईश्वर की प्रकृति भी हमारी समझ में आ जायगी। बच्चे के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक है कि हम उसकी 'सच्ची कल्पना' को समझें। फ्रोबेल के अनुसार इसे समझने के लिये हमें ईश्वर के विभिन्न कार्यों का अध्ययन करना है। "सृष्टि में, प्रकृति और संसार के क्रम में तथा मानव जाति की उन्नति में ईश्वर ने शिक्षा के सच्चे रूप की ओर संकेत किया है।" सृष्टि और प्रकृति के अध्ययन से हमें हर स्थान में क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है। इसी क्रियाशीलता की ओर ईश्वर ने संकेत किया है। स्पष्ट है कि शिक्षा का सच्चा रूप क्रियाशीलता है। अतः 'चेतन रहना', 'क्रियाशील रहना' और 'विचारना' हमारे विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में यही गुण लाना है। फ्रोबेल हमें ईश्वर से सीखने के लिये कहता है। "ईश्वर हमें उत्पन्न करता है, वह निरन्तर कार्य करता रहता है। परिश्रम और अध्यवसाय में हमें ईश्वर के सदृश होना है।" (एडूकेशन ऑव मैन § २३)

हरबार्ट के सदृश फ्रोबेल भी बच्चे की रुचि का ध्यान रखता है। परन्तु दोनों दो तरह से सोचते हैं। रुचि उत्पन्न करने के लिए हरबार्ट बालक के पुराने विचारों से नये विचारों का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। फ्रोबेल का विश्वास है कि रुचि के आविर्भाव के लिये बच्चे के स्वाभाविक कार्यों में योग देना है। यदि एक बार स्वाभाविक प्रवृत्ति को क्रियाशील बना दिया गया तो रुचि जाग उठेगी और हम तन मन से कार्य में दत्तचित्त हो जायँगे। स्वाभाविक प्रवृत्ति, रुचि और भावना का महत्त्व बच्चे की शिक्षा में समझाने के कारण फ्रोबेल की गणना श्रेष्ठ शिक्षा-सुधारकों में होती है। वर्त्तमान शिक्षा-क्षेत्र में फ्रोबेल के इसी विचार को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि बच्चों की स्वाभाविक रुचि और प्रवृत्ति का चित्र देखना हो तो उनके 'खेलों' का अध्ययन करना चाहिये। खेलना उनका सहज स्वभाव है। अतः खेलों द्वारा ही उन्हें सामाजिक अनुभव दिया जा सकता है। मॉनटेन के अनुसार खेल बच्चों को सबसे गम्भीर क्रिया है। लॉक भी अच्छी आदतें डालने के सम्बन्ध में बच्चों के खेल का सदुपयोग करने के लिये कहता है। कहना न होगा कि फ्रोबेल इन विचारों से पूरी तरह सहमत है। इस लिये उसने छोटे बच्चों की

शिक्षा के लिये खेल को सब से उत्तम साधन समझा। फलतः उनके खेलों में वह सामाजिकता लाना चाहता है। उनमें वह एक उद्देश्य डालना चाहता है। उसका विश्वास था कि यदि उपयुक्त उपकरणों से बालक की खेल-प्रवृत्ति को हम एक निश्चित उद्देश्य की ओर नहीं ले जाते तो उसका ठीक विकास नहीं हो सकेगा।

(६) आत्म-क्रिया—(सेल्फ़ ऐक्टीविटी)—

यह समझना हमारी भूल है कि बच्चे से जो कुछ कहा जाता है उसे वह झट करने लगता है। उसका अपना अलग व्यक्तित्व होता है। जिसमें उसकी रुचि हुई उसी ओर वह आकर्षित होता है। वह बिना किसी उद्देश्य के अनुकरण नहीं करता। वास्तविकता को पहचानने के लिए ही वह ऐसा करता है। फ़्रोबेल बालकों की शिक्षा में अध्यापक की इच्छा को स्थान नहीं देता। उसके लिये 'आत्म-क्रिया' ही सबसे बड़ा शिक्षक है। इसी से बच्चा आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्वभावतः प्रत्येक बालक अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना चाहता है। समान वातावरण में एक ही वस्तु हम कई बालकों को साथ ही पढ़ा सकते हैं। पर उनके विकास में समानता न होगी। प्रत्येक अपने स्वभाव की विलक्षणता की रक्षा करता है। यदि इस रक्षा में वह सफल हुआ तो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास होगा। यह विकास ही उसका आत्म-ज्ञान है। शिक्षा का उद्देश्य बच्चे को इस आत्मज्ञान का देना है।

फ्रोबेल पेस्टॉलॉज़ी के सदृश् निरीक्षण का पक्षपाती नहीं। वातावरण की वस्तुओं के सम्बन्ध में 'सोचना' सिखलाने के लिये पेस्टॉलॉजी ने निरीक्षण पर बल दिया। फ़्रोबेल ने देखा कि निरीक्षण करने में केवल मस्तिष्क ही क्रियाशील रहता है। इसलिये धीरे-धीरे रुचि का लोप हो जाता है और क्रियाशीलता भी रुक जाती है। फलतः विकास भी वहीं अवरुद्ध हो जाता है। फ़्रोबेल कहता है कि हमें केवल बाहर से लेना नहीं है अपितु भीतर से बाहर भी देना है। बच्चा हर समय क्रियाशील रहता है। कोई नई वस्तु देखता है तो उसकी परीक्षा करने के लिये वह व्याकुल हो उठता है।* कभी इसको छूना, उसको टेढ़ा करना, इसको खींचना, उसको तानना उसका

* मेरी तीन साल की एक भतीजी है। मेरे पढ़ने के कमरे में आने पर उसकी एकमात्र इच्छा होती है मेरी वस्तुओं की परीक्षा करना। कभी पुस्तक उठाती है, कभी घड़ी, कभी कलम, कभी कुछ, कभी कुछ। एक बार तो वह उस्तरे से अपना कपोल काटते बची। पाठकों को भी बच्चों के विषय में ऐसा ही अनुभव होगा।

सरल स्वभाव है। यदि उसकी यही क्रियाशीलता उचित ढंग से अनुशासित कर दी जाय तो उसे बड़ा आनन्द आता है। बच्चा अपनी क्रियाशीलता से ही शिक्षा ग्रहण करता है यदि हम बच्चे को योग्य बच्चा बनाते हैं और लड़के को योग्य लड़का तो वह योग्य युवक उसी प्रकार हो जायगा जैसे कि उचित ध्यान देने पर एक छोटा पौधा वृक्ष हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक अवस्था पर हमें ध्यान देना है। एक की उन्नति दूसरे पर निर्भर है। फ्रोबेल इसी प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु में देखना चाहता है। वह सभी वस्तुओं की उत्पत्ति दैवी समझता है। अतः प्रत्येक वस्तु में उसे ईश्वरीय एकता का आभास होता है। वह कहता है—"बालक को अपने विकास में माता-पिता के स्वभाव का सार अपनाना है। मनुष्य को ईश्वर का पुत्र होने के नाते ईश्वर और प्रकृति के भाव को अपनाना है। बालक को कुटुम्ब का सदस्य होने के नाते कुटुम्ब के रूप और स्वभाव का प्रतिनिधित्व करना है। मनुष्य को मानव समाज का सदस्य होने के नाते मानवता के पूरे स्वभाव और रूप का प्रतिनिधित्व करना है।" बच्चे की यह संश्लेषणात्मक क्रियाशीलता सभी वस्तुओं के साधारण स्वभाव की ओर संकेत करती है।

(१०) नई शिक्षा-प्रणाली—

फ्रोबेल ने देखा कि 'गाना', 'संकेत करना' तथा कुछ 'बनाना' बच्चों का सरल स्वभाव है। इन्हीं के द्वारा वे अपने विचारों को प्रगट करते हैं। उनके आदर्शों और भावनाओं को समझने के लिए उनके इन स्वाभाविक क्रियाओं को समझना नितान्त आवश्यक है। फलतः उनके लिए उचित आयोजन करना उसके विकास का फ्रोबेल को सर्वोत्तम साधन प्रतीत हुआ। वह अपनी शिक्षा प्रणाली में 'गाना', 'संकेत' तथा 'बनाने' को भली भाँति स्थान देता है बच्चे को यदि कुछ सिखलाना है तो उसे इन्हीं साधनों द्वारा सिखलाना चाहिए। उसके सभी अंगों को उचित अभ्यास देना है। उसके हाथ, आँख और कान का विकास उसे कुछ कार्य देने से किया जा सकता है। यदि इतिहास की किसी घटना का ज्ञान देना है तो उसे गाना, कहानी तथा छोटे नाटक के रूप में उसके सामने रखना चाहिए। कहानी कहने की प्रणाली ऐसी हो मानो बच्चे के ही स्वभाव का वर्णन किया जा रहा है। गाना इतना सरल हो कि बच्चा भी उसमें सरलता से भाग ले सके। घटना का कुछ तात्पर्य कागज अथवा मिट्टी के खेल की वस्तुएँ बनाने से स्पष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार बच्चे के सामने 'वास्तविकता' उपस्थित करने की चेष्टा करनी चाहिये। तभी उसके 'विचार-शक्ति' का विकास हो सकता है। फ्रोबेल के अनुसार बच्चे की ये चेष्टाएँ बिलकुल स्वाभाविक हैं। वे एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। वे एक ही सूत्र में बधीं हैं क्योंकि उनसे बच्चा अपने व्यक्तित्व को हमें दिखलाता है। इन चेष्टाओं के लिए शिक्षक को केवल आयोजन कर देना है। उसे उपयुक्त गाने तथा चित्र चुन देने हैं और वस्तुओं के बनाने में थोड़ा संकेत भर कर देना है। बच्चों के साथ कभी-कभी गा भी देना है जिससे वे अपनी गाने की शक्ति तथा एक प्रकार के सामाजिक व्यवहार का अनुभव कर सकें। पेस्तॉलॉज़ी के सदृश् फ्रोबेल भी शिक्षक को केवल एक ऐसा निरीक्षक ही मानता है जिसमें बच्चे के प्रति सहानुभूति, प्रेम और दया कूट-कूट कर भरी हुई है।

(११) 'उपहार' और 'कार्य'—

'गाने', 'संकेत करने' तथा 'बनाने' तक ही बच्चे की शिक्षा नहीं सीमित हो जाती है। फ्रोबेल उनके लिये कुछ उपहार (गिफ़्ट्स) और 'कार्य' (ऑक्यूपेशन्स) का भी आयोजन करता है। उन्हें कार्यशीलता देने के लिये उपहार दिये जाते हैं। उपहारस्वरूप खिलौने के काम में लाने के लिए लकड़ी, कागज या कपड़े इत्यादि की बनी हुई कुछ वस्तुएँ दी जाती हैं। इनसे जिस क्रियाशीलता की ओर संकेत मिलता है वही उनके लिये 'कार्य' हैं। खेल के उपकरणों को चुनने में फ्रोबेल ने बहुत सोच कर काम किया है। उनका चुनाव वह अपने दार्शनिक विचारों की भित्ति पर करता है। इन उपहारों के अतिरिक्त वह कुछ सामूहिक खेल भी बचों को खेलाना चाहता है, जिससे उनमें कुछ अधिक क्रियाशीलता आ जाय। उन्हें गोलाकार खड़ा करा के कुछ खेलें खेलाना चाहिए। तीन साल के बचों के लिए मिट्टी के कुछ नमूने तथा कागज़ को मोड़ कर कुछ चित्र बनवाना बड़ा हर्षप्रद होता है। 'उपहारों' के चुनने में भी फ्रोबेल का एक सिद्धान्त था। ऊटपटाँग चुनाव उसे पसन्द नहीं। प्रत्येक अवस्था के अनुसार 'उपहार' चुना जाना आवश्यक है। उनके चुनाव में बच्चे का विकास का ध्यान रखना है। एक अवस्था के 'उपहार' को दूसरी अवस्था के 'उपहार' की ओर संकेत करना है और दोनों का आन्तरिक सम्बन्ध भी स्पष्ट होना चाहिये। इन 'उपहारों' और 'कार्यों' में फ्रोबेल को जीवन और प्रकृति के नियम दिखलाई पड़ते हैं। दोनों में वह व्यक्तित्व-विकास के लिए साधन देखता है। प्रायः सभी सामाजिक सुधारकों का यह मत रहता है कि कार्य से ही व्यक्ति आत्मतुष्टि और आत्मबोध पा सकता है। आत्मबोध से ही उसे सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती

है। फ्रोबेल भी इसी मत का अनुयायी था। उसका विश्वास था कि अपने में दैवी शक्ति को समझने के लिये मनुष्य को निरन्तर काम करते रहना चाहिये। परन्तु इसको समझने के लिये कार्य में स्वाभाविकता का होना नितान्त आवश्यक है। यदि व्यक्ति को विवश होकर कुछ कार्य करना पड़ा तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं। फलतः फ्रोबेल बच्चे के 'कार्य' को स्वाभाविक बनाना चाहता है। वह खेल के रूप में ही उससे कार्य कराना चाहता है।

(१२) पाठ्य-वस्तु—

कार्यशीलता ले आने के लिये फ्रोबेल स्कूलों में शारीरिक परिश्रम का समावेश करना चाहता है क्योंकि बिना इसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं। "प्रत्येक बच्चा, बालक और युवक को, जीवन की चाहे जैसी स्थिति में हो, प्रतिदिन दो एक घण्टे कुछ वस्तुएँ बनानी चाहिये।......केवल पुस्तकीय शिक्षा से बालकों में क्रियाहीनता आ जाती है। इस प्रकार मानव-शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग अविकसित रह जाता है"—(एडूकेशन ऑव मैन § २३) इसके अतिरिक्त कुछ चित्रकारी, प्रकृति अध्ययन तथा बागबानी भी आवश्यक है। हरबार्ट के सदृश फ्रोबेल भी बहुमुखी विकास चाहता है। परन्तु उसके साधन भिन्न हैं। पाठ्य-वस्तु में प्राकृतिक विज्ञान, गणित, भाषा, कला, धर्म और धार्मिक शिक्षा का समावेश आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक बालक को कलाकार नहीं बनाना है परन्तु इन सब विषयों को जानना उसका स्वभाव-सा है। सहायता से ही अपनी विलक्षणतानुसार वह अपना पूर्ण विकास कर सकता है।

(१३) प्रथम उपहार—

परन्तु फ्रोबेल की वास्तविक प्रसिद्धि तो उसके किण्डरगार्टेन पर है। अतः उसके 'उपहारों' और उनके साथ 'कार्यशीलता' का उल्लेख करना अब आवश्यक है। सर्व प्रथम बच्चे को ऊन के रंग विरंगे छः गेंद दिये जाते हैं। गेंदों को लुढ़काना 'कार्यशीलता' है। उनके सम्पर्क से बच्चा रंग, रूप, गति तथा 'वस्तु विशेष' का ज्ञान प्राप्त करता है। फ्रोबेल का विश्वास था कि 'उपहार' और 'कार्य' में निहित दार्शनिक विचारों का बच्चों पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। उनसे उनके मस्तिष्क और जीवन के विकास में अवश्य सहायता मिलेगी। गेंद स्वयं ही स्थिर हो जाता है, सरलता से घूम सकता है। लचीला है, कोमल है, चमकदार है और गरम है। फ्रोबेल का अनुमान है कि बच्चा गेंद में अपने जीवन की समानता का आभास पा सकता

है। उसमें वह अपनी शक्ति और क्रियाशीलता देख सकता है। इन सबकी एकता वह अपने जीवन में भी उसी प्रकार पा सकता है जैसे कि उपर्युक्त गुणों की एकता गेंद में निहित प्रतीत होती है।

(१४) दूसरा उपहार—

दूसरे उपहार में एक लड़की के बने हुए त्रिघात, गोला (स्फीयर) तथा बेलन* (सीलिण्डर) हैं। इन वस्तुओं के साथ खेलने में बच्चे को प्रकृति तथा ईश्वर की सृष्टि के नियम का आभास मिल सकता है। वह देखता है कि त्रिघात स्थिर है, गोल अस्थिर है और बेलन एक स्थिति में स्थिर और दूसरी में अस्थिर है। इससे बच्चा यह समझ सकता है कि 'बेलन' में 'स्थिरता' और 'अस्थिरता' का सामञ्जस्य है। दो भिन्न वस्तुओं की एकता का उदाहरण उसके सामने प्रत्यक्ष है। अतः अपने विभिन्न अवयवों और शक्तियों के विकास की एकता में उसका विश्वास दृढ़ हो सकता है। फ्रोबेल के इन दार्शनिक विचारों को समझना सरल नहीं। अबोध बालक के लिये ये गूढ़ विचार कैसे ग्राह्य होंगे यह समझना कठिन है। परन्तु फ्रोबेल की प्रणाली इन विचारों के कारण ही आज इतनी प्रसिद्ध है।

(१५) तीसरा उपहार—

तीसरे उपहार में एक बहुत बड़ा लकड़ी का त्रिघात है। यह आठ भागों में विभाजित है। इन आठ भागों से खेलते हुए बेंच, सीढ़ी तथा मेज इत्यादि बनाना 'कार्यशीलता' है। इससे बच्चा 'सम्पूर्ण वस्तु' और उसके भागों के आन्तरिक सम्बन्ध को समझ सकता है। त्रिघात में बच्चा अविरल विकसित होने का भी आभास पाता है। चौथे, पाँचवें और छठे उपहारों में 'पाटी' (टैबलेट) 'छड़ी' (स्टिक) और 'छोटी कुण्डली' (रिङ्ग) हैं। इन वस्तुओं से फ्रोबेल बच्चे को 'सतह', 'रेखा' तथा 'बिन्दु' की कल्पना देना चाहता है। 'उपहारों' को देने से ही अध्यापक का कार्य समाप्त नहीं हो जाता। उन्हें देने के बाद उनके सम्बन्ध की कार्यशीलता की ओर वह संकेत करता है। कभी-कभी कार्य को स्वयं करके वह दिखा देता है अथवा वस्तु सम्बन्धी गीत को गाने लगता है जिससे बच्चे उचित भाव अपने मन में ला सकें।

(१६) फ्रोबेल की 'विनय-भावना' की धारणा—

फ्रोबेल के समय में दार्शनिकों का विश्वास था कि किसी गुण को

विकास उसके अभ्यास से हो सकता है। फलतः फ्रोबेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि कुप्रवृत्तियों को यदि क्रियाशील होने का अवसर न दिया जाय तो उनका नाश अपने आप हो जायगा। यदि बच्चे की प्रवृत्ति 'गुण' की ही ओर लगाई गई तो बुराई का भाव ही उसके मन में न आने पावेगा। अतः शिक्षक को चाहिये कि वह बच्चों के सामने कोई अनुचित अवसर ही न आने दे। फ्रोबेल का आत्म-नियन्त्रण पर भी पूरा विश्वास था। कुप्रवृत्ति को रोकने के लिये वह इच्छा-शक्ति को प्रबल बनाना चाहता था।

(१७) आलोचना—

फ्रोबेल ने कहा है, "मानव-स्वभाव का रूप बचपन में हम जैसा देखते हैं और उसके लिये जैसी शिक्षा की आवश्यकता है उसके प्रति मेरे विचारों को संसार कदाचित् शताब्दियों बाद समझेगा।" एफ० डब्लू० पार्कर का कथन है कि "किण्डरगार्टेन उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे महत्त्व-पूर्ण शिक्षा-सुधार है।" कोर्टहोप कुछ और ही कहते हैं, 'किण्डरगार्टेन', बिना किण्डरगार्टेन के विचार के प्रयोग किया जाता है। वह बिना आत्मा के शरीर सा है। इसका ह्रास शीघ्र हो जायगा।" डा० जेम्स वार्ड कहते हैं, "किण्डरगार्टेन को समझने वाले उससे प्रशंसनीय फल दिखला सकते हैं। परन्तु यह निष्प्राण यन्त्र के समान प्रतीत होता है। बच्चे के व्यक्तित्व विकास का स्थान इसमें बहुत कम है क्योंकि उन्हें प्रारम्भ से ही सभी खेल खेलने को कहा जाता है।" इन महानुभावों की उक्तियाँ अपने सीमित क्षेत्र में कुछ सत्यता रखती है। परन्तु शिक्षा-क्षेत्र में फ्रोबेल की महत्ता में उन्हें भी संदेह न होगा। विचारपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि फ्रोबेल के निर्णय सभी ठीक होते हैं पर अपने निर्णय का जो कारण वह बतलाता है वह साधारणतः ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। फ्रोबेल का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक न होकर आध्यात्मिक है। पर वह अपने विचारों को क्रमबद्ध न कर सका। अतः उसकी गणना दार्शनिकों में नहीं होती, यद्यपि शिक्षा सुधारकों में उसकी गणना दार्शनिकों के सदृश् ही की जाती है। बहुत से लोगों का कहना है कि फ्रोबेल जिन चित्रों और गानों का प्रयोग करता है वे अच्छे नहीं हैं। उसमें सौन्दर्य का अभाव है। पर फ्रोबेल का यह तात्पर्य नहीं कि सदा उन्हीं चित्रों और गानों का प्रयोग किया जाय। समय और आवश्यकतानुसार उनके परिवर्त्तन करने में उसे विरोध नहीं। प्राचीन शिक्षकों के सदृश् उसे सौन्दर्य से प्रेम था। फलतः बच्चों के सभी ध्वनि और गति में वह एक 'लय' लाना

चाहता है। अतएव उसने उनके खेलों में संगीत और कविता की सहायता ली। दृष्टि, ध्वनि और स्पर्शेन्द्रिय की शिक्षा पर उसने विशेष ध्यान दिया। पेस्तॉलॉज़ी के सदृश् उसने भी स्वानुभूति को ज्ञान का आधार माना।

फ़्रोबेल अपनी एकता की कल्पना को बहुत दूर तक ले जाता है। जहाँ एकता की सम्भावना नहीं वहाँ भी वह उसे खोजना चाहता है। उसका 'भिन्नता' और 'विकास' का सिद्धान्त असंबद्ध प्रतीत होता है। विकास तो धीरे-धीरे होता है। वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था पर कूदता नहीं। विकास तो रूप के परिष्कृत होने से होता है। फ़्रोबेल ने विकास का उद्गम-स्थान आन्तरिक माना है। उसके अनुसार ज्ञान और अनुभव अन्तर्प्रेरणा से प्राप्त होता है। उसका ऐसा विचार ठीक नहीं। वस्तुतः आन्तरिक विकास में बाह्य उत्तेजना का बहुत बड़ा हाथ है। फ़्रोबेल के सभी शिक्षा-विचार उसके दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं। साधारण व्यक्ति को उसके विचार बोधगम्य नहीं हो सकते। परन्तु वह उनकी वास्तविकता में कुछ विशिष्ट शान्ति और सुख का अनुभव कर सकता है। फ़्रोबेल ने प्रथम बार छोटे बच्चों की शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उसके पहले उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। बच्चों के लिये उसने खेल की सहायता से एक नई शिक्षा-प्रणाली दी। यह सत्य है कि फ़्रोबेल अपने सिद्धान्तों को किण्डरगार्टेन के आगे कार्यान्वित नहीं कर पाया। परन्तु वर्तमान शिक्षा-विशेषज्ञ उसके बहुत से सिद्धान्तों से सहमत है। 'स्वाभाविक क्रियाशीलता' 'सहकारिता' शारीरिक परिश्रम आदि को शिक्षा-कार्य-क्रम में समावेश करते समय फ़्रोबेल से ही प्रेरणा लेनी होती है।

(१८) फ़्रोबेल का प्रभाव—

फ़्रोबेल के सिद्धान्तों का प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त होते-होते योरोप तथा अमेरिका में चारों ओर फैल गया। कर्नल पार्कर के प्राथमिक स्कूलों में फ़्रोबेल का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। सामाजिक दृष्टिकोण तथा बच्चों की क्रियाशीलता आदि भावों को शिक्षा में लाने में वह फ़्रोबेल से ही प्रभावित दिखलाई पड़ता है। शिकागो में ड्यूइ के स्कूलों में व्यावसायिक कार्यों के समावेश में भी फ़्रोबेल की ही आत्मा बोलती है। योरोप में किण्डरगार्टेन के प्रचार में फ़्रोबेल के अनुयायियों का प्रधान हाथ था। इसमें बैरॉनेस वान बूलो प्रधान थीं। योरोप के विभिन्न देशों में भ्रमण कर किण्डरगार्टेन की उपयोगिता सिद्ध करने में उसने अथक परिश्रम किया। उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रशा में

किण्डरगार्टेन का विशेष प्रचार न हो सका। साधारणतः किण्डरगार्टेन को विभिन्न देशों की सरकारों से अधिक सहायता न मिल सकी। सरकार ने उसे अपनाया नहीं परन्तु स्वतन्त्र संस्थायें इसके प्रचार में अधिक रुचि लेने लगीं। पश्चिमी योरोप में अब प्रायः सभी स्थानों पर किण्डरगार्टेन सिद्धान्तों में शिक्षकों को शिक्षा दी जाती है। फ्रान्स में छोटे बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था बड़ी ही अच्छी है। यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी शिक्षा-पद्धति में किण्डरगार्टेन की प्रधानता है। परन्तु छोटे बच्चों की शिक्षा वहाँ दो वर्ष से ही प्रारम्भ कर दी जाती है और इनकी शिक्षा में फ्रोबेल का प्रभाव स्पष्ट है। १८७४ ई० के पहले इङ्गलैण्ड में किण्डरगार्टेन का विशेष प्रचार न था, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही लोग वहाँ फ्रोबेल के सिद्धान्तों से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। अब तो इङ्गलैण्ड में किण्डरगार्टेन छोटे बच्चों की शिक्षा का एक अंग माना जाता है।

(१९) पेस्तॉलॉज़ी और फ्रोबेल—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि फ्रोबेल ने पेस्तॉलॉज़ी के ही विचारों को आगे बढ़ाया परन्तु दोनों में हमें भेद मिलता है। इस पर कुछ संकेत ऊपर किया जा चुका है। पेस्तॉलॉज़ी केवल धार्मिक प्रवृत्ति ही का था। उसके अपने ऐसे दार्शनिक विचार नहीं जिन पर वह शिक्षा-सिद्धान्त को अवलम्बित करता। मनोविज्ञान में भी उसकी प्राप्त प्रगति न थी। उसके दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त 'ऑन्शवॉङ्ग' तक ही सीमित थे। फ्रोबेल का अपना दार्शनिक विचार था। उसी पर उसने शिक्षा-सिद्धान्तों को अवलम्बित किया। अपने दार्शनिक विचारों के सामने 'शिक्षक फ्रोबेल' छिप जाता है। किन्तु पेस्तॉलॉज़ी हर समय हमारे सामने शिक्षक के ही रूप में आता है। श्री राबर्ट उलिच का कहना है कि "फ्रोबेल अपने धार्मिक अनुभवों में हरबार्ट से अधिक पेस्तॉलॉज़ी के समीप आता है। परन्तु अपनी अन्वेषण-शक्ति में वह पेस्तॉलॉज़ी से अधिक हरबार्ट के निकट दीख पड़ता है।"

(२०) हरबार्ट और फ्रोबेल—

हरबार्ट ने शिक्षक को बच्चे से अधिक प्रधानता दी। फ्रोबेल इसके विपरीत बच्चे को प्रधानता देता है। हरबार्ट नए विचारों को पुराने विचारों से जोड़कर बच्चे का विकास बाह्य उत्तेजना पर अवलम्बित करता है। फ्रोबेल बच्चे के विचारों को न जोड़कर उसकी नई रुचि को पुरानी से जोड़ना चाहता है। बच्चे का अनुभव, रुचि और क्रियाशीलता उसकी शिक्षा का प्रधान साधन

है। हरबार्ट के अनुसार बच्चे का नैतिक विकास कक्षा के उचित अध्यापन से ही सम्भव है। फ्रोबेल के अनुसार उसका विकास उसकी स्वाभाविक क्रिया-पर ही अवलम्बित है। हरबार्ट विशेषकर मानसिक शिक्षा पर बल देता है। फ्रोबेल भावनाओं की शिक्षा को महत्त्व देता है।

(२१) फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धान्त-सार—

अधोलिखित फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धान्तों के सार कहे जा सकते हैं—

१—प्रकृति और मानव जीवन में एकता है।

२—हर स्थान पर ईश्वर व्याप्त है।

३—वस्तुओं का अस्तित्व 'दैवी एकता' में है।

४—विकास सार्वलौकिक नियमानुसार होता है।

५—बच्चे और पौधे के विकास में समानता है।

६—मस्तिष्क 'क्रियाशील' है, जानना, अनुभव करना और संकल्प करना इसका प्रधान कार्य है।

७—शिक्षा का उद्देश्य प्रकृति, मानव जाति और ईश्वर का ज्ञान देकर शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है।

८—क्रियाशीलता और अभ्यास से ही विकास सम्भव है। विकास सदा एक क्रम से होता है।

९—शिक्षा का रूप क्रियाशीलता है।

१०—खेल बच्चे की स्वाभाविक क्रिया है। अतः वह उसकी शिक्षा का सर्वोत्तम साधन है।

११—रुचि के आविर्भाव के लिए बच्चे के स्वाभाविक कार्य में योग देना है।

१२—बच्चे की शिक्षा में अध्यापक की रुचि को स्थान नहीं। 'आत्म-क्रियाशीलता' ही उसका सब से बड़ा शिक्षक है।

१३—शिक्षा भावी जीवन के लिए तैयारी नहीं है वरन् उसका तात्पर्य वातावरण के सामूहिक जीवन में भाग लेना है। 'स्कूल' समाज का छोटा रूप है।

१४—'उपहार' वास्तविक सत्य की ओर संकेत करता है। उसकी सहायता से बच्चा अपने स्वभाव को समझ सकता है।

१५—गाना, संकेत करना, बनाना और बोलना बच्चे का सरल स्वभाव है। अतः उसकी शिक्षा में इनका समावेश आवश्यक है।

१६—शिक्षक केवल ऐसा निरीक्षक है जिसमें बच्चे के प्रति सहानुभूति कूट-कूट कर भरी हुई होनी चाहिये।

१७—कुप्रवृत्तियों को अवसर न दिया जाय तो उनका लोप अपने आप हो जायगा।

१८—बच्चे की 'आत्म-क्रियाशीलता' का उसके सामाजिक तथा नैतिक विकास में उपयोग करना है।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

मनोवैज्ञानिक प्रगति

१—तात्पर्य

मनोवैज्ञानिक प्रगति प्रकृतिवाद का फल, बालक के स्वभाव, रुचि, योग्यता तथा मस्तिष्क का ज्ञान आवश्यक, मध्ययुग में प्रारम्भिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं, उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों का ध्यान प्राथमिक शिक्षा पर, प्रकृतिवाद का ध्यान 'बालक स्वभाव' और 'पाठन-विधि' पर, मनोवैज्ञानिक प्रगति के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य आन्तरिक शक्ति का विकास।

रूसो के निषेधात्मक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना मनोवैज्ञानिक प्रगति का कार्य, मध्यम मार्ग का अवलम्बन, प्रचलित शिक्षा में सुधार लाना, पाठन-विधि के परिवर्तन पर अधिक बल, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगति से प्रोत्साहन, बच्चे का कार्यशीलता पर बल।

२—पेस्तॉलॉजी (१७४६–१८२७)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

सुधार की ओर प्रवृत्ति, किसान बनने का निश्चय, शिक्षा सुधार का साधन, शिक्षा का अभिप्राय व्यवहार करना सिखाना, आदर करना सिखाना, व्यावहारिक शिक्षा, पहले बातचीत करना सिखाना।

(२) उसके शिक्षा-सिद्धान्त—

दीन बालकों के गुणों को शिक्षा द्वारा विकसित करने में विश्वास, उस समय की सामाजिक तथा स्कूल की दशा अच्छी नहीं, उसका उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य बनाना, शरीर और मस्तिष्क में निकट सम्बन्ध स्थापित करना, शिक्षा से व्यावहारिकता, नैतिक, बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियों का विकास, शक्तियों का अनुरूप विकास, 'बालकों का महत्त्व' सब से अधिक, प्रारम्भिक स्थिति पर विशेष ध्यान, शिक्षा की व्यवस्था स्वाभाविक शक्तियों के अनुकूल।

बालकों को प्यार करो, बिना 'विश्वास' और 'प्रेम' के बालक नहीं बढ़ सकता, उनकी सम्भावनाओं को पहचानना, ईश्वर की प्रार्थना, उद्देश्य—व्यावहारिक, नैतिक और सामाजिक।

(३) 'ऑन्शवॉङ्ग'—

ज्ञान के लिये स्वानुभूति आवश्यक, प्रत्यक्ष अनुभव ही 'ऑन्शवॉङ्ग', उसके समय में मनोविज्ञान का विकास अधूरा, उसके अनुसार केवल 'संख्या', 'आकृति' और 'नाम' ही स्वानुभूति का सारभूत—प्रारम्भिक शिक्षा का यही आधार, पहले 'गिनना', 'नापना' तथा बोलना सिखाना।

संख्या, आकृति और नाम ही क्यों चुना गया ? जानने योग्य वस्तुएँ इनके अन्तर्गत, रस्क की आलोचना—सहमत नहीं, पेस्तालॉजी, 'गति' और परिवर्तन को भूल जाता है।

(४) शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना—

शिक्षा की व्यवस्था बुद्धि के विकास के अनुसार, निरीक्षण और प्रयोग-विधि का भी समावेश, प्रारम्भिक शिक्षा स्वानुभव प्राप्त ज्ञान पर।

पाठ्य-वस्तु एक दूसरे से क्रमबद्ध, 'आकृति' के विभिन्न अंगों में अभ्यास, सीधी, तिरछी और टेढ़ी आकृति।

(५) अंकगणित का पढ़ाना—

चौंसठ में आठ कितनी बार ? तख्ते पर सौ चौकोर खाने इकाई, दहाई आदि पढ़ाने के लिए, उँगलियों और पत्थर की टुकड़ियों की सहायता से जोड़ना व घटाना; भिन्नों की तालिका, मौखिक शिक्षा।

(६) ज्यामिति में शिक्षा—

ज्यामिति में आकृति स्वयं खींचना, परिभाषा का रटना नहीं, कागज को काटकर नमूना भी बनाना।

(७) प्रकृति-अध्ययन, भूगोल व इतिहास—

प्रकृति-अध्ययन, भूगोल तथा इतिहास में निरीक्षण-विधि, घाटियों तथा पहाड़ियों का नमूना बनाना, पेड़, फूल तथा चिड़ियों का आकार बनाना, अपने अनुभव का वर्णन करना, संगीत के स्वरों को प्राथमिक अंशों में विभाजित कर क्रमबद्ध करना।

(८) नैतिक और धार्मिक शिक्षा—

नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा में 'विवेक' का विकास करना; माता-सा प्रेम, प्रश्नोत्तर, तथा सिद्धान्त-निरूपण से ईश्वर-भक्ति उत्पन्न करना; इच्छाओं की पूर्ति शीघ्र नहीं।

(९) प्रत्यक्ष पदार्थों की सहायता से शिक्षा—

प्रत्यक्ष पदार्थों की सहायता से शिक्षा, मौखिक शिक्षा का अधिक महत्त्व, बालकों के समूह को पढ़ा सकना, पुस्तकों का महत्त्व घट गया।

(१०) विश्लेषण और संश्लेषण—

शब्दचयन की वृद्धि क्रमबद्ध रूप में, विश्लेषण अध्यापकों द्वारा—संश्लेषण विद्यार्थियों द्वारा, वस्तु का सूक्ष्मतम विश्लेषण करना मनोवैज्ञानिक।

(११) शक्तियों के विकास से चार अभिप्राय—

१—प्रवृत्ति का दिखलाई पड़ना, २—स्वाभाविक प्रौढ़ता, ३—शिक्षा, ४—सभी शक्तियों की साधारण प्रौढ़ता; शिक्षा से किसी भी शक्ति का विकास सम्भव, अनुरूप विकास के सिद्धान्त के कार्यान्वित करने में अव्यावहारिक विषयों का अभ्यास कराया गया, विशेष योग्यता की ओर ध्यान नहीं, पाठ्य-वस्तु को बदल दिया।

(१२) 'स्कूल प्यार का घर'—

बालकों के प्रति सहानुभूति रखना आवश्यक, प्रेम की दृष्टि उन्हें ऊँचा उठा सकती है, शिक्षक और शिष्य में पिता-पुत्र जैसा प्रेम, स्कूल का वातावरण कृत्रिम न हो, शिक्षक उपदेशक नहीं, शिक्षक मार्ग प्रदर्शक।

(१३) शिक्षा में दण्ड का स्थान—

जहाँ तक सम्भव हो दण्ड न देना चाहिये, देने और पाने वाले दोनों पर बुरा प्रभाव।

(१४) पेस्तॉलॉज़ी की प्रणाली प्रयोगात्मक—

उसकी पाठन-विधि प्रयोगात्मक, वैज्ञानिक शुद्धता नहीं, तत्कालीन प्रणालियों में उसकी प्रणाली श्रेष्ठ।

(१५) पेस्तॉलॉज़ी ने रूसो के निषेधात्मक सिद्धान्तों को निश्चयात्मकता दी—

रूसो के सदृश् शिक्षा का आयोजन बालक की रुचि और प्रकृति के अनुसार।

(१६) पेस्तॉलॉज़ी और रूसो—

रूसो केवल धनी बालक की शिक्षा पर, पेस्तॉलॉज़ी दीन बालकों की शिक्षा पर—सार्वलौकिक शिक्षा की नींव।

रूसो 'रटाने' के विरुद्ध—अपना अनुभव प्रधान, बालक को स्कूल से हटा लेना; पेस्तॉलॉज़ी अधिक व्यावहारिक, ज्ञानेन्द्रियों का प्रत्यक्ष अनुभव शिक्षा का आधार; रूसो-बारह वर्ष तक शिक्षा नहीं, पेस्तॉलॉज़ी—विषयों के स्वाभाविक अध्ययन में ही क्रिया-शीलता, विभिन्न विषयों को बच्चों के लिए सरल बना दिया।

रूसो—आन्तरिक शक्तियों का विकास, पेस्तॉलॉज़ी—अनुरूप विकास।

शिक्षा स्वभावानुसार, परन्तु नियन्त्रण से एक निश्चित पथ पर, शक्तियों के विकास से ही व्यक्तित्व, रूसो-ऊटपटाँग विकास, पेस्तॉलॉजी-स्वाभाविक योग्यता और मनोवैज्ञानिक आवश्यकतानुसार।

(१७) पेस्तॉलॉजी की महानता—

पेस्तॉलॉजी की महानता कार्य प्रारम्भ करने में, शिक्षा ही सभी कुरीतियों की औषधि; रूसो के प्रकृतिवाद को सबके लिये सुलभ किया, स्कूल के वातावरण को बदला, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रगति उसके सुधारों के कारण।

(१८) बेसडो और पेस्तॉलॉजी—

बेसडो के सदृश बालक के मस्तिष्क को सांसारिक बातों से भरना नहीं चाहता, बेसडो-बहुत से विषयों को साथ ही पढ़ाना, मानसिक विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं, पेस्तॉलॉजी स्पर्धा-भावना का पक्षपाती नहीं :

बेसडो—शिक्षा वस्तुओं के व्यक्तिगत ज्ञान से, पेस्तॉलॉजी निरीक्षण कला भी सिखलाता था, विचार-शक्ति के विकास के लिए अलग अभ्यास नहीं, अंकगणित से व्यावहारिकता का अधिक ज्ञान, बेसडो के प्रतिकूल भाषा का समावेश प्रत्येक विषय में, धार्मिक शिक्षा की ओर अधिक प्रवृत्ति।

(१९) पेस्तॉलॉजी के सिद्धान्तों के सार—

(२०) स्कूलों पर पेस्तॉलॉजी का प्रभाव—

३—हरबार्ट (१७७६-१८४१)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

आध्यात्मिक प्रवृत्ति, पेस्तॉलॉजी से प्रेरणा; दोनों का जीवन-आदर्श भिन्न।

(२) शिक्षा-उद्देश्य—

शिक्षा को दार्शनिक बनाना, मानव स्वाभाव को समझने के लिये अध्यात्म-विद्या उत्तम, शिक्षा की नींव आध्यात्मक-विद्या पर, उसके शिक्षा-सिद्धान्तों के तीन भाग, बालकों के विचारों को नियन्त्रित करना सम्भव, विभिन्न विचारों का विकास करना, विचारों के विकास से क्रियाशीलता, पुनः चरित्र-निर्माण सम्भव, अच्छे विचारों से नैतिक तथा धार्मिक भाव उत्पन्न करना, नैतिकता के विकास से चरित्र-निर्माण।

(३) हरबार्ट और पेस्तॉलॉजी—

पेस्तॉलॉजी का कार्य एकांगीय, हरबार्ट ने उसके अधूरे काम को पूरा किया।

पे०—वस्तुओं का अध्ययन, स्कूल का प्रधान कार्य।

ह०—नैतिकता का वातावरण लाना।

पे०—निरीक्षण का महत्त्व।

ह०—नैतिकता से चरित्र-विकास, हरबार्ट का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पेस्तॉलॉजी से आगे।

पे०—शक्तियों का अनुरूप विकास।

ह०—सद्व्यवहार; गुण का विशेष महत्व; सौन्दर्य कला नीति-कला से श्रेष्ठ, केवल

सौन्दर्य-सुख से पूर्ण विकास नहीं, व्यक्तित्व का विकास ही आदर्श, शिक्षा का आधार आचरण-शास्त्र भी।

(४) हरबार्ट का भाव-सिद्धान्त—

'शक्ति मनोविज्ञान' स्वीकृत नहीं, मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का योग नहीं, शिक्षा का आधार उसका "विचार-सिद्धान्त"।

(५) उसका विचार-सिद्धान्त (थियरी ऑव् आइडियाज़)—

सभी विचार समान महत्व के नहीं, कुछ चेतना-धारा में देर तक ठहरते हैं, वातावरण के सम्पर्क से शक्तियों का विकास, विचारों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं उचित, वातावरण का आयोजन।

समान, असमान और विरोधी विचार; समान विचार आपस में मिलकर एक हो जाते हैं।

असमान विचारों का मिश्रण।

परस्पर विरोधी विचार : न एकमय और न मिश्रित, एक दूसरे को चेतना से भगाने की चेष्टा।

'पूर्व संचित ज्ञान' (अपरसेप्शन्)।

मानसिक जीवन विभिन्न विचारों से ओतप्रोत, नये विचारों का पुराने से सम्बन्ध, वांछित विचार अग्रगण्य, रुचि पर ध्यान देना, आन्तरिक अनुभव का भी महत्व, 'सीखना' मानसिक स्थिति पर निर्भर, विश्लेषण करने की शक्ति के अनुपात में नया ज्ञान।

पाठ्य-वस्तु क्रमबद्ध रूप में, मानसिक विकास के अनुकूल, बालक का मस्तिष्क 'आत्मसात् क्रिया' और 'मनन' के अन्दर, दोनों पर समान बल।

(६) हरबार्ट के 'नियमित पद' (फ़ॉर्मल स्टेप्स)—

प्रस्तावना, विषय-प्रवेश, पुराने विचारों का विश्लेषण।

पुराने विचारों से सम्बन्ध स्थापित करना।

नियमित पद नितान्त आवश्यक नहीं, अन्य विधियों का भी उपयोग।

'नियमित पद' की सफलता 'ज्ञान' देने में, 'कौशल' शिक्षा में नहीं, 'स्वयं पूर्ण पाठ' में ही इनका उपयोग।

(७) विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक विधि (एनलिटिक एण्ड सिन्थेटिक)—

दोनों की आवश्यकता।

(८) रुचि व बहुरुचि (इनटेरेस्ट—मेनी साइडेड इनटेरेस्ट)—

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य रुचि उत्पन्न करना, रुचि सदा ज्ञान प्राप्त करने के साथ, इच्छित वस्तु पर निर्भर, इच्छा के पूर्ण होने पर रुचि लुप्त, मनोरंजन रुचि नहीं, विभिन्न विचारों से बहुरुचि उदार और निष्पक्ष बनने में सहायक, व्यक्ति की विशिष्ट

योग्यता में बाधा नहीं, सभी विषयों में रुचि पर एक में प्रवीणता भी, बहुरुचि से भी चरित्र का पूर्ण विकास सम्भव।

रुचि स्वाभाविक योग्यता पर निर्भर; बहुरुचि में सामञ्जस्य के लिये विषयों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना, 'विशिष्ट योग्यता' के सहारे; सब एक ही विषय प्रतीत हों, प्राचीन साहित्य, भाषा तथा इतिहास से बहुरुचि का विकास सम्भव, व्यक्ति और जाति के विकास में समानता; ज़िलर—'संस्कृत युग सिद्धान्त' (कल्चर इपॉक थियरी), पाठन-वस्तु का चुनाव इसी विकास के अनुसार; उन्नीसवीं शताब्दी में इसका प्रभाव।

ध्यान रुचि पर निर्भर, रुचि से ही नये विचारों का संचार, आगे जानने की सदैव इच्छा, बहुरुचि से बालक की प्रतिभा बहुमुखी, इच्छा मस्तिष्क की स्वतन्त्र शक्ति नहीं, इच्छा एक मानसिक क्रिया, इच्छा अनुभव का फल।

(९) अन्तः स्वातन्त्र्य—

मन, वचन और कर्म के सामञ्जस्य से ही इसका महत्व सम्भव, प्रतिदिन का अभ्यास, अच्छे कर्मों की ओर उत्साहित करना, नैतिक निर्णय' सौन्दर्य भावना पर निर्भर किसी कार्य के गलत या ठीक होने का निर्णय अन्तः स्वातन्त्र्य।

(१०) विश्व का सौन्दर्य बोधक प्रदर्शन (इस्थीटिक प्रेज़ेण्टेशन ऑव् द यूनिवर्स)—

शिक्षा का आदर्श, सत्य और धर्म परायणता, शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता, सौन्दर्य, धर्म और सत्य के भावों का विकास, निपुणता, अच्छा अभिप्राय, न्याय तथा निष्पक्षता, सभ्यता की प्रगति के साथ पाठ्य-वस्तु का बदलना, स्कूल में विभिन्न विषयों की शिक्षा।

(११) विनय (डिसीप्लिन), शिक्षा (ट्रेनिङ्ग) तथा उपदेश (इन्स्ट्रक्शन)—

इसके अन्तर्गत हरबार्ट के सभी शिक्षा-सिद्धान्त निहित, विनय बुरी, परन्तु आवश्यक—इसका उद्देश्य तात्कालिक, शिक्षा का सम्बन्ध भविष्य से—चरित्र-निर्माण, हर समय—व्यक्ति का अभिप्राय देखता है, विनय—कक्षा में पूर्ण शान्ति, केवल पाठन के समय, कार्य का तात्कालिक फल देखता है।

विनय के दुरुपयोग से बालक के चरित्र में दुर्बलता, अभावात्मक, वाह्य नियन्त्रण से सम्बन्ध, अधिक नियन्त्रण से सद्वृत्तियों का ह्रास।

(१२) 'शिक्षा' और 'उपदेश'—

दोनों भविष्य की ओर, आदेश साधन, शिक्षा साध्य, चरित्र-विकास के लिये अन्तर्भावनाओं का पता लगाना, इसका पता उपदेश से ही, अन्तर्भावनाओं से विचार-वृत्त का तात्पर्य, विचार-वृत्त पर चरित्र निर्भर, शिक्षा इसी ओर केन्द्रित हो, यह उपदेश से ही सम्भव।

(१३) हरबार्ट के शिक्षा-सिद्धान्त-सार—

(१४) आलोचना—

सामाजिक दृष्टिकोण, बालक की कार्यशीलता को कम महत्व, उसके जीवन उद्देश्य और आकांक्षा की ओर कम ध्यान, स्वाभाविक प्रवृत्तियों और भावनाओं की उपेक्षा, गवेषणात्मक विधि का सूत्रपात किया, बालक को ज्ञान ही ज्ञान देने की धुन।

(१५) उसका प्रभाव—

योरोपीय विश्वविद्यालयों में हरबार्ट की विधि, ट्रेनिङ्ग स्कूल, प्रभाव प्रधानतः जर्मन स्कूलों में।

४—फ्रोबेल (१७८२–१८५२)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

प्रकृति के साथ घनिष्ठता, वस्तुओं में एकता।

(२) फ्रोबेल ने छोटे बच्चे की ही शिक्षा पर क्यों बल दिया ?

(३) फ्रोबेल के अनुसार बाल-स्वभाव—

चंचलता, अङ्ग संचालन, वस्तुओं की परीक्षा करना, अनुकरण, मिलनसार, साथियों के प्रति सहानुभूति, प्रेम, क्रोध, विवेक, नियन्त्रण आवश्यक, बचपन का महत्व।

(४) उसका शिक्षा आदर्श—

विकास सार्वलौकिक नियमानुसार, शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना, केवल बाह्य वातावरण उपस्थित करना, नींव धर्म पर ही, प्रकृति मानव जाति और ईश्वर का ज्ञान, श्रद्धापूर्ण जीवन की प्राप्ति, शिक्षा में आन्तरिक सम्बन्ध।

वस्तुओं का अस्तित्व दैवी एकता में, आन्तरिक अविछिन्नता में वास्तविकता, विकास सदा एक क्रम से हस्तक्षेप वांछित नहीं, विकास भीतर से।

(५) विकास का रूप—

बीज में प्राणी निहित, सबका विकास साथ ही, क्रियाशीलता और अभ्यास आवश्यक, भूत, वर्तमान और भविष्य की मानव जाति शृङ्खलाबद्ध।

अभ्यास के अनुकूल, आदर्श दशा नहीं, इसलिये शिक्षा की आवश्यकता, माली की उपमा बच्चा और पौधा, स्वभाव में प्रवृत्तियाँ और गुण निहित, उसी के अनुसार स्वतः विकास, किण्डरगार्टेन, माली और अध्यापक।

(६) खेल का महत्व—

बच्चे का विकास खेल में योग देने से, खेल पवित्र और आध्यात्मिक, विकास का भाग करना घातक, बचपन खेल के लिये, लड़कपन कार्य के लिये।

(७) मानसिक विकास—

मानसिक क्रिया—जानना, अनुभव करना और संकल्प करना, इन तीनों के अनुसार एक साथ ही अभ्यास।

(८) दैवी-शक्ति—

इसके अनुकूल न चलने से ही अवनति, 'दैवी अंश' वस्तु की 'सच्ची कल्पना'; पूर्ण विकास के लिये इसका समझना आवश्यक, प्रकृति में अविरल क्रियाशीलता, शिक्षा का सच्चा रूप क्रियाशीलता, परिश्रम और अध्यवसाय में ईश्वर के समान होना।

रुचि के लिये स्वाभाविक कार्यों में योग देना, रुचि को समझने के लिये खेलों का अध्ययन, खेलों द्वारा ही बच्चों को सामाजिक अनुभव देना, छोटे बच्चों की शिक्षा के लिये खेल सर्वोत्तम साधन, खेल में उद्देश्य डालना।

(९) आत्मक्रिया—(सेल्फ़ ऐक्टीविटी)—

बच्चे का व्यक्तित्व, उसके सभी कार्य रुचि के अनुसार ही, उसका कार्य बिना उद्देश्य के नहीं, अध्यापक की इच्छा को स्थान नहीं, अपनी विलक्षणता की रक्षा।

फ्रोबेल निरीक्षण का पक्षपाती नहीं क्योंकि केवल मस्तिष्क ही क्रियाशील, माता-पिता के स्वभाव के सार को अपनाना, ईश्वर और प्रकृति के भाव को अपनाना, कुटुम्ब और मानवता के स्वभाव का प्रतिनिधित्व, संश्लेषणात्मक क्रियाशीलता।

(१०) नई शिक्षा-प्रणाली—

गाना, संकेत करना और बनाना सरल स्वभाव—इसका उचित आयोजन करना नितान्त आवश्यक, बच्चे की शिक्षा इन्हीं साधनों द्वारा, उसके सामने वास्तविकता उपस्थित करने की चेष्टा, ये चेष्टायें एक दूसरे पर निर्भर, शिक्षक केवल निरीक्षक।

(११) 'उपहार' और 'कार्य'—

अपने दार्शनिक विचारों की भित्ति, पर सामूहिक खेल, उपहार के चुनाव में बच्चे के विकास का ध्यान, बच्चे के कार्य का स्वाभाविक होना आवश्यक।

(१२) पाठ्य-वस्तु—

शारीरिक परिश्रम, चित्रकारी, प्रकृति अध्ययन, बागवानी, प्राकृतिक विज्ञान, गणित, भाषा, कला, धर्म धार्मिक शिक्षा।

(१३) प्रथम उपहार—

ऊन के रंग बिरंगे छः गेंद में अपने जीवन की समानता का आभास।

(१४) दूसरा उपहार—

दूसरी भेंट-त्रिघात, गोला तथा बेलन, प्रकृति तथा सृष्टि के नियम का आभास,

'सेलन' में स्थिरता और अस्थिरता का सामञ्जस्य, दो भिन्न वस्तुओं की एकता का उदाहरण।

(१५) तीसरा उपहार—

लकड़ी का त्रिघात—आठ भागों में विभाजित, 'सम्पूर्ण' और 'भाग' के आन्तरिक सम्बन्ध को समझना, अविरल विकसित होने का आभास; चौथे, पाचवें और छठे उपहार में पाटी, छड़ी और छोटी कुण्डली,—सतह रेखा और बिन्दु की कल्पना, कार्यशीलता की ओर अध्यापक को संकेत करना।

(१६) फ्रोबेल की 'बिनय-भावना' की धारणा—

गुण का विकास उसके अभ्यास से ही, कुप्रवृत्तियों को क्रियाशील न होने देना, इच्छाशक्ति का प्रबल होना।

(१७) आलोचना—

फ्रोबेल के निर्णय ठीक पर उनके लिये दिये हुये कारण भ्रमात्मक, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, सौन्दर्य-भावना की कमी नहीं, दृष्टि, ध्वनि और स्पर्शेन्द्रिय की शिक्षा पर ध्यान।

एकता की कल्पना बहुत दूर तक, 'भिन्नता' और 'विकास' सिद्धान्त असंबद्ध, ज्ञान और अनुभव अन्तर्प्रेरणा से नहीं, उसके शिक्षा-विचार दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित, छोटे बच्चों की शिक्षा पर ध्यान आकर्षित किया, खेल की सहायता से नई शिक्षा-प्रणाली, वर्तमान शिक्षा पर उसका प्रभाव।

(१८) फ्रोबेल का प्रभाव—

कर्नल पार्कर और ड्यूइ पर प्रभाव, योरोप में किण्डरगार्टेन के प्रचार में सरकारी सहायता नहीं, स्वतन्त्र संस्थाओं में अधिक रुचि, फ्रान्स, इङ्गलैण्ड।

(१९) पेस्तॉलॉज़ो और फ्रोबेल—

(२०) हरबार्ट और फ्रोबेल—

(२१) फ्रोबेल के शिक्षा सिद्धान्त-सार—

सहायक पुस्तकें

१—मनरो—'ए टेक्स्ट बुक इन द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन'।

२—ग्रेव्स—'ए स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय २२, २४ (मैकमिलन क०)।

३—कबरली—'दी हिस्ट्री आव् एडूकेशन', अध्याय २१, २८।

४— „ —'रीडिङ्ग्ज़ इन द हिस्ट्री आव् एडूकेशन', अध्याय २१–२६७, २७०, (हौटन मिफलिन क०)।

५—हार्डी—'ट्रुथ ऐन्ड फ़ैलेसी इन एडूकेशन थियरी'—अध्याय, २ (केम्ब्रिज यू० प्रे०) ।
६—रस्क—'दी डॉक्ट्रिन्स ऑव् द ग्रेट एडूकेटर्स'—अध्याय, ६–११ (मैकमिलन) ।
७—उलिच—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशनल थॉट' पृष्ठ २५८–२६१ (अमेरिकन बुक क०) ।
८—क्विक—'एडूकेशनल रीफ़ॉमर्स' अध्याय—१६, १७ (लाँङ्गमैन्स) ।
९—फ्रोबेल—(अनुवादक जेरविस) 'एडूकेशन बाइ डेवलपमेण्ट' (एपलिटन) ।
१०—पेस्तॉलॉज़ी फ्रोबेल तथा हरबार्ट की रचनाएँ ।
११—बरनार्ड—'पेस्तॉलॉज़ी ऐण्ड पेस्तॉलॉजियनिज़्म' (न्यूयार्क १८७५) ।
१२—क्रूसी—'लाइफ़ ऐण्ड वर्कस ऑव् पेस्तॉलॉज़ी' (न्यूयार्क १८७५) ।
१३—पार्कर—'मॉडर्न एलेमेण्टरी एडूकेशन (गिन, १९१२)' अध्याय १३-१६ ।
१४—पिनलॉक, ए०—पेस्तॉलॉज़ी ऐण्ड द फ़ॉउन्डेशन ऑव् द एलेमेण्टरी स्कूल (स्क्रिबर १९०१) ।
१५—लैङ्ग—अपरसेप्शन—(न्यूयार्क, १८९२) ।
१६—फ़ेलकिन—'हरबार्ट्स साइन्स ऑव् एडूकेशन' ।
१७—हैरिस, डब्लू० टी—'हरबार्ट ऐण्ड पेस्तॉलॉज़ी कम्पेयर्ड' (एडूकेशनल रिव्यू, भाग १०, पृ० ७१-८१)
१८—ह्यूज़, जे० एल—दी एडूकेशनल थियरीज़ ऑव् फ्रोबेल ऐण्ड हरबार्ट (एडूकेशनल रिव्यू भाग ६, पृ० २३९-२४७)
१९—वार्ड, जे०—हरबार्ट (इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटैनिका)

११

वैज्ञानिक प्रगति

१—तात्पर्य

(१) वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव—

गत अध्याय में हम देख चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक प्रगति का ध्यान विशेषकर पाठन-विधि की ही ओर था। प्रचलित पाठ्य-वस्तु को बदलने का आन्दोलन नहीं किया गया। शक्ति मनोविज्ञान को भ्रमात्मक घोषित कर दिया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लोगों का यह विश्वास हो चला कि 'विधि' से 'वस्तु' का महत्त्व कम नहीं; अपितु कुछ अंशों में अधिक भी है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक सारा योरोप व्यावसायिक और औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव में आ गया था। इसमें नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों का बड़ा हाथ था। विज्ञान का महत्त्व पहले से अब बहुत बढ़ गया। यों तो वैज्ञानिक युग का प्रारम्भ सत्तरहवीं शताब्दी से ही माना जाता है; पर अटारहवीं शताब्दी तक उसका जीवन पर विशेष प्रभाव न पड़ सका था। उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान के क्षेत्र में नई-नई बातों का पता लगाया जाने लगा। डारविन का 'विकास-सिद्धान्त', मेण्डेल का 'वंशानुक्रम का नियम' (लॉ ऑव् इनहेरिटेन्स), लीविग तथा अन्य वैज्ञानिकों की शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी खोज, जूल और मेयर की 'शक्ति'-सम्बन्धी गवेषणा तथा अन्य वैज्ञानिकों की विभिन्न खोज और आविष्कारों से लोगों के जीवन आदर्श बदलने लगे। मध्यकालीन अन्धविश्वास अब तक भी लोगों को घेरे हुए था। परन्तु विज्ञान रूपी प्रकाशदीप से तिमिर छिन्न-भिन्न होने लगा। लोगों के दृष्टिकोण पहले से उदार होने लगे। इस वैज्ञानिक प्रगति का शिक्षा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

(२) व्यावहारिकता की ध्वनि—

शिक्षा में वैज्ञानिक प्रगति का प्रारम्भ रूसो से भी माना जा सकता है। हम देख चुके हैं कि रूसो ने वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आन्दोलन की नींव डाली थी। प्रकृतिवादियों ने 'प्रकृति की ओर' का नारा लगाया था। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक प्रगति के कर्णधारों ने

रूसो के ही कार्य को आगे बढ़ाया। इसके अतिरिक्त विज्ञान की उन्नति से लोगों को यह विश्वास होने लगा कि स्कूलों की पाठ्य-वस्तु समयानुकूल नहीं है। स्कूलों का कार्य ऐसा चल रहा था मानो 'होली' गाने के समय 'मलार' का अलाप किया जा रहा हो। अब शिक्षा को लैटिन, ग्रीक, गणित तथा व्याकरण आदि तक ही सीमित नहीं समझा गया। मनोवैज्ञानिक प्रगति के सुधारकों ने प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की आलोचना अपने मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारों के आधार पर की थी। परन्तु वैज्ञानिक युग में 'व्यावहारिकता' की ध्वनि उठाना स्वाभाविक ही था। अब लोगों के सामने जीवन-यापन के विभिन्न साधन दिखलाई पड़ने लगे। अपनी रुचि के अनुसार इन साधनों में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये लोगों ने पाठ्य-वस्तु में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करने की माँग उपस्थित की। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वकाल में इस माँग को उठाने वालों में जार्ज काम्ब (१७८८-१८५८) प्रमुख था। अठारहवीं शताब्दी तक विज्ञान का रूप क्रमबद्ध न हो सका था। परन्तु अब ऐसी बात नहीं। उसका रूप तर्क-बद्ध हो जाने से शिक्षा में उसे स्थान देने में कोई अड़चन न थी। इस प्रकार लोगों ने प्रकृति तथा विज्ञान के महत्त्व को समझा। परिणाम-प्रणाली की श्रेष्ठता भी सबको स्वीकार करनी पड़ी। परन्तु इतने से ही कार्य न चला। प्रचलित प्रथा में किसी प्रकार का परिवर्त्तन असम्भव सा दिखलाई पड़ता था। व्याकरण, भाषा तथा गणित आदि की पढ़ाई इतने सुसंगठित रूप से चल रही थी कि प्रायः सभी स्कूलों ने पाठ्य-वस्तु के परिवर्त्तन का घोर विरोध किया।

(३) शिक्षा के आदर्शों में परिवर्त्तन—

'विज्ञान के अनुयायी' व्यक्ति को ऐसी शिक्षा देना चाहते थे कि वह अपना जीवन सुख से व्यतीत कर सके। वे समाज तथा व्यक्तिगत-हित के लिये भाषा, सहित्य, व्याकरण, गणित आदि विषयों की शिक्षा देना चाहते थे। उनका अनुमान था कि भौतिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक बातों को समझने के लिये ये विषय आवश्यक हैं। इन विषयों में ज्ञान देने के अतिरिक्त वे व्यक्ति को व्यावहारिक भी बनाना चाहते थे। इसके लिये वे उसे ऐसी शिक्षा देना चाहते थे जिसका व्यावहारिक जीवन में वास्तविक महत्त्व हो। मानसिक शक्तियों का विकास करने के लिये उसे विभिन्न कर्तव्यों के योग्य बनाना चाहते थे जिससे उसका जीवन सफल हो। उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिक भाषा और साहित्य का इतना विकास हो गया था कि वह लैटिन और ग्रीक का समकक्ष समझा जा सकता था। कला का भी पहले

से अधिक विकास हो गया था। प्रकृति और उसकी शक्तियों से लोग परिचित हो रहे थे। वैज्ञानिक आविष्कारों की तो बात ही क्या थी इन सब परिवर्त्तनों के कारण उदार शिक्षा की परिभाषा बदलना नितान्त आवश्यक-सा जान पड़ने लगा। अब सभी प्रकार के अध्ययन की उपयोगिता उसकी व्यावहारिकता से आँकी जाने लगी। उदार शिक्षा की परिभाषा में अब नागरिकता के गुणों का समावेश किया गया। "उदार शिक्षा वह है जो कि व्यक्ति को नागरिक के पूरे कर्तव्यों का ज्ञान करा सके।" विज्ञान की उन्नति इतनी हो गई थी कि उसके किसी अंग का अध्ययन उच्च शिक्षा के अन्तर्गत माना जाने लगा। उनमें पाण्डित्य पाना भी उदार शिक्षा का अङ्ग समझा गया। इन सब नये विचारों से प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक विज्ञान के अध्ययन की धुन सबको सवार हुई। परन्तु सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करना एक व्यक्ति के लिये सम्भव न था। अतः उसकी रुचि को हर स्थान में प्रधानता दी गई। व्यावसायिक शिक्षा को महत्त्व तो दिया गया पर उसे 'उदार' शिक्षा से अलग रखना श्रेयस्कर न समझा गया क्योंकि उससे व्यक्ति के संकुचित हो जाने का डर था। अतः व्यावहारिक शिक्षा पाने वाले बालक को अन्य विषयों से भी कुछ परिचित कराने का सिद्धान्त भी मान लिया गया। पाठक यह ध्यान रखें कि 'प्रणाली और रुचि' के सम्बन्ध में वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक शिक्षा में कोई मतभेद न लाया गया। पाठ्य-वस्तु में अवश्य मतभेद था। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथा सामाजिक प्रगतियों में विशेष अन्तर नहीं। इङ्गलैंड के स्पेन्सर और हक्स्ले इन विचारों के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। आगे हम इन्हीं का वर्णन करेंगे।

२—हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०-१९०३)

(१) प्रारम्भिक ज़ीवन—

स्पेन्सर का जन्म डरबी नामक स्थान में हुआ था। उसका पिता स्कूल में अध्यापक था। वह रसायन तथा भौतिक-शास्त्र का विद्वान् था। उसका अपना व्यक्तित्व था। उसका 'स्व-शिक्षा' में विश्वास था, इसलिये उसने स्पेन्सर को स्कूल न भेज कर उसकी शिक्षा का आयोजन घर ही पर सुचारु रूप से कर दिया। फलतः प्रारम्भ से ही स्पेन्सर बौद्धिक तथा साहित्यक परम्परा से घिरा हुआ था। उच्च विद्या में उसकी रुचि हो गई। सत्तरह वर्ष की उम्र में उसे प्रायः सभी विषयों का कुछ न कुछ ज्ञान हो गया। मौलिक समस्याओं पर चिन्तन करने की उसकी पहले से ही प्रवृत्ति थी। फलतः

प्राकृतिक विज्ञान तथा गणित आदि विषयों में प्रयोग करना उसके लिए साधारण सी बात हो गई। युवावस्था आते आते आर्थिक तथा सामाजिक विषयों पर उसकी लेखनी खूब चलने लगी। 'दी नॉनकॉनफ्रॉर्मिस्ट' पत्रिका में वह लेख भेजने लगा। वह १८४८ ई० में 'दी एकॉनिमिस्ट' का सहायक-सम्पादक हो गया। १८५८ ई० तक वह इतना प्रसिद्ध लेखक हो गया कि सहायक-सम्पादक का पद छोड़ वह स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने लगा। तीस वर्ष की अवस्था में उसने अपनी "सोशल स्टेटिक्स" नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उसने प्राकृतिक नियमों द्वारा समाज के विकास का विवेचन किया। जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, आचार-शास्त्र, राजनीति तथा समाज-शास्त्र की उसने व्याख्या की और प्रत्येक विषय पर एक-एक पुस्तक प्रकाशित की। उसने करीब बीस पुस्तकें लिखी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने विचारों को क्रमबद्ध करने के लिये वह जीवन भर अकथ परिश्रम करता रहा। चालीस वर्ष की अवस्था में उसके शिक्षा-विचार तर्कबद्ध हो चुके थे। १८६१ ई० में उसने अपनी 'एडूकेशन' नामक पुस्तक प्रकाशित की। अब हम इसी पर प्रकाश डालेंगे।

(२) शिक्षा का उद्देश्य—

पहले हम स्पेन्सर के शिक्षा-उद्देश्य पर दृष्टिपात करेंगे। स्पेन्सर परम्परा का अन्ध भक्त नहीं। वह बालक की रुचियों का विकास कर उन्हें उच्च उद्देश्य की ओर ले जाना चाहता है। 'बालक को केवल पढ़ाना ही नहीं, वरन् ऐसा बनाना है कि वह अपने को स्वयं पढ़ा सके।' 'शक्तियों का विकास एक क्रम से होता है। अतः उसके विकास के लिये एक क्रम की आवश्यकता है।' स्पेन्सर अपने समय के स्कूलों की पाठ्य-वस्तु की कड़ी आलोचना करता है। उनमें व्यावहारिकता का अभाव था। बच्चों के भावी जीवन पर ध्यान नहीं दिया जाता था। अतः स्कूल से प्राप्त हुई शिक्षा से वे अपने भावी कर्तव्य-पालन में सफल नहीं हो सकते थे। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को ऐसा बनाना है कि वह अपने जीवन को पूर्णतया सफल बना सके। "शिक्षा का उद्देश्य हमें सम्पूर्ण जीवन के लिये तैयार करना है। किसी शिक्षा की उपयोगिता इसी दृष्टिकोण से आँकी जा सकती है।" अच्छी प्रकार रहने के लिये हमें यह जानना है कि हम शरीर और मस्तिष्क का विकास कैसे करें। हम अपने समस्त कार्यों का प्रबन्ध किस प्रकार करें—कुटुम्ब का पालन कैसे करें, नागरिक के सदृश्

कैसे व्यवहार करें, प्रकृति द्वारा दिये सुख के साधनों का सदुपयोग कैसे करें—अपनी सारी शक्तियों का प्रयोग अपने और समाज के हित के लिये कैसे करें, बहुत से ऐसे विज्ञान हैं जो इन समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। अतः उनका पढ़ाया जाना अति आवश्यक है।

(३) स्पेन्सर के अनुसार मनुष्य के कार्य पाँच भागों में विभाजित—

१—वे कार्य जिनसे अपनी प्राण की रक्षा मनुष्य प्रत्यक्ष रीति से कर सकता है।

२—वे कार्य जो कि परोक्ष रीति से मनुष्य की जीवन-रक्षा में सहायक होते हैं।

३—वे कार्य जो कि सन्तान के पालन, पोषण और शिक्षण आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

४—वे कार्य जो समाज-नीति और राज-नीति के उचित व्यवस्थापन में योग देते हैं।

५—वे कार्य जिन्हें व्यक्ति अन्य बातों से अवकाश पाने पर मनोरंजन के लिये करता है।

स्पेन्सर का विश्वास था कि इन पाँचों प्रकार के कार्यों में सफलता प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को विज्ञान पढ़ना आवश्यक है। 'विज्ञान' ही उसके लिये सभी रोगों की रामबाण औषधि थी। अब हम यह देखेंगे कि मनुष्य के विभिन्न कार्यों के लिये किन-किन विषयों के अध्ययन की वह राय देता है।

(क) आत्म-रक्षा—

आत्म-रक्षा के लिये जितनी वस्तुओं की आवश्यकता है उसका आयोजन प्रकृति अपने आप कर लेती है, उसे वह हमारी त्रुटियों पर नहीं छोड़ती। परन्तु प्रकृति अपने नियमानुसार तभी काम कर सकती है जब व्यक्ति अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करे, वरन् अपनी बुद्धि अनुसार उसमें कुछ योग ही देता रहे। इसके लिये स्पेन्सर शरीर-विज्ञान के अध्ययन की राय देता है। इसके अध्ययन से व्यक्ति शरीर के रोग से सम्बन्ध रखने वाले स्वाभाविक नियमों से परिचित हो जायगा और साधारण बीमारियों से अपनी रक्षा कर सकेगा। अतः बालकों को शरीर और स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा देना आवश्यक है। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या डाक्टर अपने और अपने कुटुम्ब की स्वास्थ्य-रक्षा सुचारु

रूप से कर पाता है ? विरला ही कोई डाक्टर होगा जो अपनी तथा अपने परिवार के स्वास्थ्य की रक्षा आदर्श रूप से करता हो। अतः स्पष्ट है कि केवल शरीर-विज्ञान का ज्ञान ही हमारे स्वास्थ्य की रक्षा के लिये पर्याप्त नहीं। आत्म-रक्षा के लिये हमें शरीर-विज्ञान के अध्ययन की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि उसके परिणामों के अध्ययन करने की। वस्तुतः इसका अध्ययन तो स्कूली शिक्षा प्राप्त कर लेने पर ही अच्छी प्रकार किया जा सकता है।

(ख) जीविकोपार्जन—

इसके बाद स्पेन्सर उन कार्यों का विवेचन करता है जिसे व्यक्ति परोक्ष रीति से अपनी जीवन-रक्षा के लिये करता है। उसका तात्पर्य जीविकोपार्जन से है। स्पेन्सर कहता है "हमारी शिक्षा में बाह्याडम्बर ने उपयोगिता का गला दबा दिया है।" उसके अनुसार कोई ऐसा व्यवसाय नहीं, कोई कार्य ऐसा नहीं जिसमें विज्ञान की सहायता अपेक्षित न हो। उद्योगधन्धों में हमें अंकगणित की सहायता पड़ती है। मकान बनाने, जहाज चलाने, यहाँ तक कि खेती करने में बिना हिसाब के काम नहीं चल सकता। हमारे दैनिक जीवन की वस्तुएँ यन्त्र-विद्या के ही कारण हमें उपलब्ध हैं। भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र तथा पदार्थ-विज्ञान आदि की सहायता से जीवन-यात्रा सम्बन्धी अनेक अद्भुत कार्य किये जाते हैं। अतः स्पेन्सर कहता है—"विज्ञान पढ़ाओ, विज्ञान का ज्ञान हमारे जीवन में बहुत आवश्यक है। यह हमें जीवन के लिये तैयार करता है।" स्पेन्सर के अनुसार हमें प्रायः सभी प्रकार के विज्ञान बालकों को पढ़ाने पड़ेंगे। परन्तु यह असम्भव है। तो क्या हमें प्रत्येक बालक के लिये पहले से ही निश्चित कर लेना चाहिये कि उसके लिये कौन सा विज्ञान उपयोगी होगा ? यदि हम ऐसा करें तो प्रत्येक व्यवसाय के लिये हमें अलग अलग स्कूल खोलने होंगे। श्री क्विक का कथन है कि कुछ ऐसे विज्ञान हैं जो हमें व्यावहारिक ज्ञान देते ही नहीं। आँख की बनावट समझ लेने से अथवा प्रकाश का सिद्धान्त समझ लेने से हमारी आँख की ज्योति सुधर नहीं सकती। कदाचित् स्पेन्सर का तात्पर्य यह है कि सीखने वाले को वैज्ञानिक मनुष्यों से राय ले लेनी चाहिये। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बालक को सभी विज्ञानों का पढ़ाना आवश्यक नहीं परन्तु विज्ञान के कुछ प्रधान सिद्धान्तों से उसका परिचय अवश्य होना चाहिये।

(ग) सन्तान के पालन-पोषण की शिक्षा—

स्कूलों में स्पेन्सर सन्तान के पालन-पोषण के शिक्षण की भी व्यवस्था करना चाहता है। वह पूछता है कि बच्चों को किस प्रकार पालना-पोसना चाहिए, उनकी शिक्षा कैसे हो इत्यादि। तत्सम्बन्धी विषयों की शिक्षा स्कूलों में देनी चाहिये। माता-पिता इन सब बातों से अनभिज्ञ रहते हैं और इसका परिणाम भयंकर होता है। परन्तु यह राय देते समय स्पेन्सर न सोच सका कि क्या बालक ऐसी शिक्षा में रुचि ले सकेंगे। क्या बचपन में इसका ज्ञान दिया जा सकता है? केवल वे ही माता-पिता इसमें रुचि रख सकते हैं जो कि पालन-पोषण के उत्तरदायित्व का कुछ अनुभव करते हैं। तो फिर बालकों का क्या पूछना? वे तो ऐसी शिक्षा के समय ऊँघने लगेंगे। श्री क्विक की राय यह है कि इससे अच्छा होगा कि हम बच्चों को आदर्श नियमों के अनुसार पालें जिससे भविष्य में अपने बच्चों के पालन-पोषण में इन्हीं नियमों का वे अनुसरण करें।

(घ) नागरिकता की शिक्षा—

स्पेन्सर बालक को योग्य नागरिक बनाना चाहता है। नागरिकता का गुण प्राप्त करने के लिये स्पेन्सर के अनुसार इतिहास बहुमूल्य है। वह कहता है कि "परन्तु इतिहास की पुस्तकें जो उपलब्ध हैं, व्यर्थ हैं। राजनैतिक गति के ठीक सिद्धान्तों का वे पालन नहीं करते।" "कुछ ऐसी ऐतिहासिक बातें हैं जिनसे कुछ सारांश निकाला ही नहीं जा सकता। आचरण तथा व्यवहार के सिद्धान्त उससे नहीं निकाले जा सकते। मनोरञ्जन के लिये हम उन्हें पढ़ सकते हैं पर कुछ शिक्षा के लिये नहीं।" "पन्द्रह-बीस या सभी युद्धों के अध्ययन से कोई व्यक्ति बुद्धिमान मतदाता (वोटर) नहीं हो सकता।" स्पेन्सर विज्ञान को इतिहास की कुञ्जी मानता है। उसके अनुसार "बिना वैज्ञानिक ज्ञान के इतिहास का उचित उपयोग नहीं होता।" स्पेन्सर ने यह दिखलाया है कि इतिहास की पुस्तकें कैसी होनी चाहिये, उनमें किन-किन घटनाओं का कैसे कैसे वर्णन करना चाहिए परन्तु वास्तव में राजनैतिक कार्यों के ठीक सिद्धान्तों का हमें ज्ञान नहीं है। हम अधिक से अधिक बालकों को उनके राजनैतिक सिद्धान्तों का ही स्मरण दिला सकते हैं। परन्तु राजनैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्तों का कुछ ज्ञान देने के अतिरिक्त इतिहास अपना अलग महत्त्व रखता है। उसके अध्ययन से हममें उदारता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के भावों का विकास होता है।

'वर्त्तमान' भूतकाल से प्रभावित होता है। अतः उसके सौन्दर्य को समझने के लिए भूतकाल का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

(ङ) अवकाश-समय के सदुपयोग के लिए शिक्षा—

स्पेन्सर का जीवन दृष्टि-कोण बड़ा ही उदार था। 'अवकाश-समय' की भी शिक्षा का उसे ध्यान था। उसके अनुसार बालकों को मनोरञ्जन की शिक्षा चित्र-विद्या, संगीत, पूर्ति-निर्माण विद्या, कविता तथा प्राकृतिक दृश्य आदि के द्वारा देनी चाहिये। परन्तु वह इन ललित कलाओं और साहित्य की शिक्षा को विज्ञान से कम महत्त्वपूर्ण समझता है। उसके अनुसार इन सब कलाओं का सामाजिक महत्त्व युवक की शिक्षा के महत्त्व से अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्पेन्सर का स्वभाव ही विज्ञानमय हो गया था। बिना विज्ञान के वह कुछ सोच ही नहीं सकता। वह सब कुछ विज्ञान पर ही अवलम्बित करता है। उसके अनुसार विज्ञान के बिना उपर्युक्त साधनों से मनुष्य का यथेष्ट मनोरञ्जन नहीं हो सकता। संगीत, सृष्टि-सौन्दर्य तथा अन्य ललित कलाओं से पूर्ण मनोरञ्जन प्राप्ति के लिये विज्ञान आवश्यक है। 'प्रतिमा-निर्माण-विद्या' के लिये भी मनुष्य के शरीर की बनावट तथा यन्त्र-शास्त्र के नियमों से परिचित होना आवश्यक है। 'कविता में भी स्वाभाविक मनोविकारों से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता।' स्वाभाविक प्रतिमा और विज्ञान के संयोग से ही कवि और कलाकार को पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकती है।" "विज्ञान कविता की जड़ ही नहीं, वह स्वयं भी एक विलक्षण प्रकार की कविता है।" स्पष्ट है कि ललित कलाओं से स्पेन्सर को सहानुभूति नहीं क्योंकि वह उनके गूढ़ तत्त्व को न समझ सका। स्पेन्सर का यह विश्वास कि किसी कला के सीखने के लिए विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है भ्रमात्मक प्रतीत होता है। प्रायः सभी श्रेष्ठ कलाकारों को विज्ञान से विशेष रुचि नहीं रहती क्योंकि, कला तो भावना की वस्तु है और विज्ञान विवेक की। संगीत, चित्र-कला तथा कविता का अपने तथा दूसरों के लिए महत्त्व है। सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए हमें विज्ञान के अतिरिक्त और भी विषयों का समझना नितान्त आवश्यक है। सरपञ्च की पगड़ी विज्ञान महाराज के सर पर ही बाँध देना अज्ञानता का द्योतक होगा। कोई भी ऐसा एक विषय नहीं जो सभी मानसिक शक्तियों के विकास के लिये उपयुक्त हो। केवल विज्ञान की ही शिक्षा से हम जीवन को सफल नहीं बना सकते। मनुष्य केवल भौतिक जीवन ही व्यतीत नहीं करता। उसके जीवन का भावना-लोक से भी सम्बन्ध है। भावना जीवन की वह अजस्र-सरस-धारा है जो

उसके प्रत्येक कूल को प्रतिक्षण प्लावित करती रहती है। भावना अमर जीवन का रहस्य है। विज्ञान मानव जीवन की उच्चतम समस्याओं के सुलझने में मौन रहा है। पदार्थ जगत् से सम्बन्ध रखने वाला विज्ञान एक सामयिक वस्तु है। कला से उद्भूत शाश्वत ज्ञान हमारे आन्तरिक जीवन की वह अखण्ड ज्योति-किरण है जिसकी प्रभा से जागरित अन्तरतम गह्वरों में बैठकर कल्पना एक नवीन लोक का सृजन करती है। स्पेन्सर काव्य तथा कला के इस मर्म को न समझ सका।

(४) विज्ञान की उपयोगिता—

विज्ञान की उपयोगिता सिद्ध करने में स्पेन्सर थकता नहीं। उसके अनुसार भाषा पढ़ने की अपेक्षा विज्ञान पढ़ने से अधिक लाभ होगा। 'विज्ञान की शिक्षा से मनुष्य की स्मरण शक्ति ही नहीं बढ़ जाती, वरन् उससे उसकी विचार-शक्ति भी बढ़ती है।' स्पेन्सर कहता है कि लोगों का अनुमान कि विज्ञान की शिक्षा से मनुष्य नास्तिक हो जाता है भ्रमात्मक है। वह कहता है कि विज्ञान के कारण व्यक्ति नास्तिक न होकर आस्तिक हो जाता है क्योंकि विज्ञान के अध्ययन से प्रकृति व परमेश्वर में उसकी श्रद्धा अधिक बढ़ जाती है। 'विज्ञान व्यक्ति को अधार्मिक नहीं अपितु धार्मिक बनता है।" उससे विश्व की समस्त वस्तुओं की एकरूपता में उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है। उससे विचार, विवेचना और निर्णय की शक्ति बढ़ जाती है। विज्ञान व्यक्ति में आत्मनिर्भरता, अध्यवसाय तथा सत्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करता है। इस प्रकार विज्ञान उसका नैतिक विकास भी करता है।

(५) स्पेन्सर का अध्यापन-सिद्धान्त—

अब हम स्पेन्सर के अध्यापन सिद्धान्तों पर आते हैं। इन विचारों में उसकी विशेष मौलिकता नहीं। वे हमारे सामने सूत्र रूप में आते हैं और उन्हें प्रायः सभी लोग मानते हैं। स्पेन्सर बालकों को इस प्रकार शिक्षा देना चाहता है कि वे ज्ञान भी प्राप्त करते जाँय और उनका जी भी न ऊबे। स्पेन्सर की राय में बालकों की बुद्धि की उन्नति के लिए अध्यापक को उन्हें सदा उत्साहित करते रहना चाहिये। उनकी शिक्षा उनके मानसिक विकास की अवस्था के अनुसार ही होनी चाहिए। शिक्षा का पहला सिद्धान्त है 'सरल से क्लिष्ट की ओर' (फ्रॉम सिम्पुल टु कॉम्प्लेक्स)—अर्थात् पहले सीधी-सादी बातें बतलानी चाहिये। उनके पूर्णतया समझ लेने पर ही क्लिष्ट विषयों की ओर जाना चाहिए। इस बात का ध्यान पाठन-विधि तथा विषय-चुनाव दोनों में रखना चाहिये। पहले थोड़ी बातों का अभ्यास कराना चाहिए फिर उसमें धीरे-धीरे जोड़ना चाहिए।

यदि इस बात पर विशेष ध्यान न दिया गया तो शिक्षा में बालकों की शीघ्र ही अरुचि हो जायगी और वे कुछ 'शब्दों' के अतिरिक्त और कुछ न सीख सकेंगे। स्पेन्सर का दूसरा नियम 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' (फ्रॉम नोन टु अननोन) है। नये विचार पुराने विचारों के मिश्रण से ही बनते हैं। अतः पढ़ाते समय अध्यापक को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि पढ़ाये जाने वाले विचार को बालकों के विचारों से कैसे सम्बन्धित किया जाय। मस्तिष्क जो कुछ जानता है उससे उसका प्रेम होता है और उसे वह और आगे बढ़ाना चाहता है। अतः यदि अध्यापक यह सिद्ध कर सका कि पढ़ाया जाने वाला विषय उनके ज्ञान का ही उत्तर अंग है तो वह निश्चय ही अध्यापन से बालकों को लाभ पहुँचा सकता है। यह नियम इतना स्वाभाविक है कि प्रायः सभी अध्यापक अनजान में इसका प्रयोग करते हैं। तीसरा सिद्धान्त 'अनिश्चित से निश्चित की ओर' (फ्रॉम इन्डिफ़िनिट् टु डिफ़ीनिट्) है। बालक के विचार प्रायः अस्पष्ट होते हैं। अतः अस्पष्टता से स्पष्टता की ओर ले चलना स्वाभाविक ही है। जैसे-जैसे उसकी बुद्धि का विकास होता है वैसे ही वैसे उसके विचारों की स्पष्टता भी बढ़ती जाती है। बालक जानता है कि ये तारे हैं, यह चन्द्रमा है, वह सूर्य है; परन्तु इनके बारे में उसे कुछ और ज्ञान दे दिया जाय तो उसके विचार और भी स्पष्ट हो जायेंगे। वस्तुतः यह कोई पाठन-सिद्धान्त नहीं प्रतीत होता। यह तो एक ऐसी मनोवैज्ञानिक वस्तु है जिस पर किसी भी शिक्षा-सिद्धान्त को अवलम्बित किया जा सकता है। स्पेन्सर का चौथा पाठन-सिद्धान्त "मूर्त से अमूर्त की ओर" (फ्रॉम कॉनक्रीट टु ऐब्स्ट्रैक्ट) है। पहले अध्यापक को उदाहरण देकर समझाना चाहिये, तत्पश्चात् साधारण नियम की ओर संकेत किया जा सकता है। उदाहरणार्थः ज्यामिति पढ़ाने में पहले दफ़्ती के आकार बनाने में बालकों को अभ्यास देना चाहिये। पुनः इन आकारों की सहायता से साधारण नियम पढ़ाया जा सकता है।

स्पेन्सर का पाँचवा शिक्षा सिद्धान्त यह कि "जिस क्रम और जिस रीति से मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और रीति से बच्चों को शिक्षा देनी चाहिए।" इस सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक भित्ति ठीक प्रतीत होती है। प्रारम्भ में मनुष्यों ने वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखकर उनका ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने पहले उनका वर्णन नहीं पढ़ा, वरन् पहले तो उनके रूप, रंग व गुण का ज्ञान प्राप्त किया। पहले ही वर्णन पढ़ा देना अस्वाभाविक है। इस सिद्धान्त को (कल्चर इपॉक थियरी) "संस्कृति युग सिद्धान्त" कहते हैं। इस सिद्धान्त के

प्रतिपादक बहुत दूर तक चले जाते हैं। उनके अनुसार विषय और विधि का चुनाव मानव सभ्यता के विकास तथा बालकों के विकास की अवस्थानुसार होना चाहिए। स्पेन्सर के अनुयायियों ने भी इसी सिद्धान्त के अनुसार पाठ्य-वस्तु का निर्धारण किया। परन्तु उन्होंने बालक के जीवन तक ही अपने को सीमित रक्खा। व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन के प्रति उन्होंने उदासीनता दिखलाई। इसके अतिरिक्त हमें पाठ्य-वस्तु के चुनाव में बालक तथा उसके समाज पर भी ध्यान देना होता है। आज का समाज सभ्यता के प्रारम्भ-काल से पूर्णतः भिन्न है। इसके अतिरिक्त सभ्यता का विकास बड़े टेढ़े ढंग से होता रहा है। इसका अनुसरण करना युक्तिसंगत न होगा। हमें उसमें से कुछ छोड़ना अनिवार्य सा हो जायगा। वस्तुतः शिक्षा का क्रम तो बालक की प्रत्येक विकास अवस्थानुसार होना चाहिये।

अपने उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर स्पेन्सर कहता है कि प्रत्येक विषय के पढ़ाते समय उसकी भूमिका का रूप प्रयोगात्मक होना चाहिए। प्रयोग से सिद्ध करके बालक को वास्तविक ज्ञान की ओर ले जाना चाहिए। यह उसका छठा सिद्धान्त है। इसे 'प्रयोग-सिद्ध से विचारयुक्त ज्ञान' (फ्रॉम इम्पीरिकल टू रेशनल नॉलेज) वाला सिद्धान्त कहते हैं। यद्यपि प्रत्येक विषय के पढ़ाने में यह सम्भव नहीं पर वैज्ञानिक विषयों में इसका अनुसरण किया जा सकता है। स्पेन्सर का सातवाँ सिद्धान्त यह है कि बालकों को स्वयं कार्य बतलाना चाहिये, उन्हें अपने से सारांश निकालने के लिए उत्साहित करना चाहिए। पुस्तक का ध्येय केवल सहायता देना है। जब सीधा साधन असफल हो जाता है तब हम उनकी सहायता लेते हैं। अध्यापकों का स्वभाव होता है कि वे सब कुछ स्वयं ही बतला देना चाहते हैं परन्तु बच्चे में तो आत्मनिर्भरता लानी है। "उन्हें सब कुछ स्वयं ही 'जानना' सिखाना है।" स्पेन्सर के इस कथन से हमारा सैद्धान्तिक विरोध नहीं। पर इसको बहुत दूर तक खींचने में व्यावहारिकता में अड़चन आ सकती है। स्पेन्सर आवेश में कह जाता है कि जब तक बालक स्वयं अपने वातावरण की वस्तुओं से परिचित नहीं हो जाता तब तक उसे पुस्तकीय शिक्षा न देनी चाहिए। उसके इस विचार से हम सहमत नहीं। वस्तुतः पुस्तकीय और वातावरण सम्बन्धी वस्तुओं की शिक्षा हम साथ ही साथ चला सकते हैं। स्पेन्सर का आठवाँ सिद्धान्त है कि पाठन-प्रणाली मनोरंजक हो। इस सिद्धान्त से हम पूर्णतया सहमत हैं। अध्यापक को उचित है कि वह बालकों की स्वाभाविक मनोवृत्तियों का ध्यान रक्खे जिससे शिक्षा अरुचिकर न हो।

(६) नैतिक शिक्षा—.

अब स्पेन्सर के नैतिक शिक्षा-सम्बन्धी आदर्श पर प्रकाश डालना उपयुक्त होगा। स्पेन्सर कहता है कि बालकों के प्रति माता-पिता का व्यवहार बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक होता है। एक ही प्रकार के अपराध के लिये वे कभी कुछ दण्ड देते हैं तो कभी कुछ। उनमें कुछ समानता नहीं। वे कहते हैं कि तुम ऐसा कार्य करोगे तो पिटोगे परन्तु वैसा काम कर देने पर दण्ड देने का उन्हें स्मरण नहीं रहता। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव बड़ा ही बुरा पड़ता है। यदि घर में किसी से झगड़ा हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया बालकों के गाल या पीठ पर की जाती है। कितना अमनोवैज्ञानिक व्यवहार है! यह अच्छा अच्छा खिला और पहना देने से ही उनके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। उन्हें तो बालक के स्वभाव को समझना है। परन्तु इसको भली-भाँति समझने के लिये उन्हें अपने बचपन का स्मरण करना चाहिए। स्पेन्सर कहता है कि नैतिक शिक्षा समाज की स्थिति के अनुसार होती है। समाज की स्थिति का प्रभाव कुटुम्ब की स्थिति पर पड़े बिना नहीं रहता। यदि कुटुम्ब की व्यवस्था में सुधार कर दिया जाय तो मानव-स्वभाव का सुधार अपने आप हो जायगा। माता-पिता का सदाचरणशील होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि उनके आचरण का प्रभाव सन्तान पर पड़ता ही है। जैसे जैसे समाज अथवा कुटुम्ब की दशा सुधरती जाती है, बच्चों के स्वभाव में भी सुधार होता जाता है। स्पेन्सर नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में रूसो के सिद्धान्त का प्रतिवादी प्रतीत होता है। उसका सिद्धान्त है कि नैतिक शिक्षा के लिए सब लोगों को प्रकृति का ही अनुसरण करना चाहिए। सभी नैतिक अपराधों के लिए प्राकृतिक दण्ड ही उचित है। यदि हम आग पर हाथ रक्खें तो वह अवश्य ही जल जायगा। अर्थात् प्रकृति अपने नियम के अनुसार दण्ड देगी ही। स्पेन्सर कहता है कि माता-पिता को उचित है कि वे दण्ड-नियम में प्रकृति का अनुसरण करें। जो बातें वे बालकों से कहें उनका अवश्य पालन करें। यदि वे दण्ड या इनाम देने को कहते हैं तो अवश्य वैसा करें। यदि वे उसे आठ बजे पढ़ाने के लिये बुलाएँ तो अवश्य पढ़ायें—यह नहीं कि मटरगस्ती में या तो बाहर निकल गए या घर पर ही सो गए या मित्रों के साथ कहकहे उड़ाने लगे। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिये कि दूसरो के वचन न पालन करने पर वे स्वयं कितनी त्यौरी चढ़ाते हैं। उन्हें यह याद रखना चाहिये कि बालक का समय उनके समय से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उन्हें यह याद रखना चाहिये कि छोटी से छोटी बातों पर ही ध्यान देने से चरित्र-का

विकास होता है। यदि वे बालक के साथ अपने बचन का पालन नहीं कर सकते तो बालक भी अपने बचन का पालन करना न सीखेगा।

स्पेन्सर अस्वाभाविक दण्डों की निन्दा करता है और प्राकृतिक दण्डों की प्रशंसा। स्पेन्सर का यह सिद्धान्त है कि अपराध थोड़ा हो या अधिक। प्रत्येक दशा में बालकों को प्राकृतिक दण्ड ही देना चाहिए। यदि बालक चाकू खो दे तो उसी के ही जेबखर्च से चाकू खरीदना चाहिए। यदि वह अपनी कमीज फाड़ डाले तो नई कमीज तब तक न बनवाना चाहिए जब तक साधारणत: उसके बनवाने का समय न आ जावे। यदि वह अपनी वस्तुएँ अस्त-व्यस्त कर देता है तो उसी से सब ठीक कराना चाहिए। स्पेन्सर की राय है कि बच्चों के साथ कभी कठोरता का व्यवहार न करना चाहिए। उनके साथ सदैव मित्रवत् व्यवहार होना चाहिए। परन्तु यदि प्रसन्नता अथवा क्रोध का प्रगट करना न्यायपूर्ण हो तो वैसा करना अनुचित नहीं। आँखें निकालते हुए अपना प्रभुत्व दिखाकर उनसे कोई कार्य कराना खेदजनक है। बच्चों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपना नियन्त्रण अपने आप ही करने के योग्य बनें। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्पेन्सर को बालक के स्वभाव में विश्वास नहीं। पेस्टॉलॉज़ी के सदृश् उसमें उसके प्रति सहानुभूति भी नहीं। नैतिक शिक्षा में प्राकृतिक नियम पालन करने की एक सीमा होगी। यदि हम स्पेन्सर के सिद्धान्तों का अक्षरश: पालन करें तो बालक चाकू से अपना हाथ काट लेगा, उस्तरे से अपने कपोल की मरम्मत कर डालेगा और कभी आग में अपने को भस्म भी कर देगा। दण्ड देते समय सदा प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं चला जा सकता। हमें तो बालक के अभिप्राय को देखना है। यदि उसके किसी कार्य में अस्वाभाविक चपलता है तभी उसे कुछ दण्ड दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं। हमारा तो अब यह सिद्धान्त हो गया है कि बालक कभी कोई त्रुटि करते ही नहीं। उनकी त्रुटियों के लिए उनके अभिभावक ही उत्तरदायी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दण्ड देते समय हमें बालक के पूरे व्यक्तिगत वातावरण और परिस्थितियों पर विचार करना है। यदि हम यह विचार ठीक ठीक कर पायें तो हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि बालक एकदम निर्दोष है।

(७) शारीरिक शिक्षा—

दो शब्द स्पेन्सर के शारीरिक शिक्षा-सिद्धान्तों पर भी कह देना

अनुपयुक्त न होगा। उसने लिखा है कि "सब लोग गाय, बैल, भेड़ तथा घोड़े तक के खाने-पीने का स्वयं प्रबन्ध करते हैं, स्वयं ही उनका निरीक्षण करते हैं। वे इस बात को भी सदा देखते रहते हैं कि उन्हें किस प्रकार रखा जाय कि वे हृष्ट-पुष्ट रहें। परन्तु वे अपने बच्चों के पालने-पोसने और खिलाने-पिलाने पर उतना ध्यान नहीं देते—यह कितने आश्चर्य की बात है।" शारीरिक शिक्षा को भी स्पेन्सर वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित करना चाहता है। स्पेन्सर कहता है कि खाने-पीने के विषय में किसी प्रकार की डाँट-फटकार ठीक नहीं। सदा एक ही प्रकार का भोजन देना स्वास्थकर नहीं। बालकों के गर्मी और सर्दी के कपड़े पर सदा ध्यान रखना चाहिये। स्पेन्सर स्कूल के कार्य-क्रम में व्यायाम का भी समावेश करना चाहता है। वर्तमान शारीरिक शिक्षा-प्रणाली के चार दोषों की ओर स्पेन्सर ने संकेत किया है—१—बालकों को पेट भर भोजन नहीं दिया जाता, २—उन्हें पर्याप्त कपड़े पहनने को नहीं मिलते, ३—उनसे पर्याप्त रूप में व्यायाम नहीं कराया जाता, ४—उनसे बहुत अधिक मानसिक परिश्रम लिया जाता है। हमारी सफलता शारीरिक तथा मानसिक दोनों उन्नति पर निर्भर है। स्वास्थ्य पर ही जीवन का सारा भवन अवलम्बित है। अतः शारीरिक शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर स्पेन्सर ने अच्छा ही किया।

(८) आलोचना—

प्रसंगवश स्पेन्सर के सिद्धान्तों की अलोचना हम ऊपर करते आये हैं, अतः उनकी पुनरावृत्ति करना ठीक नहीं। तथापि कुछ बातों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक-सा जान पड़ता है। शिक्षा विषय पर स्पेन्सर का विशेष अध्ययन न था। फलतः उसके विचारों में हमें कुछ मौलिकता अवश्य मिलती है। पर वह वातावरण के प्रभाव से कैसे बच सकता था? उस पर रूसो, पेस्तॉलॉज़ी और हरबार्ट का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। हम यह कह चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक प्रगति के सुधारकों ने केवल प्रचलित पाठन-विधि की ही कड़ी आलोचना की थी। अतः पुनरुत्थानकाल के पाठ्य-वस्तु से उनका कोई विशेष विरोध न था। परन्तु स्पेन्सर का ढंग निराला है। विधि के सम्बन्ध में वह सभी पूर्व सुधारकों का निचोड़ हमारे सामने रखता है। अतः उसकी मनोवैज्ञानिक भित्ति के सम्बन्ध में हमारा कोई विरोध नहीं। पर पाठ्य-वस्तु में वह क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहता है। वह प्रचलित पाठ्य-वस्तु को एकदम उलट देना चाहता है। विज्ञान के मोहिनी मन्त्र ने उस पर

इतना अधिकार कर लिया है कि हर स्थान पर वह विज्ञान ही विज्ञान जपता दिखलाई पड़ता है। परन्तु पाठक को एक बात पर ध्यान रखना चाहिये। स्पेन्सर के विज्ञान का तात्पर्य बड़ा सारगर्भित है। उसकी विज्ञान की परिभाषा में सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, भौतिक व रसायन-शास्त्र, जीव-विद्या तथा शरीर-विज्ञान आदि सभी आ जाते हैं। अपनी पाठ्य-वस्तु के निर्णय में वह रूसो के सिद्धान्त को उलटते हुए दिखलाई पड़ता है। परन्त बेकन और लॉक से उसकी कुछ समानता झलकती है। परम्परागत पाठ्य-वस्तु और प्रणाली की श्रेष्ठता का वह विरोधी था। वह स्कूलों को व्यावहारिकता के रंग में रंगना चाहता था। ग्रीक और लैटिन को हटाकर वह विज्ञान को स्थापित करना चाहता था। विज्ञान को ही उसने सभी मानसिक शक्तियों के विकास का सर्वोत्तम साधन माना। इससे यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रवृत्ति के होते हुए भी परम्परागत संस्कारों से वह मुक्त नहीं हुआ था। स्पेन्सर भाषा के महत्त्व को ठीक न समझ सका। स्मरण-शक्ति को ही वह उसका साधन समझता है। उसका यह कहना कि प्रकृति के नियम के अनुसार बालकों को शिक्षा देनी चाहिये, भ्रमात्मक है। स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सफल जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना है। वर्तमान युग का ड्यूइ जैसा शिक्षा-विशेषज्ञ इस विचार से कभी भी सहमत नहीं हो सकता। उनके अनुसार तो शिक्षा स्वयं जीवन है, भावी जीवन की तैयारी नहीं। रूसो भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादी था। स्पेन्सर का विश्वास था कि आवश्यक ज्ञान की प्राप्ति से ही उसके सदुपयोग की शक्ति आ जाती है। 'प्रकृति की मितव्यता' में अपने विश्वास के कारण ही स्पेन्सर ने ऐसा कहा। कहना न होगा कि स्पेन्सर का ऐसा सोचना भ्रमात्मक है क्योंकि प्रकृति में तनिक भी मितव्यता नहीं। वह बहुत-सी वस्तुओं को उत्पन्न कर देती है। जो अनावश्यक होती हैं उनका नाश हो जाता है। यदि प्रकृति में मितव्यता होती तो अनावश्यक अंग उत्पन्न ही न होते। स्पेन्सर को बहुधा लोग 'उपयोगितावादी' कहा करते हैं। उसके 'अच्छी प्रकार से रहने वाले सिद्धान्त' से केवल जीवकोपार्जन और सांसारिक सुख का ही तात्पर्य नहीं। उसके इस सिद्धान्त में हम काण्ट की 'व्यावहारिकता' का आभास पा सकते हैं। हरबार्ट की 'सौन्दर्य-भावना' का भी हमें ध्यान हो जाता है। स्पेन्सर विज्ञान से जीवन को अधिक नैतिक और सुखी बनाना चाहता है।

३—हक्सले—(१८२५–१८९५)

अब थोड़ा हक्स्ले पर विचार कर लेने के बाद हम शिक्षा-क्षेत्र पर स्पेन्सर के प्रभाव पर दृष्टिपात करेंगे। इसका कारण यह है कि हक्स्ले ने स्कूल की पाठ्य-वस्तु में विज्ञान के समावेश के लिए सब से अधिक परिश्रम किया। अतः हम कह सकते हैं कि स्पेन्सर का वह दाहिना हाथ था। उसके शिक्षा-विचारों में मौलिकता नहीं। पर उसका भाव-गाम्भीर्य और सुन्दर शब्दावली पाठक को मुग्ध कर देती है। वह बेकन और स्पेन्सर की ही बातों को दूसरे शब्दों में कहता है। हक्स्ले प्रचलित शिक्षा को साहित्यिक मानने के लिए तैयार नहीं क्योंकि साहित्यिक स्थिति पर बालक कभी पहुँचता ही नहीं। उसने उदार शिक्षा की परिभाषा बड़े हृदयग्राही ढंग से की है :—"उदार शिक्षा से शरीर इच्छा के वशीभूत रहता है और सभी कार्य सरलता और आनन्द से किया जा सकता है। इससे बुद्धि स्पष्ट हो जाती है, तर्क-शक्ति बढ़ जाती है। इससे सभी अंगों का अनुरूप विकास होता है। उदार शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति स्टीम इञ्जिन के सदृश् किसी भी कार्य में संलग्न किया जा सकता है। उदार शिक्षा से 'मस्तिष्क' प्रकृति तथा उसके गति-क्रम के सच्चे ज्ञान का सञ्चयगृह हो जाता है। उससे व्यक्ति दुबला, पतला अथवा वैरागी नहीं होता, वरन् जीवन-शक्ति से हर समय ओत-प्रोत रहता है। व्यक्ति हर समय विवेक के आधीन रहता है। वह प्रकृति तथा कला के सौन्दर्य को समझ लेता है और सभी दूषित वस्तुओं से घृणा करता है। वह दूसरों को उतना ही आदर की दृष्टि से देखता है जितना अपने को। ऐसा ही व्यक्ति उदार शिक्षा के अनुसार शिक्षित है। प्रकृति के साथ उसका पूर्ण सामञ्जस्य है।"

४—स्पेन्सर का प्रभाव

(१) शिक्षा के आदर्श पर—

स्पेन्सर के शिक्षा-सिद्धान्तों का बहुत प्रभाव पड़ा। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर उनका प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। हक्स्ले ने उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन बहुत अच्छी प्रकार किया है। फलतः पाठ्य-वस्तु में विज्ञान को उचित स्थान दिया गया। स्पेन्सर ने बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने की मांग की। शिक्षा की उसने एक नई परिभाषा दी और विभिन्न विषयों के परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। विशेषकर यही स्पेन्सर की मौलिकता है। उसके पाठन-सिद्धान्त तो रूसो, पेस्टॉलॉज़ी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल के सिद्धान्तों के

निचोड़ मात्र हैं। स्पेन्सर की व्याख्या इन सुधारकों के भी विचारों को कुछ स्पष्ट कर देती है और उसमें व्यवहारिकता की छाप दिखलाई देने लगती है।

(२) विज्ञान का पाठ्य-वस्तु में सामावेश—

स्पेन्सर और हक्स्ले के प्रचार से स्कूलों में विज्ञान को स्थान दिया जाने लगा। परन्तु पहले इसका स्वागत न किया गया। यों तो अठारहवीं शताब्दी से ही प्रोटेसटैण्ट विश्वविद्यालयों में विज्ञान के अध्यापक रखे जाने लगे थे परन्तु विज्ञान के प्रसार में उनसे कुछ प्रोत्साहन न मिला था। विज्ञान के अध्ययन के लिए कहीं-कहीं 'एकेडेमीज़' स्थापित होने लगीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से जर्मनी के विश्वविद्यालय इसमें प्रमुख भाग लेने लगे। गीसेन विश्वविद्यालय में 'लीविग प्रयोगशाला' १८२५ ई० में स्थापित की गई। वहाँ प्रयोगात्मक कार्य किये जाने लगे। धीरे-धीरे सभी विश्वविद्यालयों में प्रयोगात्मक विधि का अनुसरण किया जाने लगा। फ्रांस में भी उच्च विज्ञान की शिक्षा पहले विश्वविद्यालय के बाहर ही प्रारम्भ की गई। १७६४ ई० से 'रिपब्लिक' सरकार ने पेरिस में विज्ञान का स्कूल स्थापित किया जहाँ लैपलेस और लेग्रैञ्ज जैसे विद्वान शिक्षा देने लगे। क्रान्ति के पहले विज्ञान की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था। पाठ्य-वस्तु में 'मानवतावादी' विषयों का ही बाहुल्य था। १८०२ ई० में नैपोलियन ने विज्ञान की शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन दिया। उसके कारण १८१४ ई० तक विज्ञान की शिक्षा में उल्लेखनीय प्रगति हो चुकी थी। १८५२ ई० तक इसका रूप शिक्षा से स्वतंत्र हो गया परन्तु प्राचीन साहित्य की शिक्षा के समान इसको आदर प्राप्त न था। इङ्गलैण्ड की भी प्रायः यही दशा थी। वहाँ भी विज्ञान की उन्नति विश्वविद्यालय के बाहर हुई। अठारहवीं शताब्दी में ही कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में विज्ञान के लिये कई पद स्थापित किए गये। परन्तु प्रयोगात्मक विधि का सूत्रपात तो उन्नीसवीं शताब्दी से ही होता है और उसके अन्त में कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में विज्ञान का सितारा चमकने लगता है। बरमिंघम, मैनचेस्टर, लन्दन तथा लिवरपूल में म्युनिसिपल विश्वविद्यालयों की स्थापना से विज्ञान को विशेष आदर मिला। परन्तु प्रयोगात्मक शिक्षा के सम्बन्ध में इंगलैण्ड के विश्वविद्यालय सहानुभूति न रखते थे। १८५१ ई० से 'रॉयल स्कूल ऑव साइन्स' की स्थापना से विज्ञान को प्रयोगात्मिक विधि से पढ़ाया जाने लगा। कुछ इञ्जीनियरिङ्ग स्कूल भी खोले गए। १८६० ई० में लन्दन विश्वविद्यालय में

विज्ञान का एक विभाग खोला गया और विज्ञान में 'डाक्टर' और 'बैचेलर' की उपाधि दी जाने लगी। १८६६ ई० में कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड में विज्ञान के विभाग खुल गए।

माध्यमिक स्कूलों में—

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही प्रशा के सभी जिमनैजियमस् अर्थात् माध्यमिक स्कूलों के पाठ्य-वस्तु में कुछ न कुछ विज्ञान का सामावेश कर दिया गया। यों तो 'स्वानुभववादी-यथार्थवाद' के आन्दोलन से ही विज्ञान के प्रति सहानुभूति दिखलाई गई थी पर उसका विशेष प्रभाव न पड़ा था। अब प्रति सप्ताह भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञान पढ़ाने के लिए कम से कम दो घण्टे निश्चित कर दिए गए। जर्मनी के दक्षिण प्रदेशों में भी विज्ञान का प्रचार हुआ और १८१५—१८४८ ई० के अव्यवस्था-काल में भी उसका सिक्का जमा रहा। १८२३ से व्यावसायिक शिक्षा के लिये भी कुछ स्कूल खुलने लगे और शताब्दी के मध्य काल तक उनका संगठन और विकास दृढ़ हो चला था। १८८२ ई० में दो प्रकार के स्कूल स्थापित किए गये—रीयल जिमनैज़ियम और 'ओबरीयल स्कूल'। इनमें सभी प्रकार के विज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी। इङ्गलैण्ड में विज्ञान को सबसे पहले 'एकडेमीज़' में ही स्थान मिला। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्त में 'एकडेमीज़' की दशा अच्छी न थी। पब्लिक स्कूलों की विज्ञान के प्रति सहानुभूति न थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विज्ञान के लिये जोरों से आन्दोलन चला—जिसके फलस्वरूप नये आदर्शों के अनुसार बहुत से स्कूल खोले गए और उनमें विज्ञान को उचित स्थान दिया गया। १८४८ में काम्ब ने एडिनबरों में एक स्कूल खोला जिसमें चित्रकारी, रसायन-शास्त्र, प्राकृतिक दर्शन, इतिहास, शरीर-विज्ञान इत्यादि विषयों में शिक्षा दी जाने लगी। इसी के अनुकरण में लीथ, लन्दन, मैनचेस्टर, बरमिंघम, न्यूका-सिल तथा बेलफ़ास्ट में नए-नए स्कूल खोले गए। यद्यपि ये स्कूल बहुत दिन तक न चल सके किन्तु इनके कारण विज्ञान के प्रसार में बड़ी सहायता मिली। १८६८ ई० के पार्लियामेण्ट ऐक्ट के कारण सभी माध्यमिक स्कूलों में आधुनिकता का विकास होने लगा। इस आधुनिकता में वर्तमान प्रमुख भाषाओं के साथ-साथ प्रधान वैज्ञानिक विषयों में भी शिक्षा दी जाने लगी। १८५३ ई० में 'डिपार्टमेण्ट ऑव् साइन्स ऐण्ड आर्ट्स' की स्थापना की गई। १८६८ ई० में यह 'डिपार्टमैण्ट ऑव् एडूकेशन' में मिला दिया गया। इस डिपार्टमेण्ट ने विज्ञान के प्रचार में बड़ा योग दिया।

प्राथमिक स्कूलों में—

वैज्ञानिक आन्दोलन का प्रभाव प्राथमिक स्कूलों पर भी पड़ा। पेस्टॉलॉजी के प्रभाव स्वरूप प्रशा तथा जर्मनी के अन्य स्कूलों में विज्ञान लोकप्रिय होने लगा था। १८२५ ई० के पहले प्रायः सभी बड़ी कक्षाओं में प्रारंभिक विज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा भूगोल आदि के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त बालकों को बतलाये जाने लगे। प्रति दो या चार घण्टे इनके पढ़ने में दिये जाते थे। एक प्रकार से विज्ञान को पाठ्य-वस्तु का एक मुख्य अंग मान लिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में फ्रान्स के प्राथमिक स्कूलों में भी विज्ञान को कुछ स्थान दिया गया। वैज्ञानिक विषयों में भूगोल, कृषि, भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञान को प्रमुख माना गया। इंगलैण्ड में १८७० ई० तक प्राथमिक स्कूलों की अवस्था अच्छी न थी। १६०० ई० तक तो केवल लिखने, पढ़ने तथा अंकगणित पर ही विशेष बल दिया जाता था। अन्य विषयों की शिक्षा सरकारी सहायता पर निर्भर रहती थी। परन्तु १६०० से उनके पाठ्य-वस्तु में विज्ञान को एक प्रधान विषय मान लिया गया।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

वैज्ञानिक प्रगति

१—तात्पर्य

(१) वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव—

मनोवैज्ञानिक प्रगति का ध्यान पाठन-विधि पर, वैज्ञानिक आविष्कारों से जीवन-आदर्शों में परिवर्त्तन, शिक्षा पर प्रभाव अनिवार्य।

(२) व्यावहारिकता की ध्वनि—

लोगों का अनुमान कि पाठ्य वस्तु समयानुकूल नहीं, व्यावहारिकता की ध्वनि उठ ई गई, जीवनयापन के विभिन्न साधन, इनमें प्रवीणता प्राप्ति के लिये पाठ्य-वस्तु में परिवर्त्तन आवश्यक, पाठ्य-वस्तु सरल नहीं।

(३) शिक्षा के आदर्शों में परिवर्त्तन—

शिक्षा व्यक्ति और समाज-हित के लिये, व्यावहारिकता आवश्यक, परिवर्त्तनों के कारण उदार शिक्षा की परिभाषा बदलना आवश्यक, उदार शिक्षा में आदर्श नागरिकता के गुण, विज्ञान का अध्ययन उच्च शिक्षा के अन्तर्गत, रुचि को प्रधानता, व्यावसायिक शिक्षा को महत्व।

२—हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०३)

(१) प्रारम्भिक जीवन—

(२) शिक्षा का उद्देश्य—

बालकों को ऐसा पढ़ाना कि अपने को वे स्वयं पढ़ा सकें, जीवन को पूर्णतया सफल बना सकें, शिक्षा की उपयोगिता व्यावहारिकता पर, विज्ञान के अध्ययन से सभी समस्याओं का समाधान।

(३) स्पेन्सर के अनुसार मनुष्य के कार्य पाँच भागों में विभाजित—

क—आत्म-रक्षा—

शरीर-विज्ञान का अध्ययन आवश्यक।

ख—जीवकोपार्जन—

विज्ञान की सहायता हर स्थान पर अपेक्षित।

ग—सन्तान के पालन-पोषण की शिक्षा—

घ—नागरिकता की शिक्षा—

समाज-नीति और राज-नीति को समझने के लिये इतिहास बहुमूल्य, विज्ञान की कुञ्जी।

ङ—अवकाश—समय के सदुपयोग के लिये शिक्षा—

चित्र-विद्या, संगीत, मूर्ति-निर्माण विद्या, कविता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य में शिक्षा, ये सब कलायें विज्ञान ही के आधार पर।

(४) विज्ञान की उपयोगिता—

भाषा पढ़ने की अपेक्षा विज्ञान का अध्ययन अधिक लाभप्रद; विज्ञान से स्मरण-शक्ति तथा विचार-शक्ति का बढ़ना; नास्तिकता नहीं वरन् आस्तिकता; विचार, विवेचना और निर्णय की शक्ति का बढ़ना: आत्म-निर्भरता, अध्यवसाय, तथा सत्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करना, विज्ञान से नैतिक विकास।

(५) स्पेन्सर का अध्यापन-सिद्धान्त—

मौलिकता नहीं;

१—सरल से क्लिष्ट की ओर, पाठन-विधि और विषय चुनाव दोनों में।

२—ज्ञात से अज्ञात की ओर।

३—अनिश्चित से निश्चित की ओर।

४—जिस क्रम से मनुष्य जाति ने शिक्षा पाई उसी क्रम से बालकों को शिक्षा—मनोवैज्ञानिक भित्ति ठीक परन्तु व्याख्या भ्रमात्मक; शिक्षा का क्रम बालकों की प्रत्येक विकास की अवस्थानुसार।

६—प्रयोगात्मक से बुद्धिपरक की ओर—हर समय यह सम्भव नहीं;

७—स्वतः सारांश निकालने के लिये उत्साहित करना;

८—पाठन-प्रणाली मनोरंजक हो;

(६) नैतिक-शिक्षा—

माता-पिता का व्यवहार अमनोवैज्ञानिक, नैतिक शिक्षा समाज की स्थिति के अनुसार, कुटुम्ब-व्यवस्था में सुधार से मानव-स्वभाव का सुधार स्वतः, माता-पिता का सदाचरणशील होगा, नैतिक शिक्षा के लिये प्रकृति का ही अनुसरण, प्राकृतिक दण्ड ही उचित।

प्रत्येक दशा में प्राकृतिक दण्ड, कठोरता का व्यवहार नहीं, बालक स्वभाव में स्पेन्सर का विश्वास नहीं, सदा प्राकृतिक नियमों का पालन असम्भव, अभिप्राय को देखना।

(७) शारीरिक-शिक्षा—

वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित।

(८) आलोचना—

विधि' के सम्बन्ध में सभी पूर्व सुधारकों का निचोड़ देता है, पाठ्य-वस्तु में भ्रमात्मक परिवर्त्तन चाहता है, परम्परागत पाठ्य-वस्तु और प्रणाली की श्रेष्ठता का वह विरोधी परन्तु परम्परागत संस्कारों से मुक्त नहीं, भाषा के महत्त्व को न समझा, स्पेन्सर का विश्वास कि आवश्यक ज्ञान की प्राप्ति से उसके सदुपयोग की शक्ति आ जाती है ठीक नहीं; उसके 'उपयोगितावाद' में काण्ट की व्यावहारिकता और हरबार्ट 'सौन्दर्य भावना।'

३—हक्स्ले (१८२५-९५)

पाठ्य-वस्तु में विज्ञान के समावेश के लिये अकथ परिश्रम, बेकन और स्पेन्सर की ही बातों को दूसरे शब्दों में, उदार शिक्षा की व्याख्या।

४—स्पेन्सर का प्रभाव

(१) शिक्षा के आदर्श पर—

वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर स्पष्ट, पाठ्य-वस्तु में विज्ञान को उचित स्थान, बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने की माँग, शिक्षा की नई परिभाषा।

(२) विज्ञान का पाठ्य-वस्तु में समावेश—

विश्वविद्यालय में।

माध्यमिक स्कूलों में—

प्राथमिक स्कूलों में—

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—'टेक्स्ट बुक इन दी हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय १२।
२—ग्रेव्ज़—'ए स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय २६।
३—कवरली—'हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन', अध्याय २६।
४—क्रिक—'एडूकेशनल रिफ़ॉर्मस', अध्याय १६।
५—हरबर्ट स्पेन्सर—'एडूकेशन'।
६—पार्कर—'माडर्न एलीमेण्टरी एडूकेशन', (गिन, १९१२) पृष्ठ ३३१-३४०।
७—हक्सले—'साइन्स एण्ड एडूकेशन'।
८—विलियम्स, एच०एस०—स्टोरी ऑव् नाइन्टीन्थ सेंचुरी साइन्स (हार्पर)।
९—कूल्टर, जे० एम०—'दी मिशन ऑव् साइन्स इन एडूकेशन (साइन्स २, १२, पृ० २८१-२९३)
१०—सेजविक, डब्लू० टी०—'एडूकेशनल वैलू ऑव् दी मेथड ऑव साइन्स' (एडूकेशनल रिव्यू भाग ५, पृ० २४३)।

१२

लोक-संग्रहवाद (सोशियलॉजीकल टेण्डेन्सी)

१—लोक-संग्रहवाद और वैज्ञानिक प्रगति

लोक-संग्रहवाद का वास्तविक रूप समझने के लिये वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रगति से उसकी तुलना आवश्यक-सी जान पड़ती है। लोकसंग्रहवाद और वैज्ञानिक प्रगति में हमें कुछ समानता दिखाई पड़ती है। शिक्षा में प्रचलित 'विनय की भावना-पद्धति' का दोनों ने खण्डन किया। पाठ्य-वस्तु में दोनों परिवर्त्तन के पक्षपाती थे। परन्तु उसका परिवर्त्तन दोनों दो दृष्टिकोण से चाहते थे। वैज्ञानिकों के लिये विज्ञान से बढ़कर कुछ भी न था। व्यक्ति का उद्धार वे विज्ञान से ही करना चाहते थे। उसके शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास में विज्ञान की सहायता उन्हें सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती थी। लोक-संग्रहवादी सर्व प्रथम लोक-हित अपने सामने रखते थे और उसी के अनुसार व्यक्ति की शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते थे। इसके लिये प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के वे पक्षपाती थे। उपयोगिता का दृष्टिकोण दोनों में आ जाता है। वैज्ञानिक व्यक्ति के ही जीवन को पूर्णतया सफल बनाना चाहता है। इसके लिये वह विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं को स्थापित कर व्यक्ति को उसकी रुचि के अनुसार शिक्षित बनाकर जीवनयापन के योग्य बनाना चाहता है। परन्तु उसके इस उद्देश्य में व्यक्तिवाद की गन्ध है और समाज-हित की अवहेलना स्पष्ट है। व्यक्तिवाद में स्पेन्सर ऐसे वैज्ञानिक प्रकृतिवादियों से भी बाजी मार ले जाना चाहते है परन्तु वे सभी व्यक्तियों को समान दृष्टि से देखते हैं। शिक्षा का प्रचार वे थोड़े व्यक्तियों में न कर पूरे जनवर्ग में करना चाहते हैं। फलतः लोकसंग्रहवादियों से वे हाथ मिलाते हुए दिखलाई पड़ते हैं क्योंकि परिणाम में तो प्रायः दोनों एक ही अखाड़े के दो पहलवानों के सदृश् दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु एक पहलवान तो स्वान्तः सुखाय में मटरगश्ती करना चाहता है और दूसरा लोक-हित के लिये अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उद्देश्य को हम भूल जाँय तो दोनों प्रायः समान दिखलाई पड़ते हैं। वैज्ञानिक आन्दोलन व्यक्ति के जीवन को सब प्रकार से सुखी बनाना चाहता है। लोकसंग्रह-

वाद प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए समाज को तैयार करना चाहता है। परन्तु दोनों उत्कृष्ट विकास की ओर अपना ध्यान रखते हैं और वाह्याडम्बर को फेंक देना चाहते हैं।

२—लोकसंग्रहवाद और मनोवैज्ञानिक प्रगति

हम यह कह चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक प्रगति के प्रतिनिधि पेस्तॉलॉज़ी, हरबार्ट और फ्रोबेल ने विशेषकर पाठन-विधि के ही सुधार पर ध्यान केन्द्रित किया। परन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि उनका अन्तिम उद्देश्य समाज-हित ही था। लोकहित का दृष्टिकोण तो रूसो में भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इसका वर्णन हम कर चुके हैं। पेस्तॉलॉज़ी का तो कहना ही क्या? उसने तो समाज-हित के लिये अपना सारा जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था। उसका एकमात्र उद्देश्य समाज-सेवा ही करना था। विभिन्न स्थानों में उसका शिक्षा का प्रयोग केवल लोक-हित के हेतु साधन की खोज के लिये था। रूसो ने भी कहा था कि "मैं एमील को एक व्यवसाय में शिक्षा देना चाहता हूँ।" पेस्तॉलॉज़ी ने इस विचार को कार्यान्वित करने की चेष्टा की। वह बालकों को कृषि, बागवानी, लकड़ी की कला इत्यादि में कुछ ऐसी शिक्षा देना चाहता था जिससे वे जीवकोपार्जन में माता-पिता की सहायता कर सकें। उनको यह सब कार्य सिखाने में अर्थात् उनका पेट भरने के लिये कभी-कभी वह स्वयं भूखे पेट सो जाया करता था। पेस्तॉलॉज़ी शिक्षा को अपने निजी दृष्टिकोण से देखता था। शिक्षा से उसका तात्पर्य 'क ख ग घ ङ' और '१, २, ३, ४, ५, ६' का ज्ञान ही देना न था। वह शिक्षा से व्यक्ति के जीवन को ऐसा सुधार देना चाहता था कि वह समाज-हित के कार्य में योग दे सके। समाज-हित की भावना से ही प्रेरित होकर उसका ध्यान विशेषकर दीन बालकों पर गया। अपने स्वानुभूति (ऑन्श्वॉङ्ग) सिद्धान्त के कार्यान्वित करने के प्रयत्न में पेस्तॉलॉज़ी को यह विश्वास हो गया कि शिक्षा का क्षेत्र स्कूल तक ही सीमित नहीं है। उसने पाठन-विधि को इतना सरल बना दिया कि अनाथालयों और सुधार-स्कूलों के दोषयुक्त बालकों की शिक्षा के लिये वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि पेस्तॉलॉज़ी समाज-हित-भावना से ही हर समय ओत-प्रोत रहता था। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षा में समाज-हितवाद का उसने बीजारोपण किया।

हरबार्ट में लोक-संग्रहवाद—

हरबार्ट शिक्षा से व्यक्ति का नैतिक विकास चाहता था। नैतिक-विकास से लोकहित का घनिष्ट सम्बन्ध है। वह व्यक्ति के चरित्र को ऐसा बनाना चाहता था कि वह सामाजिक हित में योग दे सके। इसके लिये अपने 'बहु-रुचि' सिद्धान्त के अनुसार वह व्यक्ति को जीवन के विभिन्न अंगों में शिक्षा देना चाहता है। हरबार्ट चाहता था कि व्यक्ति की शिक्षा मानव-विकास के क्रम से होनी चाहिये। 'संस्कृत युग सिद्धान्त' का प्रारम्भ उसी से होता है। फलतः वह बालक को मानव-जाति के प्राचीन इतिहास से परिचित कराते हुए सभ्यता की विकसित अवस्था के अनुसार उसे शिक्षा देना चाहता है। हरबार्ट के इस सिद्धान्त में पहले लोक-संग्रहवाद की झलक अवश्य दिखलाई पड़ी परन्तु अन्त में इसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व ही प्रधान हो जाता है। हरबार्ट व्यक्ति को प्रवीणता, दया, न्याय तथा निष्पक्षता के भाव में रंगना चाहता है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा को वह समाज-हित से अलग नहीं करना चाहता। वह व्यक्ति को समाज-हित के लिये ही शिक्षित बनाना चाहता है।

फ्रोबेल में लोक-संग्रहवाद—

वर्तमान शिक्षा-सिद्धान्त में लोक-संग्रहवाद की धुन है। इसका प्रारम्भ हम फ्रोबेल के किण्डरगार्टेन में पाते हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वर्तमान शिक्षा-क्षेत्र में मूलतः हम लोग फ्रोबेल के ही सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने में संलग्न हैं। फ्रोबेल बच्चों के सामने उसके वातावरण की वस्तुओं को परिष्कृत रूप को रखकर उन्हें कुछ शिक्षा देना चाहता है। पाठ्य-वस्तु को वह जीवन का सारमात्र मानता है। फलतः उसने शिक्षा को एक सामाजिक दृष्टि-कोण दिया। उसने संकेत किया कि शिक्षा को हम जीवन से पृथक नहीं कर सकते। शिक्षा को उसने जीवन का अंग उसी प्रकार माना जैसे सिर और धड़ एक ही शरीर के दो अंग हैं। फ्रोबेल स्कूल को समाज का एक छोटा रूप मानता है।

३—शिक्षा में लोक-संग्रहवाद की उत्पत्ति

लोक-संग्रहवाद की प्रगति अठारहवीं शताब्दी से ही अपना रूप दिखला रही थी। परन्तु उसके लिये अभी समय परिपक्व नहीं हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप जीवन-उद्देश्य में परिवर्त्तन

दिखलाई पड़ने लगा। फलतः अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हमें राजनीतिज्ञों और लेखकों के शिक्षा-विषयक विचारों में भी परिवर्त्तन दिखलाई पड़ता है। शिक्षा में समाज-हित के दृष्टिकोण के लाने का श्रेय जर्मनों को है। उन्नीसवीं शताब्दी में श्रमजीवियों का जीवन-आदर्श बदलने लगा। इङ्गलैण्ड के 'सुधार-बिल' इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। प्रजातन्त्र का चारों ओर विकास हो रहा था। भावी सरकार के निर्माण में साधारण जनवर्ग का अधिकार स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा था। अब यह स्पष्ट हो गया कि श्रमजीवियों के बच्चों और स्त्रियों का समुचित प्रबन्ध आवश्यक है। उनकी आवश्यकताओं को पूरा करना सरकार का प्रधान कर्तव्य समझा गया। अब प्रजातन्त्र की लहर शासन, न्याय, समाज-हित तथा शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में पहुँच गई। फलतः नागरिकता के विकास की ओर लोगों का ध्यान जाना आवश्यक था। शिक्षा पर इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद की बलि दे दी गई। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य समाज-हित माना गया। अब व्यक्तियों की प्रतियोगिता-भावना के लिये स्थान न था। नागरिक को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफलतापूर्वक अपने कर्तव्यों के पालन करने योग्य बनाना शिक्षा का तात्पर्य माना गया। अतः ज्ञान का महत्त्व स्वतः घट गया और शिक्षा का उद्देश्य नैतिक हो गया। पाठ्य-वस्तु में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किया गया। व्यक्ति को नागरिकता-गुण देने के लिये ऐतिहासिक, आर्थिक तथा साहित्यिक बिषयों को पढ़ाना आवश्यक समझा गया। शिक्षा के आगे यह समस्या थी कि व्यक्ति और उसकी विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के परस्पर-सम्बन्ध को कैसे निर्धारित किया जाय। इस समस्या को सुलझाने के लिये व्यक्ति और समाज-हित की अभिन्नता पर बल दिया गया और सरकार से यह माँग की गई कि वह व्यक्ति के हित का सब प्रकार से प्रबन्ध करे। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल में जीवन के विभिन्न क्षेत्र में व्यक्ति को शिक्षित करने के लिये स्कूल खुलने लगे। दीन तथा दोषपूर्ण बालकों की भी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करने का प्रयत्न किया गया।

४—समाज-शास्त्र में शिक्षा का तात्पर्य

समाज-शास्त्र में शिक्षा को क्या स्थान दिया गया है? उसमें शिक्षा की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। परन्तु प्रोफ़ेसर मनरो के अनुसार चार प्रकार की व्याख्या से सबका सार आ जाता है। हमें उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। प्रथम व्याख्या में शिक्षा ज्ञान के प्रसार का साधन

मानी गई है। किसी मनुष्य का व्यक्तित्व पैतृक गुणों तथा वातावरण के सम्पर्क से बनता है। वातावरण से तात्पर्य 'ज्ञान' का है। यह अपरोक्ष रूप से प्राप्त किया जा सकता है। वंश परम्परागत गुणों के नियमों के पालन से बुद्धि का भी विकास किया जा सकता है। प्रो० एल० एफ० वार्ड अपनी 'डॉयिनिमिक सोशियॉलॉजी' नामक पुस्तक में इन सब बातों का विवरण देते हुये इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान के प्रसार से ही बुद्धि का यथेष्ट विकास किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा एक सामाजिक कार्य है और इसकी व्यवस्था 'राज्य' को करनी चाहिये, नहीं तो समाज की वांछित उन्नति सम्भव नहीं।

प्रो० मनरो के अनुसार समाज-शास्त्र में शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण का भी साधन है। पहले इस नियन्त्रण में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। सरकार पुलिस आदि की सहायता से तथा चर्च अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार से नियन्त्रण स्थापित करने की चेष्टा किया करती थी। इसमें धन भी अधिक व्यय होता था और यह मनोवैज्ञानिक भी न था। धीरे-धीरे लोगों का विश्वास हो चला कि स्कूलों की सहायता से सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। शिक्षक जीवन के आदर्शों की ठीक-ठीक व्याख्या कर व्यक्ति में वांछित भावनाएँ उत्पन्न कर सकते हैं। फलतः शिक्षा में नैतिक उद्देश्य का समावेश करना होगा। यह उद्देश्य पहले से भिन्न होगा। इसमें व्यक्तिगत-हित की प्रधानता न रहेगी और न चर्च शिक्षा के सदृश् आध्यात्मिक विकास की ही ओर ध्यान रहेगा। शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण हो जाने पर व्यक्ति और समाज-हित में कोई भेद न रहेगा। 'एक' दूसरे के लिये रहेंगे, पर समाज-हित को प्रधानता दी जायगी। समाज-हित की भावना व्यक्ति में शिक्षा द्वारा धीरे-धीरे उत्पन्न करनी होगी। इसे यकायक उस पर लादना अमनोवैज्ञानिक और व्यर्थ होगा। छोटे-छोटे बालकों को स्कूलों में शिक्षा इस प्रकार दी जायगी कि लोक-हित की भावना उनमें स्वतः जागृत हो जाय।

प्रो० मनरो कहते हैं कि समाज-शास्त्र में शिक्षा का तीसरा तात्पर्य परम्परागत सभ्यता की रक्षा करना है। यदि सभ्यता की रक्षा न की गई तो वर्त्तमान का सारा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा और हम अपने पूर्वजों के अनुभव से कुछ सीख न पायेंगे। हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण रह जायगा। निष्पक्षता और न्यायप्रियता हमारे चरित्र में न आ सकेगी। हमारा वातावरण हर समय बदला करता है। वातावरण के परिवर्त्तन से ही सामाजिक विकास सम्भव है। आज की सामाजिक आवश्यकता कल से भिन्न होती है। व्यक्ति को बदलते

रहने वाले वातावरण के अनुकूल बनाना है; नहीं तो उसके व्यक्तित्व का ह्रास हो जायगा। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को भूतकाल के अनुभव से परिचित कराना तथा वातावरण के अनुकूल बनाना है।

जैसे सभी प्रकार के जीव प्रकृति के अनुसार अपने को व्यवस्थित बना लेते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी मानव-विकास की गति में अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेता है। यदि ऐसा सम्भव न हो तो उसका नाश हो जाय। वातावरण के अनुकूल अपने को बनाने के प्रयत्न से ही सभ्यता का अब तक इतना विकास हो सका है। जाति का विकास तो अनजान में अविरल गति से हुआ करता है। पर सामाजिक उन्नति में व्यक्ति को वातावरण से विरोध करना पड़ता है और समाज-हित की ओर सारी शक्तियों को केन्द्रित करना पड़ता है। प्रो० मनरो के अनुसार व्यक्ति के इस प्रयत्न में शिक्षा बड़ी सहायता देती है। अतः सामाजिक-विकास में शिक्षा का प्रधान हाथ दिखलाई पड़ता है।

५—लोकसंग्रहवाद का शिक्षा पर प्रभाव

(१) दो प्रकार के स्कूल—

अब हम यह देखेंगे कि लोकहितवाद का शिक्षा की व्यवस्था का क्या प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा की व्यवस्था प्रधानतः दो संस्थाओं द्वारा की जाती थी। पहली संस्था तो व्यक्तियों अथवा जनता के आधीन हुआ करती थी। कुछ लोग लोकहित या धार्मिक भावनावश बच्चों के लिये स्कूल खोल दिया करते थे। इनका संगठन उनके अथवा संस्थाओं द्वारा निर्वाचित प्रबन्ध-समिति द्वारा किया जाता था। इन स्कूलों को सरकार भी सहायता दिया करती थी। दूसरे प्रकार के स्कूलों का आयोजन सरकार स्वयं करती थी। इनमें शिक्षा के राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण पर ध्यान दिया जाता था। इन दोनों प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था में समाज-हित की भावना प्रधान थी। पहले प्रकार के स्कूलों को लोकहित-शिक्षा-आन्दोलन (फ़िलैन्थ्रॉपिक एडूकेशनल मूवमेण्ट) कहते हैं और दूसरे प्रकार की शिक्षा से 'राज्य-व्यवस्था' (स्टेट सिस्टम) का प्रारम्भ होता है। पहले हम लोक-हित-शिक्षा आन्दोलन पर विचार करेंगे।

(२) लोकहित-शिक्षा-आन्दोलन—

लोकहित-शिक्षा का प्रारम्भ विशेषकर जर्मनी से होता है। बेसडो के शिक्षा-आन्दोलन पर हम विचार कर ही चुके हैं। स्विस सुधारक पेस्तॉलॉज़ी

का भी प्रयत्न लोकहित की कामना से ही था। उसके शिष्य फ़ैलेनवर्ग (१७७१-१८४४) ने इस प्रकार की शिक्षा को और आगे बढ़ाया। फ़ैलेनवर्ग का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पेस्टॉलॉज़ी का ही था। १८०६-१८४४ ई० तक उसने हॉफ़विल में एक स्कूल बहुत ही सफलतापूर्वक चलाया। फ़ैलनवर्ग समाज-हित को प्रमुख रखता था। कृषि तथा अन्य व्यवसाय में युवकों को वह शिक्षित करना चाहता था। व्यावसायिक शिक्षा के साथ जो कुछ बौद्धिक शिक्षा सम्भव हो सकती थी उसे भी वह देता था। १८१० ई० तक उसके स्कूल की ख्याति चारों ओर बहुत बढ़ गई। विशेषकर उसके कृषि स्कूल का अध्ययन करने के लिये लोग दूर-दूर से आने लगे। फ़ैलेनवर्ग की शिक्षा-व्यवस्था इतनी प्रसिद्ध हुई कि योरोप और अमेरिका में उसका बड़ा विज्ञापन किया गया। युवकों को शिक्षा देने के साथ ही साथ फ़ैलेनवर्ग धनी लोगों को दीनों के सम्पर्क में लाना चाहता था जिससे वे उनके साथ सहानुभूति रख सकें। इसके लिये वह दोनों को एक साथ ही शिक्षा देता था। फ़ैलेनवर्ग ने छः सौ एकड़ ज़मीन अपने स्कूल के लिये खरीदी। कृषि इत्यादि के लिये यन्त्र व औजार तथा पहनने के लिये कपड़े को तैयार करने की वहाँ व्यवस्था की गई। धनिकों को साहित्यिक शिक्षा देने का भी प्रबन्ध किया गया। एक छापाखाना भी खोला गया। कारीगरों की शिक्षा का भी आयोजन किया गया। दीनों की शिक्षा के लिये कृषि स्कूल खोला गया। यहीं पर देहातों में पढ़ाने के लिये शिक्षकों को भी तैयार किया जाता था। फ़ैलेनवर्ग का स्कूल इतना प्रसिद्ध हुआ कि उसी के आदर्श पर स्विट्ज़रलैण्ड, फ़ान्स, दक्षिणी जर्मन प्रदेश, इंगलैण्ड तथा अमेरिका में नए नए स्कूल खुल गए।

(३) 'शिष्याध्यापक-प्रणाली' (मॉनिटोरियल सिस्टम)—

मद्रास में अपने अनुभव के फलस्वरूप डा० ऐण्ड्रूवेल ने १७९७ में इंगलैण्ड में 'शिष्याध्यापक-प्रणाली' को प्रारम्भ किया। इस व्यवस्था के अनुसार बड़े विद्यार्थियों को छोटों के पढ़ाने का भार दे दिया जाता था। इस प्रकार एक ही अध्यापक बहुत अधिक बालकों की शिक्षा की व्यवस्था कर सकता था। १७९८ में ज़ोज़ेफ लंकास्टर ने भी इसी प्रकार की व्यवस्था का पता स्वतन्त्र रूप से लगाया। बहुत अध्यापकों को वेतन देने में असमर्थ होने के कारण उसने बड़े विद्यार्थियों को शिक्षा का भार सौंप दिया था। उसे इसमें बड़ी सफलता मिली। अब बेल और लंकास्टर सिद्धान्ततः एक दूसरे के समर्थक हो गये। शीघ्र ही बहुत से चैरिटी-स्कूलों (जहाँ निःशुल्क पढ़ाई होती थी)

में इस प्रणाली को अपना लिया गया। फ्रान्स, हालैण्ड तथा डेनमार्क में 'शिष्याध्यापक-प्रणाली' प्रचलित हो गई। योजना के सस्ते होने के कारण फ्रान्स और बेलजियम में कुछ दिनों तक इस पर प्रयोग किया गया। परन्तु इसके दोषों के कारण इसको शीघ्र ही त्याग दिया गया। जर्मनी में पेस्टॉलॉज़ी की प्रणाली इतनी प्रसिद्ध हो चली थी कि वहाँ इसको विशेष स्थान न मिल सका। अमेरिका मे इस प्रणाली का अधिक प्रचार हुआ। 'शिष्याध्यापक-प्रणाली' में स्कूल का संगठन अच्छा था। बालकों पर बड़ा कड़ा नियन्त्रण रक्खा जाता था। संगठन इतना दृढ़ था कि स्कूल का काम प्रायः मशीन की तरह चलने लगा। मॉनिटर अपनी अच्छाई दिखलाने के लिये सदैव स्पर्धा-भावना से कार्य करते थे। चारों ओर क्रियाशीलता और सैनिक-विनय दिखलाई पड़ता था। इन स्कूलों में पढ़ने वाले बालक प्रायः छोटे कुटुम्बों से आते थे। अतः इनके सैनिक-विनय का उन पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा।

'शिष्याध्यापक-प्रणाली' से शिक्षा के कार्य में बड़ी प्रगति हुई। फलतः स्कूलों के प्रति जनता में सद्भावना का संचार हुआ। शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत बढ़ गया और अब पहले से अधिक शिक्षा की चर्चा की जाने लगी। इन स्कूलों में एक ही शिक्षक ५००-६०० बालकों तक की शिक्षा की व्यवस्था सरलता से कर सकता था और पहले से अच्छा फल भी दिखला सकता था। परन्तु इस प्रणाली में दोष भी बहुत आ गये। इसकी कोई मनोवैज्ञानिक भित्ति न थी। 'रटने-रटाने' पर ही विशेष बल दिया जाता था। अध्यापन-कार्य धीरे-धीरे आडम्बरपूर्ण हो चला। परन्तु कक्षाओं के वर्गीकरण की विधि अच्छी थी। एक विषय में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेने पर उस विषय के लिये नई कक्षा में विद्यार्थियों को चढ़ा दिया जाता था।

(४) शिशु पाठशाला (इनफैण्ट स्कूल)—

लोकहित कामना से प्रेरित होकर राबर्ट ओवेन (१७७१—१८५८) ने छोटे-छोटे बच्चों के लिये इङ्गलैण्ड में शिशु पाठशाला खोलने की व्यवस्था की। राबर्ट ओवेन बड़ा दयालु और बालक-भक्त था। परोपकार-भावना उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। वह न्यू लानार्क मिल का व्यवस्थापक (१६६६) था। उसने देखा कि पाँच, छः, सात वर्ष के बच्चे फैक्टरियों में कुछ न कुछ कार्य के लिये रखे गए हैं। उनसे बारह या तेरह घण्टे काम लिया जाता था। नौ वर्ष कार्य करा लेने के बाद उन्हें इधर-उधर भटकने के लिये छोड़ दिया जाता था। उनकी कुछ भी व्यवस्था न की जाती थी। इस अव्यवस्था को देखकर ओवेन

का हृदय सिहर उठा। उसने बच्चों के लिये बहुत से स्कूल खोले। इनमें तीन वर्ष तक के उम्र के बच्चे प्रवेश पा सकते थे। इनके माता-पिता के फैक्टरी में काम करने के समय इनकी देख-रेख की उचित व्यवस्था की जाती थी। छः साल से कम उम्र वाले बच्चों को गाना, नाचना और खेलना सिखलाया जाता था। दस वर्ष के नीचे के बच्चों को मिल में काम करने से बन्द कर दिया गया। ओवेन नैतिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देता था। १८१४ तक उसके स्कूल बहुत प्रसिद्ध हो गए। १८१७ में ऐसे स्कूलों की व्यवस्था के लिये उसने एक कार्य-क्रम प्रकाशित किया। १७१८ में ओवेन 'फ्रो ब्रॉउघम तथा जेम्स मिल जैसे व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हुआ। लन्दन में १८१८ में इन लोगों ने एक 'इनफ़ैएट' स्कूल खोला। १८३६ में 'इनफैएट' स्कूलों के शिक्षकों की शिक्षा तथा इन स्कूलों की व्यवस्था के लिये "होम एण्ड कोलोनियल इनफैएट स्कूल सोसाइटी" स्थापित की गई। इनफैएट स्कूलों की भित्ति मनोवैज्ञानिक थी। पेस्तॉलॉज़ी का उन पर बड़ा प्रभाव था क्योंकि स्वयं ओवेन तथा अन्य व्यवस्थापक पेस्तॉलॉज़ी की प्रणाली का अध्ययन स्विट्ज़रलैण्ड में जाकर कर आये थे। शिष्याध्यापक-प्रणाली की अमनोवैज्ञानिकता के कारण उसका पतन प्रारम्भ हो गया था। अतः 'इनफ़ैएट' स्कूलों में जनता की रुचि स्वाभाविक थी। इन स्कूलों के प्रचार से शिक्षा में लोगों में पहले से सबसे रुचि उत्पन्न हो गई। छोटे-छोटे बच्चों के पढ़ाने के लिये स्त्रियों की शिक्षा नितान्त आवश्यक जान पड़ने लगी। शिक्षण-शिक्षा की भी आवश्यकता का लोगों ने अनुभव किया।

६—'राज्य--शिक्षा--प्रणाली' (स्टेट सिस्टम)

(१) जर्मनी—

नैपोलियन (१८०३) से प्रशा के हार जाने पर फ्रेडरिक विलियम तृतीय ने यह अनुभव किया कि स्कूलों की व्यवस्था सरकार को अपने हाथ में ले लेनी चाहिये। जर्मनों ने यह समझ लिया था कि राजनैतिक शक्ति तथा आर्थिक सम्पत्ति के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। उनके इस अनुमान का आभास हमें अठारहवीं शताब्दी के अन्त ही में मिल जाता है जब फ्रेडरिक महान् ने स्कूल में उपस्थिति अनिवार्य कर दी थी तथा उचित पाठ्य-पुस्तक, शिक्षण-शिक्षा और शिक्षा में धार्मिक सहिष्णुता के प्रति सहानुभूति दिखलाई थी। १७६४ में शिक्षा विषयक एक 'जनरल कोड' प्रकाशित किया गया था। इसके अनुसार यह स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया गया कि सभी स्कूल और विश्वविद्यालय सरकारी नियन्त्रण के अन्तर्गत हैं और उनका

निरीक्षण किसी समय भी किया जा सकता है। यह भी निश्चित कर दिया गया कि शिक्षकों की नियुक्ति 'राज्य' करेगा और वे राज्य के नौकर कहे जायेंगे। अपने धर्म के कारण कोई शिक्षा से वंचित नहीं किया जायगा और किसी धर्म के पढ़ने के लिये व्यक्ति को विवश नहीं किया जायगा। १८०७ में 'ब्यूरो ऑव् एडूकेशन' स्थापित किया गया। १८२५ में इसी का नाम 'मिनिस्ट्री ऑव् एडूकेशन' पड़ा और इसका संगठन पहले से दृढ़ कर दिया गया। देश को शिक्षा के लिए कई प्रदेशों में बाँट दिया गया। १८०८ से १८११ के अन्तर्गत प्राथमिक स्कूलों में पेस्तॉलॉज़ी-प्रणाली का प्रचार किया गया। प्रशा के स्कूल के नियमों के अनुसार १८२५, १८५४ और १८७२ में शिक्षा व्यवस्था की कायापलट करने का विचार किया गया। हर बार केन्द्रीय नियन्त्रण को बढ़ाने की ओर ही प्रगति रही। प्रशा के प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल अलग-अलग हैं। माध्यमिक स्कूल तीन प्रकार के हैं: १—'जिमनैजियेन'—इसमें प्राचीन साहित्य को विशेष महत्त्व दिया जाता है, २—'रीयल स्कूलेन'—इसमें विशेषकर आधुनिक भाषाएँ, गणित तथा प्राकृतिक विज्ञान पढ़ाये जाते हैं, ३—'रीयल जिमनैजियेन'-इसमें दोनों प्रकार के स्कूलों के विषय कुछ-कुछ पढ़ाये जाते हैं। विश्वविद्यालय चर्च के अधिकार से एकदम स्वतन्त्र हैं परन्तु केन्द्रीय सरकार का उनके ऊपर पूरा अधिकार है।

(२) फ्रान्स—

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक फ्रान्स में जनवर्ग की शिक्षा के लिए सरकार कभी विशेष रुचि न दिखा सकी। क्रान्ति-काल में प्राथमिक शिक्षा के लिए बहुत आन्दोलन किया गया। नैपोलियन का शिक्षा से विशेष प्रेम था। सम्राट् हो जाने पर उसने सभी माध्यमिक स्कूलों तथा कॉलेजों को एक ही संस्था के आधीन कर दिया। इस संस्था का नाम 'यूनीवर्सिटी ऑव् फ्रान्स' (१८०८) रखा गया। देश को सत्ताइस शिक्षा-विभागों (एकेडेमीज़) में बाँट दिया गया और प्रत्येक में विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। अभी तक प्राथमिक शिक्षा पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा था। लुई फ़िलिप के राज-काल में प्राथमिक-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रत्येक अथवा दो या तीन 'कम्यूनस' (फ्रान्स का एक विभाग) के लिये एक प्राथमिक स्कूल आवश्यक सा मान लिया गया। उनके निरीक्षण के लिये 'इन्स्पेक्टर' भी नियुक्त कर दिये गए। तीसरी रिपब्लिक (१८८१-८२) के काल में प्राथमिक-शिक्षा ६ से १३ वर्ष के बालकों के लिए, बहुत से नार्मल स्कूल खोले-

गए। स्त्रियों को भी शिक्षण-शिक्षा दी जाने लगी। १८६८ में उच्च प्राथमिक शिक्षा के लिए अन्य स्कूल भी खोले गए। स्कूलों को धीरे-धीरे पादरियों के हाथ से बाहर निकाल लिया गया (१८८६)। उनमें धार्मिक शिक्षा के स्थान पर नैतिक तथा नागरिक शिक्षा की व्यवस्था कर दी गई (१८८१)।

फ्रान्स के माध्यमिक स्कूल प्राथमिक स्कूलों से एकदम अलग हैं। 'लुसे' और कम्यूनल कॉलेज इसके दो विभाग हैं। इनका प्रारम्भ नैपोलियन के समय से ही होता है। साधारणतः दस वर्ष की अवस्था में बालकों को इनमें लिया जाता है। शुल्क इतना थोड़ा लगता है कि उससे व्यय का काम नहीं चलता, लुसे सम्पूर्ण रूप से 'राज्य' के अन्दर हैं। परन्तु 'कालेज' के व्यय का भार कुछ 'कम्यून' को भी उठाना पड़ता है। 'लुसे' कालेज से अच्छे समझे जाते हैं। १८८० तक लड़कियों की शिक्षा धार्मिक संस्थाओं अथवा निजी (प्राइवेट) स्कूलों द्वारा दी जाती थी। अब भी लड़कों और लड़कियों की शिक्षा में समानता नहीं है।

राजतन्त्र के पुनः स्थापित हो जाने पर नैपोलियन के स्थापित किये हुये विश्वविद्यालयों में से आधे से अधिक बन्द कर दिये गए। परन्तु लुई फ़िलिप के समय से उनमें फिर सुधार होने लगे। १८९६ में एक-दो छोड़कर और सभी पन्द्रह 'एकेडेमीज़' में एक एक विश्वविद्यालय की व्यवस्था कर दी गई। विश्व-विद्यालय आकार में एक दूसरे से छोटे-बड़े हैं। परन्तु राज्य की ओर से उपाधि वितरण करते हैं।

फ्रान्स में शिक्षा की पूरी व्यवस्था शिक्षा-मन्त्री के हाथ में है। शिक्षा मन्त्री के अन्तर्गत तीनों श्रेणियों की शिक्षा की देख भाल के लिये तीन डाइरेक्टर हैं। हर एक 'एकेडेमी' एक 'रेक्टर' (अध्ययन) के आधीन है। 'रेक्टर' की सहायता के लिये 'प्रीफ़ेक्ट' (राज्याधिकारी) नियुक्त किये गए हैं। स्कूलों के निरीक्षण के लिये बहुत से इन्स्पेक्टर भी नियुक्त किये गये हैं। इस प्रकार फ्रान्स में शिक्षा पर 'राज्य' का पूरा नियन्त्रण है।

(३) इंगलैण्ड—

इंगलैण्ड में शिक्षा का राष्ट्रीयकरण शीघ्र न हो सका। वहाँ इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। वहाँ के धनी वर्ग का रुख साधारण जनता के लिये सहानुभूति पूर्ण न था। शताब्दियों तक शिक्षा का उत्तरदायित्व 'राज्य' ने स्वीकार नहीं किया। उसका भार प्रधानतः 'चर्च' और कुटुम्ब पर रहता था। उन्नीसवीं शताब्दी में पार्लियामेण्ट का ध्यान शिक्षा की ओर आकर्षित किया

गया। १८३३ में प्राथमिक शिक्षा के लिये पार्लियामेण्ट ने २०००० पौण्ड की प्रथम स्वीकृति दी। यह धन प्रधानतः स्कूलों के भवन बनवाने के लिये दिया गया था। १८३६ में प्राथमिक शिक्षा के लिये वार्षिक सहायता ३०००० पौण्ड कर दी गई। इसी साल 'आर्थिक स्वीकृति' (ग्राण्ट) की देख-भाल के लिये 'कमिटी आव् प्रिवी कौन्सिल' की स्थापना की गई १८६१ में विद्यार्थियों की परीक्षा में सफलता (पेमेण्ट बाई रेज़ल्ट्स) के आधार पर सरकारी सहायता देने का नियम बना दिया गया। परन्तु यह व्यवस्था ठीक न चल सकी। अतः इन्स्पेक्टरों की राय पर सहायता देने का नियम बना लिया गया। १८६८ में दूसरे सुधार बिल के स्वीकृत होने पर शिक्षा की आवश्यकता का लोगों को अनुभव हुआ। सार्वलौकिक शिक्षा आन्दोलन पहले से अधिक जोर पकड़ने लगा। फलतः १८७० में 'बोर्ड स्कूल्स' के खोलने का प्रबन्ध किया गया। यदि कहीं बालकों की संख्या अति अधिक हो जाती थी तो उनके लिये 'बोर्ड स्कूल' खोले जाते थे। इनके आर्थिक व्यय का भार 'जनता' तथा सरकार दोनों पर था। १८७० के 'बिल' से शिक्षा के विधान में एकरूपता न आई क्योंकि कुछ स्कूल अपने धर्म के अनुसार शिक्षा देने के लिये स्वतन्त्र थे। इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र में द्वैध प्रणाली स्थापित हो गई। १८७६ में अनिवार्य उपस्थिति के लिये राज्य-नियम पास किये गये। स्कूल में प्रवेश की अवस्था १२ वर्ष निश्चित कर दी गई (१८६६)। १८६६ में 'कमिटी आव् प्रिवी कौन्सिल' के स्थान पर 'बोर्ड आव् एडूकेशन' स्थापित कर दिया गया।

'बोर्ड' स्कूलों की दशा साम्प्रदायिक (डिनोमिनेशनल) स्कूलों से अच्छी थी। उनके अध्यापक भी अच्छे थे। लगभग तीन चौथाई बालकों की संख्या इन्हीं में पाई जाने लगी। परन्तु १९०२ से सभी प्राथमिक स्कूल एक ही व्यवस्था के अंग माने जाने लगे। 'पब्लिक स्कूल' को 'प्रोवाइडेड' (सहायता प्राप्त) और साम्प्रदायिक स्कूल को 'नॉन-प्रोवाइडेड' (जिसे सहायता न दी गई हो) कहा जाने लगा। द्वैध प्रणाली को इस प्रकार हटा दिया गया। प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों को एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत लाने की चेष्टा की गई। जनता की ही सहायता पर चलाने के लिये माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था कर दी गई। १९०३ के राज्य-नियम के अनुसार 'नॉन-प्रोवाइडेड' (चर्च) स्कूलों को भी सरकारी सहायता दे दी गई। इस प्रकार शिक्षा-व्यवस्था में एक प्रकार से कुछ एकता आ गई।

७—शिक्षा में कुछ नई धारायें

(१) व्यावसायिक शिक्षा की ओर ध्यान—

लोक-संग्रहवाद के प्रभावस्वरूप व्यक्ति को शिक्षा द्वारा नागरिकता का पाठ पढ़ाना आवश्यक जान पड़ा। इसके लिये यह आवश्यक हुआ कि शिक्षा पर 'राज्य' का पूरा अधिकार हो जाय। परन्तु केवल नागरिकता का पाठ पढ़ा देने से ही कार्य चलना सम्भव न था। व्यक्ति को ऐसा भी बनाना था कि वह समाज के बल पर बैठकर न खाय। समाज की सम्पत्ति-वृद्धि में योग देना भी उसकी नागरिकता का ही अंग माना गया। व्यक्ति तब तक स्वतन्त्र और उपयोगी नागरिक नहीं हो सकता जब तक वह अपनी रोटी स्वयं न कमा ले। अतः व्यावसायिक शिक्षा की ओर भी ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। वर्तमान युग में व्यावसायिक शिक्षा के प्रचार की बड़ी धुन है। विज्ञान के आश्चर्यमय विकास से जीविकोपार्जन के लिये बहुत से क्षेत्र खुल गये हैं। अठारहवीं शताब्दी में मिल-मालिक श्रमजीवियों के शिक्षा का प्रबन्ध स्वयं कर देता था परन्तु वर्तमान युग में ऐसा सम्भव नहीं। इसलिये उनकी शिक्षा के लिये स्कूल में व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक हो गया। व्यावसायिक शिक्षा देने में जर्मनी प्रमुख रहा। व्यावहारिक, रसायन-विज्ञान, रंगाई, बुनाई तथा बर्तन की बनाई के लिये व्यावसायिक स्कूल स्थापित किये गये। इन स्कूलों की श्रेणी माध्यमिक स्कूलों की थी। जर्मनी के विश्वविद्यालयों में जो इञ्जीनियरिंग आदि की शिक्षा दी जाती थी उससे स्कूलों की व्यावसायिक शिक्षा अधिक व्यावहारिक सिद्ध हुई। धीरे-धीरे शिक्षा का क्रम बहुत ऊँचा हो गया। 'फ़ोरमैन' (अध्यक्ष) और 'सुपरिन्टेण्डेण्ट' (निरीक्षक) की भी शिक्षा दी जाने लगी। लड़कियों को भी उनके योग्य व्यवसाय में शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया गया। कुछ ऐसे भी स्कूल हैं जो कि इञ्जीनियरिंग तथा चित्रकारी आदि में अनुभवी व्यक्ति को ही आगे की शिक्षा के लिये लेते हैं। माध्यमिक स्कूलों के अतिरिक्त विश्व-विद्यालय की कोटि की व्यापारिक शिक्षा देने वाले बहुत से स्कूल हैं। इस प्रकार के स्कूल योरोप में प्रायः सभी देशों में हैं परन्तु जर्मनी और आस्ट्रिया में इनकी प्रधानता है।

(२) फ़्रान्स, इङ्गलैण्ड, स्विटज़रलैण्ड और हालैण्ड—

फ़्रान्स में अब व्यावसायिक शिक्षा स्कूल में ही दी जाती। 'ऐप्रेन्टिसशिप' (सेवाकाल) की रीति उठा दी गई। व्यावसायिक स्कूलों में तेरह वर्ष की

अवस्था में लड़के आते हैं। विशेषकर लकड़ी का काम लड़कों को सिखलाया जाता है। परन्तु लड़के के वातावरण की आवश्यकता पर भी ध्यान दिया जाता है। लड़कियों को कृत्रिम फूल, टोपी तथा पहनावा तैयार करना सिखलाया जाता है। सभी गाँव के स्कूलों में कृषि की शिक्षा दी जाती है। शहरों के स्कूलों में किसी व्यवसाय-विशेष में लड़कों को निपुण बनाया जाता है। उन्हें बागवानी, सुई का काम, भोजन बनाना इत्यादि में शिक्षा दी जाती है। फ्रान्स में व्यावसायिक स्कूलों को रोचक बनाने का प्रयत्न किया गया है। विद्यार्थियों के मनोरंजनार्थ पुस्तकालय, कौतुकालय, तथा सुन्दर बाग की व्यवस्था की गई है। इंगलेंड में व्यावसायिक शिक्षा का सरकारी रूप १८५१ से झलकता है। स्कूलों के लिए कुछ सहायता निश्चित कर दी गई। इनमें प्रायः सन्ध्या काल पढ़ाई हुआ करती थी। लकड़ी का काम, सीना तथा भोजन बनाने की शिक्षा दी जाती थी। १८७१ में इन स्कूलों का पुन: संगठन किया गया। इनमें अब दिन में भी शिक्षा दी जाने लगी है। गृह-कार्य, कपड़े धोना, बागबानी तथा दूध आदि के व्यवसाय में शिक्षा दी जाती है। कुछ उच्च प्राथमिक स्कूल भी स्थापित कर दिए गए हैं। इनमें चार साल तक वातावरण की आवश्यकतानुसार शिक्षा दी जाती है। स्विट्जरलैंड में प्राय: प्राथमिक स्कूलों में ही व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था कर दी गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्कूल भी खोल दिये गए हैं। उच स्कूलों में स्थानीय उद्योग-धन्धों तथा दूध के काम में शिक्षा दी जाती है।

(३) विशेष-उद्यम में शिक्षा—

वर्तमान युग में विभिन्न उद्यमों में युवक को निपुण बनाने की बड़ी धूम है। युवकों को केवल साधारण व्यावसायिक शिक्षा ही नहीं दी जाती, वरन् किसी विशेष उद्यम में उन्हें निपुण बनाने की भी चेष्टा की जाती है। इसमें जर्मनी सबसे प्रमुख रहा है। इस ओर फ्रान्स और इंगलैण्ड का बहुत दिन तक अधिक ध्यान न रहा। लड़कों की संख्या भी बहुत कम रहा करती थी। परन्तु अब बड़े बड़े शहरों में ऊँची व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया गया है। फ्रान्स और जर्मनी में इधर कृषि-शिक्षा पर भी अधिक ध्यान है। फ्रान्स के नार्मल स्कूलों में कृषि एक विषय मान लिया गया है। जर्मनी में माध्यमिक श्रेणी के स्कूल खोल दिये गये हैं। इनमें 'रीयल' स्कूल के छठे साल बाद विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आ सकते हैं। जंगल में लकड़ी आदि के काम की भी शिक्षा दी जाती है। इधर डेनमार्क में कृषि-शिक्षा पर विशेष ध्यान

दिया जा रहा है। इससे राष्ट्र में पुनर्जागृति-सी आ गई है। इस कार्य में वहाँ के "पिपुल्स हाई स्कूल्स" (जनता के स्कूल) प्रधान हैं। इटली में भी अब इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है।

(४) नैतिक शिक्षा—

वैज्ञानिक युग में प्रायः सभी कुछ 'तर्क' के आधार पर चलता है। वैज्ञानिक आविष्कारों के बढ़ने से लोगों का स्वभाव संशयात्मक होने लगा। धार्मिक सिद्धान्तों में लोग अरुचि दिखलाने लगे। जीविकोपार्जन के सभी साधनों का केन्द्रीयकरण हो गया। व्यापार का रूप इतना बृहत् हो गया कि लोगों को एक दूसरे के विश्वास पर निर्भर रहना पड़ा। ऐसी स्थिति में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता हुई। वर्तमान युग में शिक्षा-विशेषज्ञों के सामने नैतिक शिक्षा की समस्या बड़ी जटिल हो रही है। यह समझना कठिन हो रहा है कि इसका रूप कैसा रक्खा जाय। गत पच्चीस वर्षों से योरोप के प्रायः सभी देशों में किसी न किसी रूप में नैतिक शिक्षा दी जा रही है। फ्रान्स में नैतिक शिक्षा का रूप लौकिक रहा है। किसी साम्प्रदायिक धर्म की शिक्षा स्कूलों में नहीं दी जाती। परन्तु इंगलैण्ड और जर्मनी की नैतिक शिक्षा में धर्म का भी कुछ सत्व मिला रहता है। इंगलैण्ड के 'वॉलण्टरी' स्कूलों (चर्च) में नैतिक शिक्षा के रूप में प्रधानतः धार्मिक शिक्षा ही दी जाती है।

(५) मानसिक दोषपूर्ण बालकों की शिक्षा—

वर्तमान समय में 'मानसिक दोषपूर्ण' बालकों की शिक्षा पर ध्यान दिया जाता है। १८३७ में एडवार्ड सेग्विन ने ऐसे बालकों की शिक्षा के लिये फ्रान्स में एक मनोवैज्ञानिक प्रणाली निकाली। ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजना देकर मस्तिष्क को जागृत करना इस प्रणाली का सिद्धान्त है। सेग्विन ने अपना काम संयुक्तराज अमेरिका में पहले से अधिक मनोवैज्ञानिक बना लिया। वहाँ (१८५१) इसको बड़ी सफलता मिली। इसी का अनुकरण योरोप में भी किया जाने लगा। जब शिक्षा राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत आ गई तो सभी प्रकार के बालकों की शिक्षा की ओर ध्यान देना स्वभाविक ही था। मन्द मस्तिष्क वालों की शिक्षा की ऐसी व्यवस्था की गई कि उनमें ज्ञान का कुछ प्रकाश हो सके। इन स्कूलों के संगठन का सम्पूर्ण भार 'राज्य' न ले सका। अतः उनके आयोजन का कुछ भार चर्च तथा अन्य परोपकारी संस्थाओं को लेना पड़ा। गत युद्ध के पहले जर्मनी में सौ से अधिक ऐसे स्कूल थे। उनमें लगभग बीस हज़ार बालकों की शिक्षा की व्यवस्था थी। फ्रान्स में दोषयुक्त बालकों के लिये बहुत कम स्कूल हैं। इंगलैण्ड

में भी ऐसे स्कूल पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। परन्तु लन्दन में एक बहुत ही अच्छा स्कूल है जहाँ लगभग दो हज़ार दोषयुक्त बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध है। इसके अतिरिक्त इधर-उधर आठ-दस स्कूल और हैं; पर उनकी व्यवस्था सेग्विन-प्रणाली के सदृश् मनोवैज्ञानिक नहीं है। वे पुस्तकीय शिक्षा और शारीरिक परिश्रम पर विशेष बल देते हैं। १८७४ से नार्वे, स्विट्ज़रलैण्ड तथा आस्ट्रिया में भी ऐसे स्कूलों का प्रबन्ध हो गया है।

(६) अन्धे और बहरे बालकों की शिक्षा—

अठारहवीं शताब्दी के अन्त से अंधे और बहरे बालकों की शिक्षा पर पहले से अधिक ध्यान दिया जाने लगा। बहरे बालकों की शिक्षा का आरम्भ मनोवैज्ञानिक ढंग पर फ्रान्स के "एबी डी लएपी" (१७१२–८६) ने आरम्भ किया। उसकी प्रणाली शारीरिक कार्य पर अवलम्बित थी। धीरे-धीरे योरोप के सभी देशों में इस प्रणाली का प्रचार हो गया। शारीरिक कार्य के अतिरिक्त एक मौखिक प्रणाली का भी आविष्कार जर्मनी में किया गया। प्रारम्भ में इसका विशेष प्रचार न हो सका। परन्तु अब मौखिक प्रणाली की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गई है। अन्धों की शिक्षा के लिये १७८४ में वैलेन टाइन हावी ने पेरिस में संसार का प्रथम स्कूल स्थापित किया। १७९१ में लिवरपूल (इङ्गलैण्ड) में अन्धों के लिये एक स्कूल स्थापित किया गया। १८०६ तक जर्मनी में भी कुछ स्कूल खुल गए। पहले इनका आयोजन परोपकारी संस्थाओं द्वारा किया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे राज्य ने उन्हें अपने नियन्त्रण के अन्तर्गत ले लिया। इङ्गलैण्ड में इनकी शिक्षा में व्यापार सिखाने का उद्देश्य रहता है। जर्मनी में व्यावसायिक शिक्षा तो देते ही हैं पर उसमें कुछ ज्ञान का भी समावेश रहता है। १८२५ में लुई ब्लेल में वर्णमाला के आधार पर एक नई प्रणाली का आविष्कार किया। यह प्रणाली चारों ओर शीघ्र ही अपना ली गई।

(७) असाधारण बालकों की शिक्षा —

नये युग में असाधारण बालकों की शिक्षा की ओर भी अलग से ध्यान देने का प्रयत्न किया जाता है। फ्रेञ्च मनोवैज्ञानिक एल्फ्रेड बिने (१८५७-१९११) के आविष्कार से तीव्र बुद्धि के बालकों का पता लगाना कुछ सम्भव हो गया। असाधारण बालकों की बुद्धि-परीक्षा कर उनकी योग्यता का पता लगाया जाता है और तदनुसार उनकी शिक्षा में विशेष ध्यान दिया जाता है। इस क्षेत्र में संयुक्तराज्य अमेरिका अग्रगण्य है परन्तु योरप में भी अब इधर ध्यान दिया

जाने लगा है। विभिन्न स्कूल विषयों में बालकों की मानसिक योग्यता का पता लगाने का भी आजकल प्रयत्न किया जा रहा है। इसमें अमेरिका के थॉर्नडाइक प्रमुख है।

(८) कुछ अन्य नयी जागृतियाँ—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षा के केन्द्रीयकरण की प्रत्येक देश में धूम है। स्कूलों में अब शारीरिक शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। बालकों की स्वास्थ्य-परीक्षा के लिये सरकार की ओर से डाक्टर नियुक्त रहते हैं। निर्धारित समय पर वे स्कूलों में स्वास्थ्य निरीक्षण किया करते हैं। बालकों तथा उनके अभिभावकों को वे स्वास्थ्य-सम्बन्धी राय दिया करते हैं। बालकों के उचित पोषण पर भी ध्यान दिया जाता है। इसके लिये स्कूलों से भी कुछ व्यवस्था की जाती है। अध्यापकों की अध्यापन-कला की शिक्षा को और मनोवैज्ञानिक बनाने की वर्तमान काल में बड़ी चेष्टा की जा रही है। अपने अधिकारों की रक्षा के लिये शिक्षकगण अपना एक अलग वर्ग बनाने की धुन में दिखलाई पड़ते हैं। उन्होंने अपनी अलग-अलग संस्थायें स्थापित कर ली है। वर्तमान युग में अभूतपूर्व रुचि दिखलाई पड़ती है। इस क्षेत्र में नई-नई बातों का पता लगाने के लिये मनोवैज्ञानिक अपना जीवन उत्सर्ग करते दिखलाई पड़ रहे हैं। इनके उद्योग की झलक हम विभिन्न पत्रिकाओं में पा सकते हैं। इसी दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी किया जाने लगा है। इन सम्मेलनों में विभिन्न शिक्षा-समस्याओं पर प्रकाश डाला जाता है।

(९) ड्यूइ और मॉन्तेसरी—

ड्यूइ (अमेरिका) ने अपने सिद्धान्तों से वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में एक प्रकार की क्रांति मचा रखी है। ड्यूइ स्कूल को व्यावहारिक तथा समाज का एक ऐसा छोटा रूप बनाना चाहता है जहाँ बालक योग्य नागरिकता का पाठ सीख सकें। योरोप किंवा संसार का ऐसा कोई सभ्य देश नहीं जहाँ उसके शिक्षा-सिद्धान्तों की चर्चा न हो और उसके सिद्धान्तों को अपनाने का प्रयत्न न किया जा रहा हो। अतः ड्यूइ के सिद्धान्तों पर आगे हम और स्पष्टतया विचार करेंगे। आजकल शिशुओं की शिक्षा में भी विशेष रुचि ली जाती है। योरोप में प्रायः सभी देशों में 'नर्सरी स्कूल' खोलने की धुन है। इस प्रणाली के निर्माता डा० मॉन्तेसरी हैं। इनके भी सिद्धान्तों पर हम आगे स्पष्टतया विचार करेंगे।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

लोक-संग्रहवाद

१—लोक-संग्रहवाद और वैज्ञानिक प्रगति

'शिक्षा में 'विनय की भावना-पद्धति'का खण्डन, पाठ्य-वस्तु में परिवर्त्तन, वैज्ञानिक विज्ञान को, समाजहितवादी प्राकृतिक तथा समाज विज्ञान को, वैज्ञानिक व्यक्तिवादी, दोनों। जनवर्ग के लिये शिक्षा के इच्छुक, वाह्याडम्बर के विरुद्ध, उत्कृष्ट विकास की ओर; परन्तु दोनों का उद्देश्य भिन्न।

२—लोक-संग्रहवाद और मनोवैज्ञानिक प्रगति

मनोवैज्ञानिकों का उद्देश्य लोकहित ही, पेस्तॉलॉज़ी का उद्देश्य समाज-सेवा, बालक को जीवकोपार्जन के योग्य बनाना चाहता था, शिक्षा का क्षेत्र स्कूल तक ही सीमित नहीं।

हरबार्ट में लोक-संग्रहवाद—

नैतिक विकास, बहुरुचि के अनुसार जीवन के विभिन्न अंगों में शिक्षा, व्यक्ति को लोकहित के लिये ही शिक्षित करना।

फ्रोबेल में लोक-संग्रहवाद—

किण्डर गार्टन में, फ्रोबेल के सिद्धान्तों का कार्यान्वित किया जाना, पाठ्य-वस्तु जीवन का सारमात्र, स्कूल समाज का एक छोटा रूप।

३—शिक्षा में लोक-संग्रहवाद की उत्पत्ति

वैज्ञानिक आविष्कारों से जीवन के उद्देश्य में परिवर्तन, प्रजातन्त्र का विकास, श्रमजीवियों के बच्चों और स्त्रियों का समुचित प्रबन्ध आवश्यक, नागरिकता के विकास की ओर लोगों का ध्यान, व्यक्तिवाद की बलि, शिक्षा का उद्देश्य समाज-हित—नागरिक का जीवन पूर्णतया सफल बनाना, ज्ञान का महत्व घट गया, पाठ्य-वस्तु में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन, व्यक्ति और समाज हित की अभिन्नता पर बल, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा।

४—समाज-शास्त्र में शिक्षा का तात्पर्य

शिक्षा ज्ञान के प्रसार का साधन, ज्ञान के ही प्रसार से बुद्धि का यथेष्ट विकास, अतः शिक्षा एक सामाजिक कार्य, इसकी व्यवस्था राज्य द्वारा।

शिक्षा समाज-नियन्त्रण का साधन, स्कूलों की सहायता से सामाजिक नियन्त्रण सम्भव, शिक्षक वांछित भावनाएँ उत्पन्न कर सकते हैं, नैतिक उद्देश्य का सामावेश, आध्यात्मिक विकास की ओर ध्यान नहीं, लोकहित को प्रधानता।

परम्परागत सभ्यता की रक्षा करना, नहीं तो दृष्टिकोण संकीर्ण हो जायगा, भूतकाल के अनुभव से परिचित कराना शिक्षा का उद्देश्य।

'कमिटी ऑव प्रिवी कौन्सिल,' पेमेन्ट बाई रेज़ल्ट्स,' १८७० में बोर्ड स्कूल, १८८२ में 'बोर्ड ऑव एडूकेशन।

१९०२ से सभी प्राथमिक स्कूल एक ही व्यवस्था के अंग, १९०३ से शिक्षा व्यवस्था में एकता।

७—शिक्षा में कुछ नई धारायें

(१) व्यावसायिक शिक्षा की ओर ध्यान

(२) फ़्रान्स, इङ्गलैण्ड, स्विटज़लैण्ड और हालैण्ड।

(३) विशेष-उद्यम में शिक्षा—

फ़्रान्स और जर्मनी में कृषि शिक्षा पर बल, डेनमार्क और इटली।

(४) नैतिक शिक्षा—

फ़्रान्स, इङ्गलैण्ड, जर्मनी।

(५) मानसिक दोषपूर्ण बालकों की शिक्षा—

एडवार्ड सेग्विन, जर्मनी, इङ्गलैण्ड, फ़्रान्स, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रिया, नार्वे,।

(६) अन्धे और बहरे बालकों की शिक्षा

(७) असाधारण बालकों की शिक्षा।

(८) कुछ अन्य नयी जागृतियाँ

शारीरिक शिक्षा पर ध्यान स्वास्थ्य-परीक्षा, पोषण पर ध्यान, अध्यापन-कला को अधिक मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न।

(९) ड्यूइ, मॉन्तेसरी।

सहायक ग्रन्थ

१—मनरो—'टेक्स्ट-बुक इन द हिस्ट्री ऑव एडूकेशन' अध्याय १३।

२—विनसेण्ट—'दी सोशल माइण्ड ऐण्ड एडूकेशन'।

३—जेन्क्स—'एडूकेशन फ़ॉर सिटिज़ेनशिप'।

४—रसेल—'जर्मन हायर स्कूल्स'।

५—ग्रेव्ज़—'ए स्टूडेन्ट्स हिस्ट्री ऑव एडूकेशन', अध्याय, २५, २७।

६—कबरली—'हिस्ट्री ऑव एडूकेशन', अध्याय २६।

७—फैरिंगटन—'फ़्रेञ्च सेकेण्डरी स्कूल्स' (लॉंगमैन्स ग्रीन, १९१०)।

८—स्मिथ ऐना टी०—'एडूकेशन इन फ़्रान्स'।

९—ग्रीनो जे० सी०—'दी इवॉलूशन ऑव दी एलेमेण्टरी स्कूल्स ऑव ग्रेट ब्रिटेन'।

१०—शार्पलेस—'इङ्गलिश एडूकेशन इन एलेमेन्टरी एण्ड सेकेण्डरी स्कूल' (एप्लीटन)।

११—एलेन, ई० ए०—'एडूकेशन ऑव डिफ़ेक्टिवज़'।

१३

डा० जॉन ड्यूइ (१८५९-१९५२)

ड्यूइ संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक समझा जाता है। उसके सिद्धान्तों का प्रभाव केवल अमेरिकन शिक्षा ही पर नहीं, वरन् संसार के अन्य देशों के शिक्षा-आदर्शों पर भी पड़ा है। ड्यूइ वरमॉण्ट के बरलिङ्गटन नगर में सन् १८५९ ई० में पैदा हुआ था। ड्यूइ का प्रारम्भिक जीवन बहुत आकर्षक न रहा। उसकी शिक्षा प्रधानतः वरमॉण्ट और जॉन हॉपकिन्स विश्वविद्यालयों में हुई। इसके पश्चात् ड्यूइ ने मिशीगन और शिकागो के विश्वविद्यालयों में १९०३ तक अध्यापन का कार्य किया। १९०४ में कोलम्बिया विश्वविद्यालय, न्यूयार्क में वह दर्शन-शास्त्र का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया। इस पद पर ही उसने अपने शास्त्रीय जीवन का अधिकांश समय बिताया।

डा० जॉन ड्यूइ

ड्यूइ की प्रसिद्धि उसके शिष्यों द्वारा शीघ्र ही विदेशों में दूर दूर तक फैल गई। पेस्टॉलॉज़ी के बाद कदाचित् किसी अन्य शिक्षा-शास्त्री का ड्यूइ के समान संसार भर में इतना आदर हुआ है। अपने शिक्षा-संगठन में सुझाव के लिए विभिन्न देशों ने ड्यूइ को आमन्त्रित किया। इस सम्बन्ध में जापान, चीन, टर्की तथा रूस आदि देशों के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

१—शिकागो विश्वविद्यालय का प्रयोगात्मक स्कूल—

अपने शिक्षा-सिद्धान्तों की परीक्षा तथा उन्हें कार्यान्वित करने के

उद्देश्य से १८९६ में ड्यूइ ने शिकागो विश्वविद्यालय में अपना प्रयोगात्मक स्कूल खोला। इस स्कूल में ४ से १४ वर्ष के बच्चों को लिया जाता था। इन बच्चों की छोटी छोटी टोलियाँ बना दी जाती थीं। प्रत्येक टोली में आठ या दस बच्चे रहते थे। इस स्कूल में किण्डरगार्टेन के सिद्धान्तों में निपुण अध्यापकों को नियुक्त किया जाता था। स्कूल का कार्य-क्रम किसी कड़े नियम द्वारा नहीं अनुशासित था। आवश्यकतानुसार नियमों में परिवर्तन करने के लिए प्रत्येक अध्यापक को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। परन्तु विद्यार्थियों के हित में सबको यथाशक्ति प्रयत्न करना पड़ता था। इस प्रयत्न का एकमात्र उद्देश्य बालकों की शिक्षा के लिए स्वाभाविक, नयी तथा उत्तम विधियों का पता लगाना था। अपनी 'द स्कूल ऐण्ड सोसाइटी'* में ड्यूइ कहता है:—

"अध्यापक एक जिज्ञासा लिये हुये अपना कार्य प्रारम्भ करता था। किसी पूर्वनिश्चित नियम अथवा सिद्धान्तों के अनुसरण के लिए वह अपने को वाध्य न समझता था। अध्यापक अपने सामने प्रधानतः निम्नलिखित चार समस्यायें अथवा प्रश्न रखता था:—

(१) स्कूल को समाज के और निकट लाने के लिए क्या किया जाय? स्कूल को किस प्रकार चलाया जाय कि विद्यार्थी यह न समझे कि वह वहाँ केवल कुछ पाठ पढ़ने आता है? उसके दैनिक जीवन और स्कूल-कार्य में एक सीधा सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाय?

(२) इतिहास, विज्ञान और कला (आर्ट) की पाठ्य-वस्तु को कैसा बनाया जाय कि विद्यार्थी अपने व्यक्तिगत जीवन और उसमें एक सीधा सम्बन्ध देख सके?

(३) पढ़ने-लिखने तथा अंकगणित-सम्बन्धी योग्यता के बढ़ाने के हेतु शिक्षण को किस प्रकार संचालित किया जाय कि बालक तत्सम्बन्धी ज्ञान और अपने व्यक्तिगत अनुभव में एक सम्बन्ध समझ सके? इनके तथा अन्य विषयों के शिक्षण में परस्पर सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है?

(४) शिक्षण को किस प्रकार संचालित किया जाय कि प्रत्येक विद्यार्थी पर अधिक से अधिक व्यक्तिगत ध्यान दिया जा सके?"

अपने प्रयोगात्मक स्कूल में ड्यूइ उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर के लिए प्रयत्नशील रहा। बहुत प्रारम्भ से ही उसे अपनी समस्याओं के समाधान

* तीसरा संस्करण, पृष्ठ ११८–११९, शिकागो विश्वविद्यालय, १९०० ।

मिलने लगे। इस प्रयत्न में ड्यूइ अपने शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्वतः परीक्षा करने लगा। इस परीक्षा में उसे अपने सिद्धान्तों की सफलता दिखलाई पड़ती थी। ड्यूइ के प्रयोगात्मक स्कूल की प्रसिद्धि देश भर में फैल गई और अन्य स्थानों मे भी वैसे ही स्कूल खुलने लगे। इस स्कूल में किये गये ड्यूइ के अन्वेषण 'द स्कूल ऐण्ड सोसाइटी' पत्रिका में छपने लगे। यह पत्रिका देश भर में इतनी प्रिय होगई कि कभी-कभी कई संस्करण निकालने पड़ते थे।

डयूइ अपने स्कूल में बालकों को सहकारिता और उपयोगी रहन-सहन का पाठ सिखाना चाहता था। ड्यूइ का विश्वास था कि बालक की शिक्षा का प्रारम्भ उसके स्वाभाविक झुकाव से ही होना चाहिये। फलतः हरबार्ट के प्रचलित नियमित पदों का उसने अनुसरण न किया और बालक की रुचि से परे वाह्य वस्तुओं को उसे पढ़ाना उसने ठीक न समझा। वस्तुतः किसी पूर्व निश्चित पाठ्य-वस्तु को स्वीकार करना उसे पसन्द न था। पाठ्य-वस्तु को वह विद्यार्थी के वास्तविक जीवन पर ही आधारित करना चाहता था। फलतः उसका प्रयोगात्मक स्कूल 'क्रियाशीलता' का प्रतीक था। उसकी विधि का आधार बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता था। इसलिए इस आधार को ऐक्टिविटी प्रोग्राम (क्रियाशीलता-कार्य-क्रम) कहा जाता है। लिखना, पढ़ना तथा अंकगणित ज्ञान का आधार बालक की स्वाभाविक क्रिया-शीलता माना गया। 'सक्रिय सीखना' (ऐक्टिव् लर्निङ्ग) तथा 'अनुभव का पुनर्निर्माण' (रीकन्स्ट्रक्शन ऑव् ऐक्सपीरियन्स) ड्यूइ के स्कूल के दो मुख्य सिद्धान्त माने जा सकते हैं। उसका स्कूल क्रियाशीलता से भरा रहता था। ड्यूइ बहुधा कहा करता था कि "क्रियाशीलता को जीवित रखने से स्कूल नये भावों से सदैव अनुप्राणित रहता है। तब उसका जीवन से सीधा सम्बन्ध स्थापित रहता है और इस प्रकार वह समाज का एक छोटा प्रतिरूप हो जाता है।" इस प्रकार ड्यूइ के स्कूल में बालक को केवल सक्रिय ही नहीं होना था, वरन् सफल नागरिक का पाठ सीखने की भी उससे अपेक्षा की जाती थी।

फ्रोबेल, पेस्तॉलॉज़ी और बेसडो आदि शिक्षकों के स्कूलों की तुलना में ड्यूइ के प्रयोगात्मक स्कूल को अनोखा नहीं कहा जा सकता। परन्तु ड्यूइ का स्कूल देश में अपनी कोटि का प्रथम था। अतः उसे अद्वितीय कहना अनुपयुक्त न होगा। अपने स्कूल में अन्वेषण के आधार पर ड्यूइ रुचि व परिश्रम (इन्टेरेस्ट ऐण्ड एफ़र्ट), स्कूल और समाज, व्यक्तिवाद और

समाजवाद (इन्डिवीडयुवलिज़्म् ऐण्ड कलेक्टिविज़्म्) तथा बालक व पाठ्य-वस्तु (द चाइल्ड ऐण्ड द करीक्यूलम) के परस्पर सम्बन्ध को समझना चाहता था। इसके साथ ही इनसे सम्बन्धित परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में वह संश्लेषण की भी खोज करना चाहता था। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप ड्यूइ समाज में अभूतपूर्व परिवर्त्तन देखता था। उसका विश्वास था कि इन परिवर्त्तनों की गति कभी रुकेगी नहीं। अतः स्कूल को इन परिवर्त्तनों के दृष्टिकोण से अपने को सदा व्यवस्थित करते रहना है। इसी विश्वास के आधार पर ड्यूइ ने कहा है कि 'पाठ्य-वस्तु और पाठन-विधि में सुधार व परिवर्त्तन परिवर्तित सामाजिक स्थिति का उसी प्रकार द्योतक है जैसे व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में परिवर्त्तन के फलस्वरूप उनकी विधियों में परिवर्त्तन आ जाता है।" *

२—ड्यूइ की प्रधान शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें—

ड्यूइ ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। गत पचास वर्षों में उसके सैकड़ों लेख विभिन्न पत्रिकाओं में छपे हैं। उसके बहुत से प्रकाशन दर्शन-शास्त्र से सम्बन्धित हैं। शिक्षा-सम्बन्धी ड्यूइ के प्रधान प्रकाशन नीचे दिये जा रहे हैं—

१८६६—इन्टेरेस्ट ऐण्ड एफ़र्ट ऐज़ रीलेटेड टु विल।
१८६६—द स्कूल ऐण्ड सोसाइटी।
१६००—द एलमेण्टरी स्कूल रेकर्ड।
१६०२—द चाइल्ड ऐण्ड द करीक्यूलम।
१६१०—हाउ वी थिङ्क।
१६१३—इन्टेरेस्ट ऐण्ड एफ़र्ट इन एडूकेशन।
१६१५—स्कूल्स ऑव् टु-मारो।
१६१६—डेमॉक्रसी ऐण्ड एडूकेशन।
१६२०—रीकन्स्ट्रक्शन इन फिलासॉफ़ी।
१६२०—ह्यूमन नेचर ऐण्ड कॉन्डक्ट; ऐन ईन्ट्रोडक्शन टु सोशल साइकॉलॉजी।
१६२५—एक्स्पीरियन्स ऐण्ड नेचर।
१६२६—द क्वेस्ट फ़ॉर सरटेनिटी; ए स्टडी ऑव् द रीलेशन ऑव् नॉलेज ऐण्ड ऐक्शन।
१६२६—सोर्सेज़ ऑव् ए साइन्स ऑव् एडूकेशन।

* द स्कूल ऐन्ड सोसाइटी, पृष्ठ ४

३—ड्यूइ का दर्शन-शास्त्र—

ड्यूइ पहले आदर्शवादी हीगेल से बहुत ही प्रभावित था। परन्तु धीरे-धीरे उसकी विचार-धारा विलियम जेम्स और चार्ल्स पीयर्स के सिद्धान्तों के अनुरूप होने लगी और आज वह फलकवाद (प्रैगमैटिस्ट) का कट्टर प्रतिपादक कहा जाता है। ड्यूइ को कभी-कभी निमित्तवादी (इन्स्ट्रूमेण्टलिस्ट) अथवा प्रयोगात्मकवादी (एक्सपेरिमेण्टलिस्ट) की भी संज्ञा दी जाती है। ड्यूइ के अनुसार दर्शन-शास्त्र का कार्य संसार को 'जानने' से नहीं है, वरन् उसे 'नियन्त्रित करने' और 'सुधारने' से है। "इस दृष्टिकोण से दर्शन-शास्त्र का क्षेत्र उन सामाजिक उलझनों के अध्ययन करने से है जो जनतन्त्र, व्यवसाय और विज्ञान के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न होते हैं।"* दर्शन-शास्त्र के इस अध्ययन-क्षेत्र के अनुसार उसकी विधि प्रयोगात्मक हो जाती है और इस विधि का एक मात्र उद्देश्य मनुष्य के सामाजिक और नैतिक समस्याओं के समाधान हेतु उपायों का खोजना है। ड्यूइ के अनुसार समाज अथवा सारा संसार ही परिवर्तनशील है। अतः व्यक्ति की सामाजिक और नैतिक समस्यायें सदा समान नहीं रहतीं। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु के स्थायित्व की कल्पना करना भ्रमात्मक है। किसी दैवी लोक की कल्पना ड्यूइ को रुचिकर नहीं। वह मनुष्य की शक्ति में दृढ़ विश्वास करते हुये कहता है कि व्यक्ति को अपने सुधार व विकास के लिए आवश्यक पथ का स्वयं निर्माण करना है। इस निर्माण में उसे प्रयोगात्मक विधि की शरण लेनी है क्योंकि उसे अपने अनुभवों से सीखना है। अतः व्यक्ति को अपनी रचनात्मक बुद्धि (क्रिएटिव् इन्टेलिजेन्स) पर ही निर्भर रहना है। ड्यूइ का कथन है कि इस प्रकार की कल्पना दर्शन-शास्त्र को ऊँचे शिखर से उपयोगितावाद (युटिलिटेरियनिज़म्) के नीचे धरातल पर नहीं लाना है। वस्तुतः इस प्रकार का 'सोचना' व्यक्ति के अनुभव की सम्भावनाओं को अधिक तर्कपूर्ण और प्रमाण-सिद्ध बनाना है क्योंकि तब मनुष्य अपने विचारों की उड़ान में जीवन की वास्तविक समस्याओं को भूल न जायगा।†

'सोचने' के विषय में ड्यूइ का एक अपना दृष्टिकोण है। ड्यूइ की

---

* हार्न, एच० एच०, "द फ़िलॉसॉफ़ी ऑव् एडूकेशन" पृ० २९७, द मैकमिलन कम्पनी, संशोधित, १९२७।

† ड्यूइ, जे०, रीकन्स्ट्रक्शन इन फ़िलॉसॉफ़ी, पृ० १२२,

धारणा है कि 'सोचना' (थिंकिङ्ग) तभी सार्थक है जब वह जीवन की विविध समस्याओं से सम्बन्धित रहे और उनके समाधान के उपायों के खोजने में प्रयत्नशील रहे। उसने कहा है कि 'सोचना' एक ऐसा साधन है जिससे मनुष्य अपनी समस्याओं को सुलझाना चाहता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य 'जीने के लिए' 'सोचता' है। व्यक्ति के 'सोचने का क्रम' कभी रुकता नहीं क्योंकि उसके सामने सदा नई नई समस्यायें आया करती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के लिए एक बार ही कोई उद्देश निश्चित कर देना भ्रम होगा। आज की समस्यायें कल से भिन्न होती हैं और यह नहीं कहा जा सकता कि अगले दिन की समस्या का रूप क्या होगा। अतः जीवन जल के प्रवाह के सदृश् है। इसकी गति कभी रुकती नहीं। स्पष्ट है कि जीवन का कोई एक निश्चयात्मक उद्देश्य नहीं सिद्ध किया जा सकता।

ड्यूइ 'ज्ञान' (नॉलेज) और 'अनुभव' (एक्सपीरियेन्स) में कोई भेद नहीं देखता। उसके अनुसार 'अनुभव' ही ज्ञान है और 'ज्ञान' ही अनुभव है। अनुभव में किसी क्रियात्मक प्रवृत्ति अथवा प्रयोजन का होना आवश्यक है। किसी वस्तु का प्रयोजन क्या है? उसका उपयोग क्या है? अपने किसी विशिष्ट अनुभव के सम्बन्ध में व्यक्ति यदि इन प्रश्नों को अपने समक्ष रक्खे तो उसका अनुभव सार्थक होगा और वस्तु-सम्बन्धी उसका 'ज्ञान' उपयोगी होगा। परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर बिना सक्रिय अनुभव के नहीं प्राप्त किया जा सकता। अतः 'ज्ञान के पहले 'अनुभव' अथवा क्रिया (ऐक्शन) का होना आवश्यक है। स्पष्ट है कि 'ज्ञान' हमारे विभिन्न कोटि के अनुभवों का ही फल होता है। अपने वातावरण से सम्बन्धित आवश्यकताऐं, उद्देश्यों और इच्छाओं को पूर्ण करने के निमित्त व्यक्ति ने जो कुछ अपने स्वभाव में सुसंगठित कर लिया है वही 'ज्ञान' है।*

ड्यूइ 'मानव बुद्धि' (ह्यूमन इन्टेलिजेन्स) को मानव-जीवन को सुधारने का प्रधान साधन मानता है। मानव जीवन को सुधारने के लिए ड्यूइ प्रयोगात्मक विधि का उपयोग करना चाहता है। इस विधि की कसौटी पर वह सभी मानव विश्वास, परम्परा तथा संस्था की कड़ी परीक्षा करना चाहता है।

हेनरी हॉल्ट ऐण्ड कम्पनी, इन्क, न्यूयार्क, १९२०,

* ड्यूइ ० जे० 'डेमॉक्रसी ऐण्ड एडूकेशन' पृ० ४००, मैकमिलन, न्यूयार्क, १९१६।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी पूर्व निश्चित सत्य में ड्यूइ का विश्वास नहीं हो सकता। वस्तुतः फलकवादी अपने 'सत्य' की कल्पना के कारण लोगों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित करता है। प्राचीन एथेन्स के सोफ़िस्टों* के सदृश् फलकवादी 'सत्य' (ट्रुथ) अथवा 'वास्तविकता' (रियलिटी) का रूप सदा के लिए एकसा ही नहीं मानता। उसके अनुसार 'सत्य' अथवा 'वास्तविकता' के स्वरूप पर 'समय' (टाइम) और 'स्थान' (प्लेस) का सदा प्रभाव पड़ा करता है; अर्थात् जो आज के लिए 'सत्य' है वह कल के लिए नहीं हो सकता और जो एक विशिष्ट स्थान के लिए 'सत्य' है वह दूसरे स्थान के लिए प्रामाणिक नहीं भी हो सकता। 'सत्य' की परीक्षा के लिए फलकवादी पूछता है कि 'क्या यह समय, स्थान और परिस्थति के अनुकूल है (डज़ इट वर्क) ?' जब तक यह अनुकूलता मिलती रहती है वस्तु की सत्यता जीवित रहती है, उसके पश्चात् वह सत्य नहीं रह जाती क्योंकि तब उनके स्थान पर अन्य बातें प्रतिद्वन्दी होकर अनुकूल होने लगती है। इस प्रकार सत्य सनातन नहीं है और उसे मानव अनुभव के परे नहीं समझा जा सकता। विलियम जेम्स के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'हमें जो कुछ आज सत्य दिखलाई पड़ता है उसके आधार पर आज जीना है और कल उसी को झूठा कहने के लिए भी तैयार रहना है।'

४—उसका शिक्षा सिद्धान्त—

समय की सभी प्रकार की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए एक नये शिक्षा-सिद्धान्त के प्रतिपादन में ड्यूइ ने अन्य सभी शिक्षा-विशेषज्ञों से अधिक सफलता पाई है। ड्यूइ ने शिक्षा को एक नये ढग से मनोवैज्ञानिक और सामाजिक बनाने का प्रयत्न किया है। उसकी रचनाओं से उसके विचारों का पता लगाना सरल नहीं। कहीं-कहीं वे अस्पष्ट और परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं। ड्यूइ फलकवादी (प्रैगमैटिस्ट) कहा जाता है। वह किसी विचार, विश्वास और कार्य की महत्ता उसके फल के अनुसार आँकता है। ड्यूइ सार्वलौकिक सिद्धान्त का माननेवाला है। वह प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिये उसकी योग्यता और रुचि के अनुसार समान अवसर देना चाहता है। जो लोग अपने को उच्चवर्ग का समझते हैं उनके प्रति उसकी सहानुभूति नहीं। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि वह स्कूल को बच्चों का ऐसा आदर्श 'प्रजातन्त्र-राज्य' बनाना चाहता है जिसमें वे विभिन्न उद्यमों में कार्यशील

* पहला अध्याय पढ़िए।

रहते हुए मानव-सभ्यता के विकास में योग दे सकें। शिक्षा को वह समाज के रूप तथा उसकी आवश्यकताओं से अलग नहीं करना चाहता। स्कूल को वह सभी सामाजिक बुराइयों के दूर करने का साधन मानता है और उसको वह समाज का एक ऐसा छोटा रूप समझता है, जहाँ सभ्यता की सभी अच्छी बातों का समावेश दिखलाई पड़ता है। स्कूल का उद्देश्य समाज तथा उपयोगी विचारों को स्पष्ट कर बच्चे को उपयोगी अनुभव देना है। स्कूल ऐसा हो कि बालक समझ सके कि वह तो समाज में ही है। ड्यूइ कहता है कि स्कूल का उद्देश्य भावी जीवन के लिये व्यक्ति को तैयार नहीं करना है। स्कूल तो स्वयं जीवन है। यहाँ वह स्पेन्सर का कितना विरोधी दिखलाई पड़ता है! परन्तु ड्यूइ का विश्वास है कि यदि शिक्षा उपर्युक्त सिद्धान्तों द्वारा दी गई तो बड़े होने पर बालक सामाजिक जीवन के लिये अवश्य ही योग्य हो जायगा। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि ऐसा विचार उसकी शिक्षा का उद्देश्य नहीं है; वरन् शिक्षा के उद्देश्य की सफलता का परिणाम है। यदि बालक यह अनुभव कर सका कि स्कूल ही एक ऐसी संस्था है जहाँ वह जीवनपयोगी कार्यों के सम्बन्ध में अपने स्वभावानुकूल अनुभव ले सकता है तो वह अवश्य एक उपयोगी नागरिक होगा।

ड्यूइ समाज को ऐसे लोगों का समूह मानता है जिनके जीवन के उद्देश्य मूलतः समान हैं और जो प्रायः एक ही उद्देश्य की पूर्ति करने में निरन्तर संलग्न रहते हैं। ड्यूइ ने देखा कि प्रचलित स्कूल इन विचारों के प्रतिनिधि नहीं है। उनमें उसे सामान्य स्वाभाविक क्रियाशीलता का अभाव दिखलाई पड़ा। अतः ये स्कूल समाज के स्वाभाविक अंग नहीं कहे जा सकते। उनको स्वाभाविक अंग बनाने के लिये यह आवश्यक है कि बालक की स्वाभाविक रुचियों तथा कार्यों का पता चलाया जाय और शिक्षा को उन्हीं के पूर्ति के उद्देश्य पर अवलम्बित किया जाय। ड्यूइ सत्य की स्वयं परीक्षा करना चाहता है। किसी के प्रभाव में आकर सत्य को स्वीकार करना उसे मान्य नहीं। मस्तिष्क को स्वयं क्रियाशील होकर वास्तविक परिस्थिति की परीक्षा कर सत्य को पहचानना होगा। अतः वह स्कूल में बालकों को जीवन-आदर्शों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक अनुभव देना चाहता है जिससे वे वास्तविक सत्य को पहचान लें। जो 'सत्य' है वही ड्यूइ की दृष्टि में 'उपयोगी' है और जो 'उपयोगी' है वही 'सत्य' है। अतः सत्य का अनुभव करने में बालक 'उपयोगी' बातें ही सीखते हैं।

समाज का स्थायित्व व्यक्ति के विकास पर ही निर्भर है। यदि व्यक्ति

स्वाभाविक रुचि के अनुसार अपना कार्य करने में संलग्न है तभी सभ्यता-भवन का खड़ा रहना सम्भव है, अन्यथा नहीं। स्वाभाविक योग्यता का पता लगाकर उनके अनुसार व्यक्ति का विकास करना शिक्षा का अभिप्राय है। शिक्षा और समाज को हम एक दूसरे से पृथक नहीं कर सकते। शिक्षा समाज के लिये है। अतः समाज के अनुकूल ही शिक्षा का रूप होगा। नैतिक परिज्ञान (मॉरल इन साइट) के अनुसार जीवन का संगठन अपेक्षित है। वस्तु के प्रति सारूप्य का अनुभव करने पर ही हम उससे रुचि रखते हैं। यदि रुचि क्रियात्मक न हुई तो हमारा नैतिक विकास न होगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि शिक्षा में क्रियाशीलता न हुई तो हमारे नैतिक-चरित्र का विकास हो ही नहीं सकता। नैतिक-चरित्र के विकास से ही हम सामाजिक नेताओं को तैयार कर सकते हैं। अतः शिक्षा का अभिप्राय नेताओं का पता लगाकर उनके विकास का समुचित प्रबन्ध करना है। योग्य व्यक्तियों का पता लगाकर जीवन में उनके उचित स्थान के लगाने से ही समाज-हित सम्भव हो सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में हमें लड़के और लड़कियों पर समान दृष्टि रखनी है। उनकी योग्यतानुसार हमें उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना है। समाज में व्यक्ति का स्थान उसके सम्पत्ति या मान पर नहीं निश्चित करना चाहिये। उसके स्थान तो उसकी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार निश्चित किया जायगा। शिक्षा की सहायता से समाजिक संस्थायें व्यक्ति को कुछ देती नहीं, प्रत्युत उसको बनाती हैं। ड्यूइ किसी विचार की वास्तविकता उसकी यथार्थता से ही निश्चित करता है। फलतः उसके 'आदर्श' और 'यथार्थवाद' में विरोध नहीं दिखलाई पड़ता। समाज में परिवर्त्तन के साथ शिक्षा में भी परिवर्त्तन होते रहने चाहिये, नहीं तो व्यक्ति की क्रियाशीलता पर आघात पड़ेगा। इस क्रियाशीलता के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा-वस्तु में हस्तकला-सम्बन्धी विषयों की प्रधानता हो। यदि विधि में हस्तकला की ही प्रधानता रहेगी तो शिक्षा का साधन 'रचना', 'हथियार तथा वस्तुओं का प्रयोग', 'खेल', 'प्रकृति से सम्पर्क', 'वर्णन' तथा 'क्रियाशीलता' होगी।

ड्यूइ का कथन है कि मस्तिष्क का विकास लौकिक हित के कार्य में सामूहिक रूप से भाग लेने से ही होता है। अतः बुद्धि का तात्पर्य 'अनुभव के साभिप्राय पुनर्संगठन, से है। 'विधि' और 'विषय' में तथा 'साधन' व 'साध्य' की स्वाभाविक अविच्छिन्नता में सारभूत एकता है। यदि शिक्षा में हम इसका ध्यान न रक्खें तो जिस डाल पर बैठे हैं उसी को काटने के समान होगा।

अपनी 'स्वाभाविक प्रवृत्तियों' अथवा 'क्रियाशीलता' का शब्दों में अथवा कार्य के रूप में वर्णन करना ही शिक्षा का वास्तविक स्वरूप है। अतः बालक को आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ना होगा। स्कूल में 'भीरुता' और 'आत्मपालन' से उसके सामाजिक व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। बालकों को अध्यापक की आज्ञाओं का पालन नहीं करना है और न अध्यापकों को कभी उन्हें आज्ञा ही देनी है। शिक्षा तो परस्पर लेन-देन से होती है। शिक्षक और विद्यार्थी दोनों को एक दूसरे से सीखने की प्रवृत्ति रखनी चाहिये। किसी विषय में बालकों को सहायता देते समय अध्यापक स्वयं अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। अपने नैतिक परिज्ञान के अनुसार यदि हम अपने जीवन का संगठन करें तो हमारा आचरण स्वतः सुधर जायगा। वस्तुतः नीति-शास्त्र की यही कुञ्जी है।

(५) शिक्षा का तात्पर्य—

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुये हम ड्यूइ की शिक्षा-परिभाषा समझ सकते हैं। ड्यूइ के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसे वातावरण के तैयार करने से है जिसमें व्यक्ति मानव-जाति की 'सामाजिक जागृति' में सफलतापूर्वक भाग ले सके। बालक सभ्यता की ही उत्पत्ति है। अतः सभ्यता का उपयोग करना बालक का जन्मसिद्ध अधिकार है। शिक्षा से व्यक्ति को ऐसा अनुभव मिले कि वह अपने गत अनुभव को उसकी सहायता से समझ सके। इसके साथ ही साथ भावी अनुभव को समझने में भी उसे सहायता मिलनी चाहिए। शिक्षा से बालक की स्वाभाविक शक्तियों का ऐसा विकास करना है कि वह सामाजिक परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना कर सके। ड्यूइ कहता है कि शिक्षा 'विकास' का दूसरा रूप है क्योंकि विकास 'जीवन' का सहज स्वभाव है। अतः उसके अनुसार वही शिक्षा सफल कही जा सकती है जो कि व्यक्ति में निरन्तर विकसित होने की इच्छा उत्पन्न करती है और इच्छा के सफलीभूत होने के लिये आवश्यक उपकरणों का आयोजन भी कर देती है। ड्यूइ कहता है कि यदि व्यक्ति किसी संयुक्त कार्य में भाग ले तो सामाजिक वातावरण उसके लिये शिक्षा-प्रद हो सकता है। इस प्रकार कार्य करने से व्यक्ति उसके उद्देश्य से परिचित हो जाता है और उसे आवश्यक विधि का ज्ञान और योग्यता भी प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति को इस प्रकार सामाजिक बनाना समाज के प्रति शिक्षा का कर्त्तव्य कहा जा सकता है। ड्यूइ 'चरित्र' की व्याख्या अपने निराले ढंग से करता है। यदि व्यक्ति में सामाजिक गुण हैं, यदि उसमें समाज के प्रति सद्भावना और रुचि है तो वह चरित्रवान् कहा जा सकता है। यदि व्यक्ति ऐसा चरित्र

पा गया तो उसे आत्म-ज्ञान हो गया। इस दृष्टिकोण से ड्यूइ के लिये आत्म-ज्ञान ही शिक्षा का उद्देश्य है। ड्यूइ शिक्षा के दो पहलू मानता है :—१—मनोवैज्ञानिक और दूसरा लोक-संग्रहवाद। हम दोनों में से किसी की भी अवहेलना नहीं कर सकते। एक के प्रति भी उदासीनता दिखलाने से कुपरिणाम की सम्भावना है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तात्पर्य बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और शक्तियों से है। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अध्ययन से हमें शिक्षा-सामग्री का ज्ञान हो जायेगा और वहीं से हम शिक्षा प्रारम्भ भी कर सकते हैं। बालक की शक्तियों की ठीक-ठीक व्याख्या करने के लिये हमें सामाजिक दशा तथा सभ्यता के रूप का अध्ययन करना आवश्यक है।

(६) शिक्षा विधि—

अध्यापक का कार्य ड्यूइ के अनुसार पहले से भिन्न होगा। उसे अब अपने को बालकों से बड़ा नहीं समझना है। उसे उपदेश नहीं देना है। वह निरीक्षक मात्र है। उसे बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को उत्तेजना देकर उन्हें उपयोगी कार्य में लगाना है। उसे बालकों की रुचि तथा उनकी परस्पर भिन्नता को समझना है। परस्पर भिन्नता को समझने पर बल देकर ड्यूइ शिक्षा को एक नवीन मनोवैज्ञानिक रूप देना चाहता है। यदि स्कूल का सारा कार्य बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार ही हुआ तो 'विनय' की समस्या ही न उपस्थित होगी। बालकों का नैतिक विकास स्वतः हो जायगा। ड्यूइ को स्कूल में किसी प्रकार का आधिपत्यवाद स्वीकार नहीं। भावी कार्यक्रम को वह पहले से ही कहीं निर्धारित करना चाहता। प्रतिदिन की आवश्यकतानुसार कार्यक्रम बदलता जायगा। वह अपने सामने एक उद्देश्य रख लेता है। उसके पूरा हो जाने पर वह दूसरे पग के विषय में सोचेगा। बालकों के एक कार्यक्रम को पूरा कर लेने पर अध्यापक दूसरा कार्यक्रम निश्चित करने में उनकी सहायता करेगा। सर्व प्रथम बालक अपनी ओर से प्रस्ताव करेंगे। उनका प्रस्ताव ऐसा हो कि कार्यान्वित होने पर वह उनमें वांछित भावनाएँ जागृत कर सके। स्कूल का पूरा कार्यक्रम उनके प्रस्ताव के अनुसार ही होगा। कार्यक्रम का ध्येय उनके अनुभव को बढ़ाना होगा। ड्यूइ के प्रयोगात्मक स्कूल में इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर कार्य किया जाता है। इसको प्रॉजेक्ट मेथड भी कहा जाता है। ड्यूइ के अनुयायी किलपैट्रिक ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। इस विधि से स्कूल-शिक्षा की व्यावहारिकता बहुत बढ़ गई। बालक स्कूल में अपनी रुचि दिखलाते हैं। वे स्वानुभव से सीखते हैं (लर्निंग बाई डूइङ्ग)। फलतः उनमें

दूरदर्शिता, आत्मनिर्भरता तथा मौलिकता का विकास होता है। कुछ ऐसे प्रस्ताव होते हैं जो कि सामूहिक रूप में ही कार्यान्वित किये जा सकते हैं। अतः उनसे सहकारिता की भावना का विकास होता है। परन्तु इस विधि से प्राप्त ज्ञान में सम्बद्धता नहीं आ सकती। बालकों के प्रस्ताव न करने पर वे कुछ आवश्यक ज्ञान से वंचित भी हो सकते हैं। इस विधि में यह पहले से ही कल्पित कर लिया जाता है कि बालकों के पास सभी रुचियाँ और इच्छायें उपस्थित हैं। परन्तु ज्ञान के सदृश उनका भी विकास किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि 'प्रॉजेक्ट मेथड' पर्याप्त नहीं है और शिक्षा के उद्देश्यों को यह पूरा नहीं कर सकता। कुछ अधिक अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद, अपनी 'एक्सपिरियेन्स ऐण्ड ऐडूकेशन' नामक पुस्तक में ड्यूइ इस अपर्याप्तता को स्वीकार करते हुये स्पष्ट दिखलाई पड़ता है—"सभी शिक्षा अनुभव से प्राप्त होती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि सभी अनुभव शिक्षाप्रद हैं।....................यदि किसी अनुभव से हमारी भावी अनुभव की गति रुक जाती है तो वह शिक्षाप्रद नहीं हो सकता..............(पृष्ठ १३)।" इससे प्रतीत होता है कि ड्यूइ भविष्य के विषय में भी कुछ सोचने का पक्षपाती है।

(७) स्कूल—

व्यक्ति का विकास सामाजिक वातावरण के सम्पर्क में आने से ही होता है। जैसा समाज होता है उसी के अनुसार व्यक्ति का विकास होता है। ड्यूइ स्कूल को बच्चों का एक समाज ही मानता है। अतः उनके चरित्र और मस्तिष्क की उन्नति स्कूल के वातावरण के अनुसार होगी। यदि स्कूल में जीवन की विभिन्न अवस्थायें और परिस्थितियों के अनुकूल सामग्री का आयोजन है तो उसी के अनुसार 'बालक के व्यक्तित्व का भी विकास होगा। ड्यूइ स्कूल को वर्त्तमान जीवन का प्रतिनिधि बनाना चाहता है। स्कूल में सामाजिक जीवन का सरल से सरल रूप ही उपस्थित करना चाहिए। इसके लिये आवश्यक होगा कि स्कूल-जीवन का विकास गृह-जीवन के अनुरूप हो। बालक जिन साधारण खेलों और कार्यों में घर पर लगा रहता है स्कूल में उन्हीं खेलों और कार्यों का विकसित रूप होना चाहिये। ड्यूइ के अनुसार स्कूल का ऐसा होना एक मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकता है। ऐसा करने से बालक स्कूल को अपने घर का दूसरा रूप ही समझेगा और घर और स्कूल में उसे विशेष अन्तर न दिखलाई पड़ेगा। ड्यूइ कहता है कि वर्तमान-शिक्षा बहुत अंशों

असफल हो रही है क्योंकि वह अभी तक स्कूल को समाज का एक छोटा रूप नहीं बना पाई है।

(८) शिक्षा का आधार—

स्कूल का रूप समझ लेने के बाद अब यह देखना समीचीन होगा कि ड्यूइ शिक्षा को किस आधार पर अवलम्बित करना चाहता है। बालक का विकास उसके सामाजिक जीवन पर निर्भर है। ड्यूई विज्ञान, साहित्य, इतिहास अथवा भूगोल आदि विषयों पर बालक की शिक्षा नहीं केन्द्रित करना चाहता। वह उसके स्वाभाविक कार्यों पर शिक्षा को आधारित करना चाहता है। इतिहास का मूल्य उसके सामाजिक जीवन के सम्बन्ध से ही है। उपर्युक्त विषयों का उपयोग बालक के सामाजिक कार्यों के सम्बन्ध में ही ले आना है। उसकी स्वाभाविक क्रियाशीलता के अनुसार किसी विषय का स्थान शिक्षा-क्रम में निर्धारित किया जायगा। विभिन्न विषयों का परस्पर-सम्बन्ध बालकों के स्वाभाविक कार्यों के अनुसार ही निश्चित किया जायगा। अतः ड्यूइ बुनने, सीने, भोजन पकाने, लकड़ी तथा चमड़े के साधारण कार्य को अपने प्रयोगात्मक स्कूल में प्रधानता देता है। ये सब कार्य अन्य व्यावसायिक कार्यों की प्रस्तावना मात्र हैं। शिक्षा-विधि की समस्या ड्यूइ के स्कूल में जटिल नहीं। बालक की रुचि तथा शक्ति के अनुसार उसके कार्यों में परिवर्तन होता रहेगा। अतः अध्यापक को उचित है कि वह बालक को समझने का प्रयत्न सहानुभूतिपूर्वक करे। उसका कर्त्तव्य केवल व्यक्ति का विकास ही नहीं करना है; वरन् सुन्दर सामाजिक जीवन की नींव डालना है। उसे अपने को समाज का सेवक समझना है। उचित व्यवस्था स्थापित कर समाज का उसे निरन्तर विकास करते रहना है। अतः विश्व के कल्याण के लिये वह ईश्वर का प्रतिनिधि है।

(९) ड्यूइ, हरबार्ट, रूसो, पेस्तॉलॉज़ी, फ्रोबेल तथा स्पेन्सर—

इस प्रकार हम देखते हैं कि ड्यूइ मनुष्य के जीवन और उसके उद्देश्य की व्याख्या सामजिक दृष्टिकोण से करता है। ड्यूइ प्राचीन परम्पराओं का अन्ध-भक्त नहीं। वह विवेक को प्रधानता देता है। उसका विश्वास है कि 'विवेक' के बल पर चलने से ही मानव समाज की उत्तरोत्तर उन्नति सम्भव हो सकती है। वह हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण देता है। वह हमें मनुष्य के प्रति सहिष्णुता और आदर का पाठ पढ़ाता है। शिक्षा देने के पहले वह बालक की रुचियों और शक्तियों के अध्ययन पर बल देता है। यहाँ वह हमें हरबार्ट का

ध्यान दिलाता है। परन्तु ड्यूइ रुचि को हरबार्ट से भिन्न अर्थ में लेता है। हरबार्ट का तात्पर्य विशेषतः बौद्धिक रुचि से है। ड्यूई की 'रुचि' की परिधि उससे बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत सामाजिक, साहित्यिक तथा बौद्धिक आदि सभी प्रकार की रुचियाँ आ जाती हैं। अध्यापकों को इन सभी प्रकार की रुचियों का अध्ययन कर बालक के विकास का आयोजन करना है। ड्यूइ अध्यापक को केवल निरीक्षक का स्थान देता है और बालक को आदर की दृष्टि से देखने के लिये कहता है। यहाँ वह हमें रूसो और पेस्टॉलॉज़ी का ध्यान दिलाता है; परन्तु ड्यूइ इन दोनों से अधिक व्यावहारिक है। कदाचित् यह वर्तमान युग का फल है। ड्यूइ फ्रोबेल के सिद्धान्तों का मूलतः अनुयायी प्रतीत होता है। आलोचक इन दोनों को शिक्षा-उद्देश्य के सम्बन्ध में बहुधा तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं। फ्रोबेल का विचार था कि शिक्षा से बालकों में परस्पर सहायता तथा सहकारिता का भाव आना चाहिये। वह सभी शिक्षा कार्यों को बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों, रुचियों और कार्यशीलता के अनुसार चलाना चाहता था। अस्वाभाविक साधनों की सहायता उसे पसन्द न थी। उसका विश्वास था कि बच्चों की शक्तियों का उपयोग उनके अनुकूल सामाजिक वातावरण में ही किया जा सकता है। वह प्रौढ़ लोगों के कार्यों से बालक को परिचित कराना चाहता है। इसके लिये वह बालक के सामने उसके समझने योग्य उनका छोटा रूप रखना चाहता है। इस प्रकार वह बच्चों को समाज के प्रायः सभी कार्यों से कुछ न कुछ भिज्ञ कर देना चाहता है। कहना न होगा कि ड्यूइ ने अपने शिक्षा-सिद्धान्त में इन सभी विचारों को अपना लिया है। उसके प्रयोगात्मक स्कूल में हमें 'किण्डरगार्टेन' का विकसित रूप दिखलाई पड़ता है। ड्यूइ का प्रधान तात्पर्य सामाजिक योग्यता प्राप्त करना है। ज्ञान देना अथवा व्यावसायिक शिक्षा देना उसका ध्येय नहीं। उसके स्कूल में औद्योगिक कार्यों के करते समय जो आवश्यकताएँ या समस्यायें उपस्थित होती हैं उनके समाधान में कुछ प्रधान स्कूल विषयों को स्वतः स्थान मिल जाता है। कार्य में तल्लीन रहने से बालकों को विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं। इन अनुभवों को व्यक्त करने का उन्हें अवसर दिया जाता है। इस प्रकार बालकों के बोलने की शक्ति का भी विकास हो जाता है। 'किण्डरगार्टेन' के गाने भी बालक के अनुभव की ओर ही संकेत करते हैं। अतः इसमें भी बोलने की शक्ति के विकास पर ध्यान दिया गया है। स्पष्ट है कि फ्रोबेल और ड्यूइ के शिक्षा-सिद्धान्तों में उल्लेखनीय समानता है। हम कह चुके हैं कि ड्यूइ और स्पेन्सर में सिद्धान्ततः विरोध दिखलाई पड़ता है। पाठकों को याद होगा कि स्पेन्सर ने अपनी विज्ञान

की धुन में सामाजिक निपुणता को बलि न दी। अतः यहाँ ड्यूइ और स्पेन्सर में हमें थोड़ा समझौता दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ड्यूइ का शिक्षा-सिद्धान्त सभी प्रधान शिक्षा-विशेषज्ञों के विचारों का सार है। वस्तुतः एक दृष्टिकोण से वह सबका प्रतिनिधि है।

(१०) ड्यूइ के सिद्धान्त के सार—

अधोलिखित ड्यूइ के सिद्धान्त के सार कहे जा सकते हैं :—

१—'विचार', 'विश्वास' और 'कार्य' की महत्ता उनके फल के अनुसार ही निश्चित की जा सकती है।

२—किसी विचार की वास्तविकता उसकी यथार्थता पर अवलम्बित है।

३—जो 'सत्य' है वह 'उपयोगी' है और जो 'उपयोगी' है वह 'सत्य' है और सत्य के अनुभव करने में बालक उपयोगी बातें सीखते हैं।

४—समाज का स्थायित्व व्यक्ति के विकास पर निर्भर है।

५—समाज में व्यक्ति का स्थान, उसकी सम्पत्ति अथवा मान पर नहीं, अपितु उसकी स्वाभाविक योग्यता पर निर्भर है।

६—स्वाभाविक योग्यता का पता लगाकर तदनुसार व्यक्ति को शिक्षा देना शिक्षा का अभिप्राय है।

७—नैतिक परिज्ञान के अनुसार जीवन का संगठन अपेक्षित है।

८—बुद्धि का विकास अनुभव के साभिप्राय पुनर्सङ्गठन से होता है।

९—स्कूल सामाजिक बुराइयों को दूर करने का साधन है।

१०—स्कूल समाज का छोटा रूप है।

११—स्कूल वर्तमान जीवन का प्रतिनिधि है।

१२—स्कूल का उद्देश्य बालकों को भावी जीवन के लिये तैयार ही करना नहीं है, प्रत्युत वह तो स्वयं जीवन है।

१३—स्कूल का कार्य यदि बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल हो तो उनकी नैतिक शिक्षा स्वतः हो जायगी।

१४—स्कूल-जीवन का विकास गृह-जीवन के अनुरूप होना चाहिये।

१५—स्कूल का उद्देश्य उपयोगी अनुभव देना है।

१६—शिक्षा को बालक की स्वाभाविक रुचियों और क्रियाशीलता पर अवलम्बित करना चाहिये।

१७—शिक्षा में क्रियाशीलता से ही नैतिक विकास सम्भव है।

१८—शिक्षा को सामाजिक आवश्यकता से अलग नहीं किया जा सकता।

१९—शिक्षा को ऐसे वातावरण का आयोजन करना है कि व्यक्ति मानव-जाति की सामाजिक जागृति में सफलतापूर्वक भाग ले सके।

२०—शिक्षा का अभिप्राय नेताओं का पता लगाकर उनके विकास का समुचित प्रबन्ध करना है।

२१—शिक्षा विकास का दूसरा रूप है।

२२—शिक्षा का आधार मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होना चाहिये।

२३—शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक गुणों से परिपूर्ण 'चरित्र विकास' अथवा आत्म-ज्ञान है।

२४—बालकों को स्वानुभव से सीखना है।

२५—शिक्षा के क्षेत्र में लड़कों और लड़कियों में अन्तर नहीं।

२६—शिक्षा-वस्तुओं में हस्तकला-सम्बन्धी विषयों की प्रधानता हो।

२७—रचना, हथियार तथा वस्तुओं का प्रयोग, खेल, प्रकृति से सम्पर्क, वर्णन तथा क्रिया-शीलता शिक्षा के प्रधान साधन हैं।

११—ड्यूइ की देन—

पहले ड्यूइ को अपनी असफलता पर कुछ क्षोभ होने लगा था परन्तु वह अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ था। नई बात को सीखने में उसकी रुचि सदा नवीन बनी रही। यही कारण है कि उसके विकास की गति कभी रुकी नहीं। अमेरिका की शिक्षा पर ड्यूइ का जितना प्रभाव पड़ा है उतना किसी दूसरे एक व्यक्ति का नहीं। ड्यूइ ने पार्कर की तरह स्कूल को एक 'समाज के रूप' में देखा और पार्कर के सिद्धान्तों को और आगे विकसित कर उसे प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उसने 'विकास के सिद्धान्त' को एक नया अर्थ दिया और उसे कार्यान्वित करने के लिये साधनों की ओर भी संकेत किया। ड्यूइ ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि स्कूल को 'क्रियाशीलता का प्रतीक और 'समाज का प्रतिनिधि' कैसे बनाया जा सकता है। ड्यूइ ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि सामाजिक तथा नैतिक समस्याओं में से स्कूल के लिये पाठ्य-वस्तु कैसे बनाई जा सकती है। 'प्रॉजेक्ट मेथड' की उत्पत्ति और विकास ड्यूइ की विधि की प्रियता का द्योतक है।

१२—ड्यूइ की आलोचना

उपर्युक्त विवेचन से यह समझ लेना भूल होगी कि ड्यूइ के सिद्धान्तों को सभी लोगों ने एकमत से मान लिया है। ड्यूइ के सिद्धान्तों से फलकवादी तो सहमत हैं किन्तु आदर्शवादी तथा यथार्थवादी उनके घोर विरोधी हैं।

यथार्थवादी की संसार को सुधारने में रुचि नहीं। वह संसार को ज्यों का त्यों समझना चाहता है। वास्तविक स्थिति को ठीक-ठीक समझने की वह इच्छा करता है। इसके लिये वह प्रकृति के नियमों का अध्ययन करना चाहता है। यथार्थवादी प्रकृति के अनुसार मानव को व्यवस्थित करना चाहता है। उसके अनुसार जाति का अनुभव और संस्कृति व्यक्ति के लिये अमूल्य देन है। अतः व्यक्ति को उन्हें अच्छी प्रकार जान लेना चाहिये। अतः व्यक्ति की शिक्षा-व्यवस्था में उन्हें एक प्रधान स्थान देना अनिवार्य है। शिक्षक को देखना है कि विद्यार्थी उन्हें भली-भाँति सीख लेता है। इसके लिये विद्यार्थी को भी पर्याप्त परिश्रम करना चाहिये। परन्तु शिक्षक के नियन्त्रण में ही विद्यार्थी यथेष्ट परिश्रम कर सकता है। आवश्यकतानुसार शिक्षक को विद्यार्थी पर नियन्त्रण करते रहना है, जिससे विद्यार्थी गलत पथ पर न जाय। स्पष्ट है कि यथार्थवादी ड्यूइ के अनुयायी नहीं हो सकते।

ड्यूइ के फलकवाद का केन्द्र मानव है परन्तु आदर्शवादी अपना ध्यान मानव से परे ईश्वर पर केन्द्रित करता है। आदर्शवादी अपने समक्ष एक पूर्व निश्चित आदर्श रखता है और व्यक्ति को उसी के अनुसार मोड़ना चाहता है। उसके अनुसार सत्य पर 'समय' और 'स्थान' का प्रभाव नहीं पड़ता। जो आज सत्य है वह सदा सत्य रहेगा और जो एक स्थान के लिये सत्य है वह हर स्थान के लिये सत्य होगा। इस प्रकार परिस्थिति की अनुकूलता पर किसी सत्य की प्रामाणिकता निर्भर न होगी। सत्य तो सभी परिस्थितियों से परे है। उसमें किसी प्रकार की आँच नहीं लग सकती। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। ड्यूइ के सिद्धान्त आदर्शवादी के विश्वासों से विपरीत हैं। ड्यूइ के दर्शन-शास्त्र का सम्बन्ध उन सामाजिक समस्याओं और उलझनों से है जिनकी उत्पत्ति व्यवसाय, विज्ञान और जनतन्त्र के परस्पर संघर्ष से होती है। आदर्शवादी का दर्शन-शास्त्र इन समस्याओं से बहुत आगे जाता है और उनके निराकरण के लिये वह एक पूर्व निश्चित कसौटी पर परीक्षा करने की भी सोच सकता है। यहीं पर वह एक दैवी शक्ति पर विश्वास करता है। यहाँ पर ड्यूइ द्वारा कल्पित "बुद्धि" और आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित 'बुद्धि' के अन्तर का स्पष्टीकरण हो जाता है। ड्यूइ की कल्पना में 'बुद्धि' का 'मानव' से सीधा सम्बन्ध है। परन्तु आदर्शवादियों के अनुसार 'बुद्धि' केवल मानवीय ही नहीं है वरन् दैवी भी है। फलकवादी ड्यूइ के लिये जीवन और शिक्षा का मूल सिद्धान्त विकास है। आदर्शवादी जीवन तथा शिक्षा

के विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त से अवश्य सहमत हैं परन्तु वह और आगे जाता है। व्यक्ति का जीवन केवल इस दृष्टिगोचर जगत् से ही सम्बन्धित नहीं है। उसके लिये शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिये कि वह 'अनन्त' (इनफ़ाइनाइट) का भी बोध कर सके। इस प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि आदर्शवादियों और ड्यूइ में सिद्धान्ततः विरोध है।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

डा० जॉन ड्यूइ (१८५९-१९५२)

१—शिकागो विश्वविद्यालय का प्रयोगात्मक स्कूल—

क्रियाशीलता का प्रतीक, सक्रिय सीखना, अनुभव का पुनर्निर्माण, सफल नागरिकता का पाठ—

स्कूल की पाठ्य वस्तु और पाठन-विधि परिवर्तित सामाजिक स्थति की द्योतक हो।

२—ड्यूइ की प्रधान शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें—

३—ड्यूइ का दर्शन-शास्त्र—

सामाजिक और नैतिक समस्याओं के समाधान हेतु, उपायों का खोजना दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य।

जीवन का कोई निश्चयात्मक उद्देश्य नहीं।

ज्ञान का स्वरूप।

प्रयोगात्मक विधि।

सत्य अथवा वास्तविकता का स्वरूप।

४—उसका शिक्षा-सिद्धान्त—

शिक्षा को नये ढंग से मनोवैज्ञानिक और सामाजिक बनाने का प्रयत्न, फलकवादी विचार, विश्वास और कार्य की महत्ता फल पर, सार्वलौकिक, स्कूल बच्चों का प्रजातन्त्र राज्य, शिक्षा समाज की आवश्यकता से दूर नहीं, स्कूल सामाजिक बुराइयों को दूर करने का साधन, स्कूल समाज का छोटा रूप, उपयोगी अनुभव देना, स्कूल का उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी नहीं।

वर्तमान स्कूल समाज के स्वाभाविक अंग नहीं, बालक की स्वाभाविक रुचियों और कार्यों पर शिक्षा को अवलम्बित करना, बालकों को सत्य की पहचान कराना, 'सत्य' उपयोगी है और 'उपयोगी' सत्य है।

स्वाभाविक योग्यता का पता लगाकर व्यक्ति का विकास करना, शिक्षा और समाज एक दूसरे से पृथक नहीं, नैतिक परिज्ञान के अनुसार जीवन का संगठन, नेताओं का पता लगाकर उन्हें शिक्षा देना, शिक्षा-क्षेत्र में लड़के और लड़कियों में अन्तर नहीं, समाज में

व्यक्ति का स्थान उसकी योग्यतानुसार, विचार की वास्तविकता उसकी यथार्थता से ही, हस्तकला-सम्बन्धी विषयों की प्रधानता, शिक्षा का साधन—रचना, हथियार का प्रयोग, खेल तथा प्रकृति से सम्पर्क इत्यादि।

मस्तिष्क का विकास लौकिक कार्य में भाग लेने से ही, बुद्धि अनुभव के साभिप्राय पुनर्संगठन से, विधि-विषय में तथा साधन-साध्य में सारभूत एकता, अनुभव का वर्णन, आत्म-निर्भरता, शिक्षा अध्यापक और विद्यार्थी के परस्पर लेन-देन से, नैतिक परिज्ञानानुसार जीवन का संगठन।

५—शिक्षा का तात्पर्य—

ऐसा वातावरण उपस्थित करना कि व्यक्ति सामाजिक जागृति में भाग ले सकें, गत अनुभव को समझना, भावी अनुभव में सहायता, सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना, शिक्षा विकास का दूसरा रूप, आत्म-ज्ञान शिक्षा का उद्देश्य, शिक्षा का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आधार।

६—शिक्षा विधि—

अध्यापक निरीक्षक मात्र, स्कूल का काम स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार—इस प्रकार नैतिक शिक्षा स्वतः, आधिपत्यवाद नहीं, भावी कार्यक्रम को पहले से निर्धारित न करना, प्रयोग-प्रणाली, स्वानुभव से सीखना, दूरदर्शिता, सहकारिकता, मौलिकता का विकास परन्तु ज्ञान असम्बद्ध, यह विधि अपर्याप्त।

७—स्कूल—

विकास सामाजिक वातावरण के सम्पर्क से, स्कूल वर्तमान का प्रतिनिधि, स्कूल-जीवन का विकास गृह-जीवन के अनुरूप।

८—शिक्षा का आधार—

बालक का विकास सामाजिक जीवन पर, स्वाभाविक कार्यों पर शिक्षा आधारित; विषय का स्थान स्वाभाविक क्रियाशीलतानुसार, विषयों का परस्पर सम्बन्ध, बालक की रुचि और इच्छानुसार उसके कार्य में परिवर्त्तन, अध्यापक विश्व के कल्याण के लिये ईश्वर का प्रतिनिधि।

९—ड्यूइ, हरबार्ट, रूसो, पेस्तॉलॉजी, फ्रोबेल तथा स्पेन्सर—

ड्यूइ प्राचीन परम्परा का अन्ध-भक्त नहीं, वैज्ञानिक दृष्टिकोण देता है; सहिष्णुता और आदर का भाव; हरबार्ट, रूसो, पेस्तॉलॉज़ी, फ्रोबेल तथा स्पेन्सर।

१०—ड्यूइ के सिद्धान्त के सार—

११—ड्यूइ की देन—

१२—ड्यूइ की आलोचना—

यथार्थवादी ड्यूइ से असहमत।

आदर्शवादियों और ड्यूइ में सिद्धान्ततः विरोध।

सहायक ग्रन्थ

१—जी० एच० थॉमसन—'ए माडर्न फिलॉसॉफी ऑव् ऐडूकेशन' अध्याय, ५ (जार्ज एलेन एण्ड अनविन लन्दन)।
२—हार्डी—'ट्रुथ एण्ड फ़ैलसी इन एडूकेशनल थियरी' अध्याय २ (कैम्ब्रिज यू० प्रे०)।
३—कबरली—'द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन'—पृष्ठ ७८०-८१।
४—उलिच—'द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशनल थॉट, पृष्ठ ३१५-३३६।
५—कबरली—'द रीडिङ्ग्ज़ इन द हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन' अध्याय, २८; ३६४, ३६६।
६—ग्रेव्ज़—'ए स्टूडेण्ट्स हिस्ट्री ऑव् एडूकेशन' अध्याय २७।
७—ड्यूइ—'डेमॉक्रसी ऑव् एडूकेशन'।
८— ,, 'एडूकेशनल एसेज़'।
९— ,, 'द स्कूल एण्ड सोसाइटी'।
१०— ,, 'प्राबलेम ऑव् मैन'।
११— ,, 'एक्सपीरियन्स एण्ड एडूकेशन'।
१२— ,, 'आर्ट इज़ एक्सपीरियन्स'।
१३— ,, 'ए कॉमन फ़ेथ'।
१४— ,, 'हाउ वी थिन्क'।
१५— ,, 'ह्यूमन नेचर एण्ड कॉनडक्ट'।
१६— ,, 'रिकॉन्स्ट्रक्शन् इन फ़िलॉसॉफ़ी'।
१७—चाइल्ड्स, जॉन लॉरेन्स—'एडूकेशन एण्ड फ़िलॉसॉफ़ी ऑव एक्सपेरिमेण्टलिज़्म्'।
१८—फ़ेल्ड्स, विलियम टैफ्ट—'द फ़िलॉसॉफ़ी ऑव् जॉन ड्यूइ'।
१९—हुक, सिडनी—'जॉन ड्यूइ; ऐन इन्टेलेक्चुअल पॉर्ट्रेट।
२०—किलपैट्रिक विलियम हर्ड—'फ़ाउन्डेशन्स ऑव् मेथड'।
२१—शोयेनचेन, गुस्टैव् जी०—'द एक्टिविटी स्कूल, ए बेसिक फ़िलॉसॉफ़ी फ़ार टीचर्स'।

१५

मॉन्तेसरी (१८७०—१९५२)

१—उसका प्रारम्भिक जीवन—

डा० मॉन्तेसरी का जन्म इटली में राजनैतिक उथल-पुथल के समय हुआ था। वह अस्पताल में काम करते हुये मन्द मस्तिष्क वाले बालकों के सम्पर्क में आई। उसको अनुमान हुआ कि ये बालक शिक्षा देने पर अपनी दशा अच्छी प्रकार सुधार सकते हैं। एक बालक को अपनी नई विधि से शिक्षित बनाकर उसने देखा कि वह सरकारी परीक्षा में साधारण बालकों से नीचे नहीं है। मॉन्तेसरी का उत्साह बढ़ा। वह अपनी प्रणाली का प्रयोग अन्य बालकों के साथ करती गई। भाग्यवश उसके समय में मनोविज्ञान का विकास हो चुका था। उसने प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (एक्सपेरिमेण्टल साइकॉलॉजी) का अच्छी प्रकार

अध्ययन किया। इसके अध्ययन से उसे अपनी प्रणाली की श्रेष्ठता और स्पष्ट हो गई। उसने सेग्विन से प्रेरणा ली। उसकी सभी रचनाओं का उसने आलोचनात्मक अध्ययन किया। उसने लॉमब्रोसो और सर्गी की प्रणालियों से भी अपना परिचय कर लिया। इस प्रकार उसने अपने को मन्द मस्तिष्क वाले बालकों की सेवा के लिये तैयार कर लिया। मॉन्तेसरी बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहती है। इनके स्वाभाविक कार्यों में अमनोवैज्ञानिक हस्तक्षेप करना उसे पसन्द नहीं। वस्तुतः रूसो की ही प्रवृत्ति को वह और आगे बढ़ाना चाहती है। उसकी यह प्रणाली इतनी सफल प्रतीत हुई कि इटैलियन
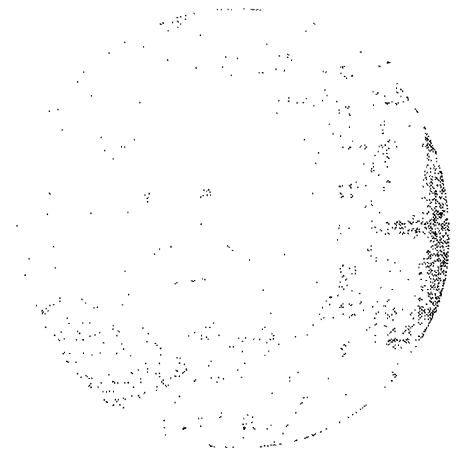
सरकार ने उसे "चिल्ड्रेनूस हाउसेज़" (बच्चों के घर) का अध्यक्ष बना दिया। यहाँ पर रहकर मॉन्तेसरी ने अपनी प्रणाली को और भी परिपक्व बनाया।

२—मॉन्तेसरी और फ्रोबेल—

मॉन्तेसरी के अनुसार अध्यापक को प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। इसी के आधार पर बालकों की प्रवृत्तियों को समझने में वह सफल हो सकता है। मॉन्तेसरी ने अपनी प्रणाली में प्राय: अपने से पहले सभी बड़े शिक्षा सुधारकों के मत का समावेश कर लिया है। पेस्तॉलॉज़ी और फ्रोबेल की तरह उसने अध्यापक को निरीक्षक का ही पद दिया है। अध्यापक को उपदेश नहीं देना है। उसे सहानुभूतिपूर्वक बालकों की प्रवृत्तियों को समझ कर तदनुसार उनकी शिक्षा का आयोजन करना है। फ्रोबेल और मॉन्तेसरी में हमें बड़ी समानता मिलती है। यहाँ यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मॉन्तेसरी विधि किण्डरगार्टन प्रणाली का ही परिवर्द्धित रूप है। मॉन्तेसरी ने उसे अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान से अधिक उपयोगी और परिष्कृत बना दिया है। साधारण मनुष्य के लिये फ्रोबेल के संकेतवाद का अभिप्राय समझना कठिन है। मॉन्तेसरी विधि में फ्रोबेल के समान दार्शनिक सिद्धान्त नहीं। इस वैज्ञानिक युग में उसका कार्य पूर्णतया वैज्ञानिक और उपयोगी है। मॉन्तेसरी बच्चों के सामने कृत्रिम वातावरण नहीं उपस्थित करना चाहती। वह फ्रोबेल के सदृश् 'उपहार' नहीं देती। वह बच्चों को स्वाभाविक वातावरण में रखकर उनकी मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहती है। बच्चे अपने को ऐसी स्वाभाविक वस्तुओं से घिरे हुए पाते हैं कि वे उनके साथ खेलने के लिए लालायित हो जाते हैं। खेलते हुये शिक्षक की सहायता से वे स्वत: आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इन खेलने की वस्तुओं का नाम मॉन्तेसरी ने उपदेशक-वस्तु (डिडैक्टिक् मैटीरियल) रक्खा है। यह उसकी मौलिक सूझ है।

३—मनोवैज्ञानिक क्षण—

मॉन्तेसरी अपनी प्रणाली में 'मनोवैज्ञानिक क्षण' (साइकोलॉजिकल मोमेण्ट) को विशेष महत्त्व देती है। जिस समय बालक में किसी विषय के सीखने की इच्छा रहती है वही उसके लिये 'मनोवैज्ञानिक क्षण' है। शिक्षक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह इस 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के पहचानने की ताक में रहे। यदि इसी के अनुसार शिक्षा दी गई तो वह कभी असफल नहीं हो सकता। बच्चे की मानसिक स्थिति समझ लेने के बाद उनकी शिक्षा के लिये आवश्यक उपकरणों का आयोजन करना चाहिये। यदि बालक की अरुचि

दिखलाई पड़ रही है तो स्पष्ट है कि अध्यापक ने मनोवैज्ञानिक क्षण को समझने में भूल की है। उसे धैर्य के साथ उचित अवसर की प्रतीक्षा करनी है। मनोवैज्ञानिक विधि के अनुसार पढ़ाई से बालकों में दम्भ नहीं उत्पन्न होता। वे कृत्रिम पुरस्कार के इच्छुक नहीं होते। इसको वे अच्छी तरह से समझने लगते हैं। गुण की प्राप्ति ही उनके लिये सबसे बड़ा पुरस्कार है। यही कारण है कि 'लिखने' या 'कोई काम करने में सफल होने' पर वे चिल्ला उठते हैं—"मास्टर जी! मास्टर जी! देखो मैंने क्या बनाया है।"

४—मॉन्तेसरी स्कूल में शिक्षा—

मॉन्तेसरी स्कूल में प्रायः ढाई से सात वर्ष के उम्र वाले बच्चे लिये जाते हैं। कक्षाओं का वर्गीकरण बहुत स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता। बच्चों को प्रायः दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। पहले तो उन्हें व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक कार्य करने होते हैं। अध्यापक के निरीक्षण में अपना कार्य स्वयं करने के लिये उन्हें उत्साहित किया जाता है। एक लय और गति में उनसे कुछ साधारण शारीरिक व्यायाम कराया जाता है। इसमें उन्हें बहुत ही आनन्द आता है क्योंकि वे स्वभाव से ही लय को पसन्द करते हैं। उनकी अवस्था के अनुसार इन अभ्यासों में परिवर्तन हुआ करता है। इस परिवर्त्तन में मनोवैज्ञानिक क्षण पर बड़ा ध्यान दिया जाता है। शिक्षक का यह कर्तव्य होता है कि वह इस क्षण को समय-समय पर पहचानता रहे।

मॉन्तेसरी स्कूल की दूसरी विधि उपदेशक-वस्तुओं से ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित बनाना है। सब से पहले बच्चों को 'आकार' और रूप का ज्ञान दिया जाता है। इसमें जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है वे फ्रोबेल के 'उपहार' से भिन्न हैं। मॉन्तेसरी का प्रत्येक चुनाव शिक्षा के दृष्टिकोण से होता है। सर्व प्रथम बच्चों को मेज़, दरवाजा खिड़की तथा कुर्सी आदि के आकार और रूप से परिचित किया जाता है क्योंकि ये उनके समझने के लिये बहुत ही सरल हैं। बच्चों के कुछ बड़े हो जाने पर उन्हें बटन लगाना-खोलना तथा फ़ीते का बाँधना सिखलाया जाता है। इस प्रकार वे समझते हैं कि कपड़े और चमड़े में किस प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिये। प्रथम अवस्था में उनकी स्पर्श, दृष्टि तथा श्रवण-शक्ति बढ़ाई जाती हैं बच्चे का ध्यान वस्तु तथा उसके नाम की ओर आकर्षित किया जाता है।

शिक्षा की दूसरी कक्षा में बच्चों को शान्ति पूर्वक उठना-बैठना तथा एक

सीधी रेखा में सामूहिक रूप में चलना इत्यादि सिखलाया जाता है। लकड़ी के टुकड़ों के ऊँचे-ऊँचे टीले अथवा सीढ़ियाँ बनवाकर उन्हें लम्बाई चौड़ाई का ज्ञान दिया जाता है। इस प्रकार उनका दृष्टि-ज्ञान बढ़ाया जाता है। कुछ वस्तुओं को इधर-उधर बिखेर दिया जाता है और उन्हें बड़ी और छोटी की पहचान करनी होती है। इन सब खेलों में बच्चों को बड़ा आनन्द आता है। यदि वे भूल करते हैं तो प्रायः उसे अपने से ही सुधारना पसन्द करते हैं। चौड़ी सीढ़ियों के बनवाने में उन्हें 'मोटे' और 'पतले' का ज्ञान दिया जाता है। लम्बी सीढ़ियाँ बनाना उनके लिये कठिन प्रतीत होता है। परन्तु उनके बनाने से उन्हें 'बल' का ज्ञान होता है। प्रायः ये सब कार्य उन्हें अकेले ही करने पड़ते हैं। परन्तु दो या तीन बच्चे यदि चाहें तो साथ ही साथ काम कर सकते हैं। रंग का ज्ञान देने के लिये उनके सामने विभिन्न रंगों के चौंसठ कार्ड रख दिये जाते हैं। उन्हें रंग को पहचान कर उसका नाम बतलाना पड़ता है। इसके साथ ही साथ उन्हें वस्तु के नाम को भी याद करना पड़ता है। गर्म, ठंडा, कठोर, कोमल वस्तुओं के स्पर्श से उनका स्पर्श ज्ञान बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। आँखों को बाँध कर उँगलियों से स्पर्श किया जाता है। स्पर्श ज्ञान को मानसिक विकास में मॉन्तेसरी विशेष महत्व देती है क्योंकि यह प्रारम्भिक ज्ञान है। रंग का ज्ञान प्राप्त करने में नेत्रों की निर्णयात्मिका शक्ति बढ़ जाती है। उन्हें आकार का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार आगे चलकर 'लिखना' सीखने में सहायता मिलती है।

बच्चों की शिक्षा की तीसरी कक्षा में कपड़े 'पहनना तथा उतारना', स्नान करना, मेज व कुर्सी इत्यादि झाड़ना आदि सिखलाया जाता है। गृहकार्य में आने वाली विभिन्न वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोना भी सिखलाया जाता है। श्रवण शक्ति को बालू, पत्थर के टुकड़े, अनाज के दानों तथा सीटी से बढ़ाया जाता है। इन वस्तुओं की सहायता से विभिन्न प्रकार की धीमी तथा बड़ी ध्वनि पहचानने की बालकों में शक्ति आ जाती है। 'तौल' का ज्ञान तीन प्रकार की टिकियों से कराया जाता है। इनका आकार और रूप तो समान होता है परन्तु तौल में अन्तर रहता है। विभिन्न प्रकार का ज्ञान देने के लिये बच्चों के सामने बहुत से छेदयुक्त लकड़ी का टुकड़ा रख दिया जाता है। छोटे-छोटे लकड़ी के टुकड़ों को इन छेदों में रखना होता है। इस अभ्यास में ज्यामिति यन्त्र की भी सहायता ली जाती है। उपर्युक्त विधि से बच्चों के दृष्टि, स्पर्श तथा पेशीय (मसकुलर) ज्ञान बढ़ाये जाते हैं। इस प्रकार बालक मनोवैज्ञानिक विधि से 'प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष तथा ठोस से समक्षेत्र' पदार्थ का ज्ञान करता है।

चौथी कक्षा में व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में बच्चों को कमरे की अस्त-व्यस्त वस्तुओं को ठीक प्रकार रखना सिखलाया जाता है। साभिप्राय मेज, कुर्सी, पुस्तकें तथा अन्य वस्तुयें इधर-उधर रख दी जाती हैं। बच्चों से उन्हें ठीक करने के लिये कहा जाता है। हाथ, मुँह, नाक, कान तथा नेत्र आदि को स्वच्छ रखने की विधि सिखलाई जाती है। उन्हें कुछ 'लय' वाले साधारण शारीरिक व्यायाम दिये जाते हैं। चित्रकला सीखने में उन्हें प्रकृति का अनुकरण करना सिखलाया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के यह स्पष्ट है कि मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल देती है। छोटे बालकों की शिक्षा का आधार ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा ही है। ज्ञानेन्द्रियों की परीक्षा में मॉन्तेसरी ने मन्द तथा तीव्र बुद्धि के बालकों के लिये एक ही विधि का अनुसरण किया। उसने दोनों में तीन प्रकार का अन्तर पाया। १—मन्द बुद्धि बालकों की ज्ञानेन्द्रिय शिक्षा में बहुत चमकदार अथवा आकर्षक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। परन्तु अन्य बालक वस्तु के साधारण भेद से ही प्रसन्न हो जाते हैं। उनकी ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा उन्हीं के द्वारा हो सकती हैं। २—मन्द बुद्धि बालक अपने सफल कार्यों के दुहराने में आनन्द नहीं लेते। परन्तु साधारण बालक को सफल कार्य को बार-बार दुहराने में बड़ा आनन्द आता है। ३—मन्द बुद्धि बालक अपनी भूल का सुधार स्वयं करने में आलस्य करते हैं। इसके लिये उन्हें अध्यापक की सहायता की आवश्यकता होती है। परन्तु साधारण बालक अपनी भूल स्वयं सुधारना चाहते हैं। इसमें उन्हें आलस्य नहीं आता। ऐसी स्थिति से मॉन्तेसरी ने सारांश निकाला कि जो 'उपदेशक-वस्तुएँ' मन्द बुद्धि बालकों को शिक्षा देती हैं। वे ही साधारण बालकों को 'स्वयं-शिक्षा' के लिये अभिप्रेरित करती हैं।

उपर्युक्त चार कक्षाओं के वर्णन में हमने लिखने, पढ़ने और अंकगणित सिखाने को नहीं लिया है; क्योंकि इनकी विवेचना हम अलग करना चाहते हैं। प्रथम अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों की कुछ शिक्षा दे देने के बाद दूसरी अवस्था में मॉन्तेसरी बच्चों को 'लिखना' सिखाने की पक्षपाती है। उसके अनुसार 'पढ़ना' सिखाने से पहले 'लिखना' सिखाना चाहिये। 'पढ़ने' में बच्चे को उच्चारण का ध्यान रखना होता है। पहले उसे अक्षर पहचानना पड़ता है। तत्पश्चात् उसे मन में अक्षरों के समूह से शब्द बनाना पड़ता है। तब शुद्ध उच्चारण का ध्यान रखते हुये ठीक लय से 'पढ़ना पड़ता है। प्रारम्भ में इन सब बातों पर ध्यान देना सरल नहीं। यदि ठीक से उसे 'पढ़ना' न आया

तो उसके हताश होने का डर है। परन्तु 'लिखने' में ऐसी कोई बात नहीं। उसे शब्दों को देख देखकर लिखते जाना है। इसमें उसे शीघ्र सफलता मिलती है। इस सफलता का उसे अनुमान भी हो जाता है। इस प्रकार वह उत्साहित होकर आगे बढ़ता जाता है। अंतः मॉन्तेसरी के अनुसार पहले 'लिखना' सिखाना अधिक मनोवैज्ञानिक है। पहले बच्चा लकड़ी या अन्य वस्तु के बने हुए अक्षरों के साथ खेलता है। इस प्रकार अक्षरों से उसका सरलता के साथ परिचय हो जाता है। विभिन्न खेलों की ही सहायता से उसे 'लिखना' सिखलाया जाता है। वह यह जानने भी नहीं पाता कि वह 'लिखना' सीख रहा है।

तीसरी कक्षा में मॉन्तेसरी बच्चों को 'पढ़ना' सिखाती है। 'पढ़ने' से उसका तात्पर्य समझते हुए पढ़ने से है। बिना समझते हुए पढ़ना 'पुस्तक पर भूँकने' के समान है। पढ़ने से यदि बच्चे को कुछ नये विचार का ज्ञान न हुआ तो वह पढ़ना व्यर्थ है। जिससे 'लिखने' में अक्षर और शब्द से वाक्य की ओर बच्चे बढ़ते हैं, उसी विधि का प्रयोग पढ़ने में भी करना है। जिन शब्दों से बच्चे परिचित हैं अर्थात् जिनके लिखने का अभ्यास वे कर चुके हैं उन्हें कार्ड अथवा पट्टी पर लिख दिया जाता है और उन्हें पढ़ने के लिये उन्हें उत्साहित किया जाता है। इसी प्रकार परिचित वस्तुओं के सम्बन्ध में दो एक वाक्य लिख कर उन्हें पढ़ने के लिये दिया जाता है। पाठकों को याद होगा कि 'प्रॉजेक्ट मेथड' में छोटी कक्षा के बालकों को इसी प्रकार पढ़ना लिखना सिखलाया जाता है।

चौथी कक्षा में 'लिखने' और 'पढ़ने' में और आगे अभ्यास कराया जाता है। इसी समय बालकों को अंकगणित का ज्ञान दिया जाता है। इसमें भी 'लिखने' और 'पढ़ने' के सदृश् मनोवैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है। कुछ ऐसे खेल खेलाये जाते हैं जिनमें बच्चों को गिनना, घटाना और जोड़ना आवश्यक होता है। गोलियाँ या एक ही या विभिन्न प्रकार के बहुत से खिलौने अथवा वस्तुएँ उन्हें दे दी जाती हैं। अध्यापक मनोरंजनार्थ बीच-बीच में कुछ पूछा करता है। उसके पूछने के उत्तर में बच्चे अनजान में स्वाभाविक रीति से अंकगणित का साधारण ज्ञान कर लेते हैं। 'लिखने', 'पढ़ने' और 'अंकगणित' की इस नवीन मनोवैज्ञानिक विधि के कारण 'मॉन्तेसरी प्रणाली' बहुत लोकप्रिय हो गई है।

मॉन्तेसरी ने रूसो के 'स्व-शिक्षा' के सिद्धान्त को यथार्थतः कार्यान्वित करके दिखला दिया। उसका दृढ़ विश्वास था कि बच्चे को अपनी मानसिक

शक्ति का विकास स्वयं करना है। 'स्व-शिक्षा'[1] को वह शिक्षा का सबसे बड़ा सिद्धान्त मानती है। कहना न होगा कि हम 'मॉन्तेसरी-प्रणाली' में 'प्रकृतिवाद' और 'मनोवैज्ञानिक' प्रगति काल के सभी आदर्श सिद्धान्तों का निराला सामञ्जस्य पाते हैं। मॉन्तेसरी ने बच्चे को अपने विकास के लिये उत्तरदायी बना दिया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विकास के साथ ही साथ बच्चों के स्वाभाविक कार्यों में बाह्य हस्तक्षेप धीरे-धीरे कम कर दिया गया है। मॉन्तेसरी बच्चे में आत्म-निर्भरता तथा एकाग्र-शक्ति उत्पन्न करना चाहती है। बच्चे को वह अध्यवसायी बनाना चाहती है, आज्ञाकारी नहीं। बच्चे को अध्यापक का आदर नहीं करना है, प्रत्युत उसे अपना आदर करना है; अर्थात् उसे अपनी रुचि और स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर ध्यान देना है।

५—मॉन्तेसरी स्कूल में विनय—

मॉन्तेसरी बच्चे को पूरी स्वतन्त्रता देना चाहती है। उसका विश्वास था कि पूरी स्वतन्त्रता देने से विनय की समस्या का स्वतः समाधान हो जायगा। उसका अनुमान एकदम ठीक था। 'मॉन्तेसरी स्कूल' में कहीं भी उद्दण्डता का चिन्ह नहीं दिखलाई पड़ता। सभी बच्चे अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता में मग्न रहते हैं। कोई गेंद के साथ खेल रहा है, कोई कुर्सी व मेज पर की धूल झाड़ रहा है, कोई लिख रहा है, कोई किसी खिलौने को बिगाड़ कर देखना चाहता है कि इसमें है क्या, कोई पेड़ पर चढ़ा है, कोई दौड़ रहा है, कोई गा रहा है, कोई बातचीत कर रहा है, इत्यादि। इस प्रकार 'मॉन्तेसरी स्कूल' में 'विनय' की समस्या उठती ही नहीं। स्कूल में सर्वत्र सद्भावना और मित्रता का राज्य छाया रहता है। कोई किसी के कार्य में बाधा नहीं पहुँचता। एक दूसरे के अधिकार का आदर करता है। यदि किसी ने अपराध भी किया तो उसे शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। उसे अकेले कार्य करने के लिये कहा जाता है। इस प्रकार सामूहिक कार्य के आनन्द से उसे वञ्चित कर दिया जाता है।

६—मॉन्तेसरी स्कूल बच्चों का स्वराज्य—

उपर्युक्त वर्णन से यह न समझना चाहिये कि 'मॉन्तेसरी स्कूल' में अव्यवस्था व्याप्त रहती है। यद्यपि बालक को अपनी स्वाभाविक रुचि से कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है पर उसका वातावरण बहुत विस्तृत नहीं बनाया जाता। उसके सामने केवल तीन ही चार वस्तुएँ रख दी जाती हैं। चाहे वह जिससे खेले। खेलों की सहायता से बच्चे जीवन की व्यावहारिकता सीखते हैं। पुरस्कार

और दण्ड का नियम वहाँ नहीं। अन्य स्कूलों के सदृश् उनमें 'समय-सारिणी' (टाइम-टेबुल) की कठोरता नहीं। पहले से ही पाठ्य-वस्तु निर्धारित नहीं रहती। वस्तुतः उसके निर्माता तो स्वयं बच्चे ही हो जाते हैं। इसी स्वतन्त्रता के लिये रूसो ने अपनी ध्वनि उठाई थी। इसी स्वतन्त्रता को मिस पार्कहर्स्ट अपने 'डाल्टन-प्लान' में प्रतिपादित करती है। यदि हम मॉन्तेसरी स्कूल को 'बच्चों का स्वराज्य' कहें तो अत्युक्ति न होगी।

७—आलोचना—

मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा को आवश्यकता से अधिक महत्व देती है। उसका विश्वास है कि ऐसी शिक्षा से बालकों को बड़ा आनन्द आता है। उनकी व्यावहारिकता ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा द्वारा बढ़ाना ठीक है। यदि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ स्वस्थ हैं तो वे अवश्य ही हमारे दैनिक कार्यों के सफल सम्पादन में योग देंगी। बच्चों के पढ़ने-लिखने में भी वे सहायक होंगी। परन्तु ज्ञानेन्द्रियों के लिये ही ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित बनाने की उपयोगिता में हमें सन्देह है। मॉन्तेसरी 'संस्कृति युग सिद्धान्त' को मानने वाली है। उसके अनुसार बालक को मानव जाति के विकास की सभी अवस्थाओं में से होकर निकलना है। जैसे-जैसे मानव जाति का विकास हुआ है, उसी प्रकार बालक का भी विकास करना होगा। प्रारम्भ में मनुष्य को अपने जीवनयापन हेतु बहुत से शारीरिक कार्य करने पड़ते थे। अतः बालक से भी व्यावहारिक कार्य कराने चाहिये। सभ्यता-विकास के प्रारम्भ में साहित्य का अस्तित्व नहीं था। इसलिये बालकों की शिक्षा में भी मॉन्तेसरी साहित्य को स्थान नहीं देती। इस प्रकार उसकी विचार-शक्ति के विकास की अवहेलना की जाती है। मॉन्तेसरी अपनी प्रणाली द्वारा सर्व प्रथम निम्न कुल के बालकों को ही शिक्षा देना चाहती थी। ऐसे बालकों के लिये साहित्य रुचिकर नहीं हो सकता था। अतः उसने अपनी प्रणाली में उसे स्थान नहीं दिया। परन्तु यदि अब इसको हम सभी कोटि के बालकों के लिये उपयोगी बनाना चाहते हैं तो 'विचार-शक्ति' को शिक्षा को स्थान देना ही होगा। कदाचित् वह 'विचार-शक्ति' को बाल-जीवन का अंग नहीं मानती। वह पूछती है, "बालक तो स्वयं कल्पित भावनाओं से भरा हुआ है, तो इसको फिर बढ़ाने की चेष्टा क्यों करनी चाहिये?" वह नहीं चाहती कि बच्चे परियों की या पौराणिक कथायें पढ़ें। वह प्रारम्भ से ही उसे वास्तविकता के सम्पर्क में रखना चाहती है, जिससे बड़ा होने पर वह अपना जीवन सफल बना सके। हम मॉन्तेसरी के इस विचार से सहमत नहीं। हम

बालकों को वास्तविकता से अलग नहीं करना चाहते। पर साथ ही हमें उन्हें सभ्यता के उत्कृष्ट सार से भी वंचित नहीं करना है। पौराणिक कथायें तथा साहित्यिक रचनाओं में सभ्यता का सार निहित है। उन्हें वञ्चित करना कभी वांछित नहीं हो सकता।

मॉन्तेसरी लिखने, पढ़ने और अंकगणित का ज्ञान बहुत पहले ही देना प्रारम्भ कर देती है। अन्य बातों से इसे वह विशेष महत्त्व भी देती है। हम मानते हैं कि उसकी इन विषयों की सिखलाने की विधि बड़ी ही आकर्षक है। परन्तु लिखने, पढ़ने के अतिरिक्त बच्चों को अन्य बातों के ज्ञान अधिक आवश्यक हैं। उसे वातावरण की वस्तुओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आना है, जिससे उसकी निरीक्षण शक्ति का विकास हो सके। प्रारम्भ में उसे लिखने व पढ़ने की बहुत आवश्यकता नहीं होती। अतः अच्छा होगा यदि थोड़े दिनों के लिये लिखना-पढ़ना स्थगित कर दिया जाय।

मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियों को स्वतन्त्र रूप से पृथक करके शिक्षित करना चाहती है। 'गेस्टॉल्ट' मनोविज्ञान ने इस विधि को अमनोवैज्ञानिक सिद्ध कर दिया है। गेस्टॉल्ट मनोविज्ञान का कथन है कि वस्तु के सम्पूर्ण आकार के ज्ञान से ही हम उस वस्तु का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकते हैं। उनके विभिन्न भागों को अलग-अलग देखने से हमें उसका वास्तविक ज्ञान नहीं होता। अतः पृथक करके ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित बनाना अमनोवैज्ञानिक है। मन्द बुद्धि वालों की शिक्षा में 'मॉन्तेसरी प्रणाली' अधिक सफल हो सकती है। उनकी एक ज्ञानेन्द्रिय के कुण्ठित हो जाने पर दूसरी ज्ञानेन्द्रियों को पृथकता से विकसित करना अनिवार्य सा हो जाता है। परन्तु साधारण बालकों के विषय में ऐसा करना युक्तिसंगत नहीं।

८—मॉन्तेसरी प्रणाली के सार—

अधोलिखित रूप में हम मॉन्तेसरी प्रणाली के सार की ओर संकेत कर सकते हैं—

१—बालकों की शिक्षा दूसरों से स्वतन्त्र और पृथक होनी चाहिये।

२—'बुद्धि' को उत्तेजित न कर 'ज्ञानेन्द्रियों' को उत्तेजित करना चाहिये।

३—'स्पर्श-ज्ञानेन्द्रिय' प्रारम्भिक हैं। इसको बहुत महत्त्व देना चाहिये। यदि इसकी अवहेलना की गई तो बाद में इसका विकास न हो सकेगा।

४—बच्चों को वही अभ्यास देना चाहिये जिसकी उनके विकास क्रम में आवश्यकता है।

५—आवश्यकता आने पर पर ही पढ़ाना चाहिये। अध्यापक को 'मनोवैज्ञानिक क्षण' की प्रतीक्षा करनी है।

६—दृढ़ 'समय-सारिणी' की आवश्यकता नहीं।

७—पाठ्य-वस्तु का निर्धारण पहले से न हो। आवश्यकतानुसार उनका निर्माण और परिवर्त्तन अपेक्षित है।

८—बच्चे को पुरस्कार नहीं देना चाहिये। 'गुण-प्राप्ति' ही उनके लिये सबसे बड़ा पुरस्कार है।

९—शारीरिक दण्ड का विधान नहीं होना चाहिये।

१०—भूल का सुधार उपदेशक-वस्तुओं की सहायता से बालक स्वयं कर लेगा। अध्यापक को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं।

११—अध्यापक केवल निरीक्षक है।

१२—'स्व-शिक्षा' सब से बड़ा शिक्षा सिद्धान्त है।

१३—'स्वानुभव' से ही बुद्धि का विकास सम्भव है।

१४—बच्चे को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। उसके विकास के नियमानुसार ही चलना चाहिये।

९—मॉन्तेसरी प्रणाली की रूपरेखा

(क) व्यावहारिक जीवन के लिये अभ्यास—

१—हाथ, मुँह, दाँत, नाक, नेत्र, कपड़े इत्यादि की स्वच्छता सिखाना।

२—आत्म-निर्भरता, अध्यवसायी बनना सिखाना।

३—कमरे की अस्त-व्यस्त वस्तुओं को बिना ध्वनि किये ठीक-ठीक उनके स्थान पर सजाना।

४—सीढ़ियों पर चढ़ना-उतरना सिखाना।

(ख) उपदेशक-वस्तुओं से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा—

१—ज्ञानेन्द्रियों को जब कभी सम्भव हो, पृथक करके शिक्षा देना।

२—'श्रवण-ज्ञानेन्द्रिय' की शिक्षा केवल शान्त वातावरण ही में नहीं, प्रत्युत अन्धेरे में भी।

३—'आकार' के ज्ञान के लिये, लकड़ी के विभिन्न आकार के त्रिघात, नलाकार तथा छड़ इत्यादि।

४—'रूप' का ज्ञान छेदों में विभिन्न प्रकार के वस्तुओं को बैठाने से।

५—'तौल' के ज्ञान के लिये लकड़ी तथा अन्य धातु की टिकियाँ।

६—'स्पर्श' ज्ञान के लिये, कठोर, कोमल, खुरदुरा और चिकना पदार्थ।
७—'ताप' के ज्ञान के लिये गरम और ठंडा जल।
८—'रंग' ज्ञान के लिये विभिन्न रंग के चौंसठ कार्ड।
९—'सेग्विन' के अनुसार पाठ का तीन भागः—
(१) नाम का परिचय।
(२) नाम देने से वस्तु को पहचानना।
(३) वस्तु के नाम को पढ़ना।
१०—'पढ़ने' से 'लिखना' पहले सिखाना चाहिये।

आप ने ऊपर क्या पढ़ा ?

मॉन्तेसरी

१—उसका प्रारम्भिक जीवन—

२—मॉन्तेसरी और फ्रोबेल—

अध्यापक को प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक, सभी सुधारकों के मत का समावेश, अध्यापक निरीक्षक, किण्डरगार्टेन प्रणाली का परिवर्द्धित रूप, बच्चों के सामने कृत्रिम वातावरण नहीं, खेलते हुये आवश्यक ज्ञान प्राप्त करना।

३—मनोवैज्ञानिक क्षण—

मनोवैज्ञानिक क्षण का महत्त्व, शिक्षक को इसे समझना, बालक की अरुचि अध्यापक के इसे न समझने पर ही, गुण की प्राप्ति बालकों के लिये सब से बड़ा पुरस्कार।

४—मॉन्तेसरी स्कूल में शिक्षा—

ढाई से सात वर्ष के उम्र वाले बालक, व्यावहारिक जीवनोपयोगी कार्य स्वयं करने के लिये उत्साहित करना।

उपदेशक-वस्तुओं से ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित बनाना, रूप व आकार का ज्ञान, स्पर्श, दृष्टि तथा श्रवण शक्ति का बढ़ाना।

लम्बाई, चौड़ाई, बड़े तथा छोटे, मोटे, पतले तथा बल का ज्ञान, रंग और उसके नाम को याद करना, स्पर्श ज्ञान, नेत्रों की निर्णायक शक्ति बढ़ना।

धीमी तथा कड़ी ध्वनि पहचानना, तौल का ज्ञान, विभिन्न आकार का ज्ञान, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष और ठोस से समक्षेत्र पदार्थ का ज्ञान।

कमरे को ठीक सजाना, अपनी स्वच्छता पर ध्यान देना, चित्रकला सीखने में प्रकृति का अनुकरण।

छोटे बालकों की शिक्षा का आधार ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा, मन्द तथा तीव्र बुद्धि के बालकों में तीन प्रकार का भेद।

दूसरी कक्षा से लिखना सिखाना, पढ़ाना बाद में सिखाना चाहिये, लिखने में पढ़ने से सफलता, सफलता की भावना से उत्साह, विभिन्न खेलों के साथ अनजान में लिखना सीखना।

पढ़ना तीसरी कक्षा में, समझते हुये पढ़ना; खेल की सहायता।

चौथी कक्षा में अंकगणित का ज्ञान, खेल की सहायता से।

'स्व-शिक्षा प्रधान विधि', बच्चे अपने विकास के लिये स्वयं उत्तरदायी, वाह्य हस्तक्षेप बहुत कम, आत्म निर्भरता तथा एकाग्रशक्ति उत्पन्न करना। अध्यवसायी, आज्ञाकारी नहीं, अपना आदर करना।

५—मॉन्तेसरी स्कूल में विनय—

पूर्ण स्वतन्त्रता से विनय की समस्या का स्वतः समाधान, सभी अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता में मग्न, मित्रता और सद्भावना, शारीरिक दण्ड नहीं।

६—मॉन्तेसरी स्कूल बच्चों का स्वराज्य—

अव्यवस्था नहीं, वातावरण सीमित, पुरस्कार का नियम नहीं, समय-व्यवस्था की कठोरता नहीं, पाठ्य-वस्तु पहले से निर्धारित नहीं, 'मॉन्तेसरी स्कूल' बच्चों का स्वराज्य।

७—आलोचना—

ज्ञानेन्द्रियों के लिये ही उनकी शिक्षा उपयोगी नहीं; बालक का विकास मानव जाति के विकास के सदृश, बालक को व्यवहारिक ज्ञान, उसकी शिक्षा में साहित्य को स्थान नहीं, विचार-शक्ति की अवहेलना, प्रारम्भ से ही वास्तविकता के सम्पर्क में।

लिखना, पढ़ना तथा अंकगणित का ज्ञान अति शीघ्र देना ठीक नहीं, वातावरण के घनिष्ठ सम्पर्क में आना, निरीक्षण शक्ति का विकास करना।

ज्ञानेन्द्रियों का पृथक करके शिक्षा देना अमनोवैज्ञानिक; मॉन्तेसरी विधि मन्द बुद्धि वालों के लिये अधिक उपयोगी।

८—मॉन्तेसरी प्रणाली के सार—

९—मॉन्तेसरी प्रणाली की रूपरेखा—

सहायक ग्रन्थ

१—द मॉन्तेसरी मेथड (एफ़ ए० स्टोक्स क० न्यूयार्क, १९१२)।

२—हॉल्म्स—द मॉन्तेसरी सिस्टम ऑव् एडूकेशन।

३—रस्क—द डॉक्ट्रन्स ऑव् द ग्रेट एडूकेटर्स, अध्याय, १२।

४—किलपैट्रिक, विलियम, एच०—द मॉन्तेसरी सिस्टम एक्ज़ामिन्ड।

५—रिवलिन तथा श्यूलर—इनसाइक्लोपीडिया ऑव् मॉडर्न एडूकेशन (१९४३), पृष्ठ ५०६–५०७।

१५

वर्तमान शिक्षा की प्रगति

१—वर्त्तमान शिक्षा में सभी वादों का समावेश

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में हमें प्रकृतिवाद और मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा लोक-संग्रहवाद प्रगतियों का अच्छा समावेश मिलता है। पाठन-विधि पर विशेष कर मनोवैज्ञानिक प्रगति का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। वैज्ञानिक प्रगति के कारण पाठ्य-वस्तु में नवीनता आ गई है। लोक-संग्रहवाद के प्रभावस्वरूप शिक्षा उद्देश्य तथा आदर्शों में परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। रूसो ने शिक्षा देने के पहले बच्चे को अध्ययन करने की आवश्यकता पर बल दिया था। उसके आन्दोलन से यह स्पष्ट हो गया कि शिक्षा बालक की विकासावस्था के अनुसार ही होनी चाहिये। यह सत्य है कि उसके सुझाव प्रायः सभी निषेधात्मक हैं, यह सत्य है कि वह परम्परा को नष्ट करने के प्रयत्न में हमें अव्यावहारिक बातों की ओर जाने को कहता है। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त तीनों प्रगतियों के बीज हमें उसके ही सिद्धान्तों में मिलते हैं। रूसो के बाद ऐसा कोई भी शिक्षा-सुधारक न हुआ जिसने उससे प्रेरणा न ली हो। रूसो के बाद पेस्तॉलॉज़ी की बारी आती है। इसने अपने स्वानुभूति (आँन्शवॉङ्ग)–सिद्धान्त से पाठन-विधि को मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। इसका प्रभाव आज भी स्पष्ट है। उस समय के कड़े नियन्त्रण को वह प्रेमभाव में बदलना चाहता है। उसका यह सिद्धान्त कि 'बच्चों को पढ़ाना नहीं प्यार करना सिखाना है' अब भी हमारे कानों में गूंजता है। अब तो संसार के प्रायः सभी प्रमुख देशों के स्कूलों में बच्चों को शारीरिक दण्ड देने का निषेध कर दिया गया है। हरबार्ट के 'नियमित पद' (फॉर्मल स्टेप्स) का प्रभाव तो प्रायः स्कूलों में हम प्रति दिन ही देखते हैं। आजकल के विभिन्न विषयों की शिक्षा में हमें उसके 'बहु-रुचि' सिद्धान्त की याद आती है। हरबार्ट का शिक्षा-उद्देश्य नैतिक विकास था। नैतिक शिक्षा से वह बालकों के चरित्र का विकास चाहता था। गत अध्याय में हम देख चुके हैं कि आजकल नैतिक शिक्षा की चारों ओर धूम है। फ्रोबेल का प्रभाव वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में ड्यूइ के सिद्धान्तों के कारण अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। फ्रोबेल स्कूल को समाज का एक छोटा रूप मानता था।

बालकों को वातावरण की वस्तुओं से परिचित कराकर उनमें वह सामाजिक जागृति लाना चाहता था। अतएव वह बहुत से बालकों के खेलने की व्यवस्था एक साथ ही करता था, जिससे उन्हें भान हो कि वे एक ही समाज के सदस्य हैं। ड्यूइ अपने स्कूल में इसी सिद्धान्त को कार्यान्वित करने में संलग्न था। फ्रोबेल बच्चे को अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रकृति, मनुष्य तथा ईश्वर की एकरूपता का ज्ञान कराना चाहता था। कहना न होगा कि वर्तमान नैतिक शिक्षा में सार-रूप से इसी सिद्धान्त के कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। वैज्ञानिक प्रगति के प्रतिनिधि हरबार्ट स्पेन्सर का वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर प्रभाव उसी प्रकार स्पष्ट है जैसे सूर्य का प्रभाव दिन में स्पष्ट रहता है। स्पेन्सर ने विज्ञान की महत्ता को स्पष्ट किया। विज्ञान को ही उसने व्यक्ति के जीवन की सफलता की कुन्जी मानी। उसके आन्दोलन से लोगों का ध्यान वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन की ओर गया। आज जो कुछ हम विज्ञान का महत्त्व स्कूलों की पाठ्य-वस्तुओं में पाते हैं उसका श्रेय स्पेन्सर को ही दिया जा सकता है। स्पेन्सर ने पाठन-विधि को मनोवैज्ञानिक बनाने की चेष्टा की। मनोवैज्ञानिक आन्दोलन के सार को उसने दूसरे शब्दों में हृदयग्राही ढंग से व्यक्त किया। पाठन-विधि के उसके सात नियम अब भी कक्षा में अध्यापकों को सहायता देते हैं। कहा जाता है कि स्पेन्सर शिक्षा में व्यक्तिवाद को लाता है पर उसका व्यक्तिवाद रूसो के व्यक्तिवाद से पूर्णतः भिन्न है। स्पेन्सर का व्यक्तिवाद समाज-हित के अनुकूल है। वह व्यक्ति को ऐसा बनाना चाहता है कि वह अपने जीवन को सफलतापूर्वक बिताते हुये समाज-हित में योग दे सके। वास्तव में उसके वैज्ञानिक आन्दोलन से ही हम शिक्षा में लोक-संग्रहवाद को उठाते हैं। यों तो समाज-हितवाद के आविर्भाव का कारण उस समय की प्रगति है परन्तु उस प्रगति के प्रमुख स्वरूप का अनुमान हमें वैज्ञानिक प्रगति में ही मिल जाता है। लोक-संग्रहवाद में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सफल नागरिक बनाना है। उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपने कर्त्तव्य पालन करने के योग्य बनाना है। शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार एक साथ बदल जाने पर उसके केन्द्रीयकरण की आवश्यकता प्रधान हो गई जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शिक्षा के लिये उचित अवसर मिल सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की सभी मुख्य बातें भूतकाल के शिक्षा आन्दोलन से ही विकसित होकर प्राप्त होती हैं। ठीक ही कहा है कि "वर्तमान भूतकाल का बालक है।"

२—वर्तमान शिक्षा का तात्पर्य—

आज का शिक्षा तात्पर्य गत शताब्दियों से भिन्न है। पहले समाज-हित

पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। शिक्षा का तात्पर्य व्यक्तित्व के विकास से ही समझा जाता था। इस विकास का साधन समय-समय पर बदलता गया। सोलहवीं शताब्दी तक तो प्राचीन साहित्य में निपुणता प्राप्त करना ही उत्तम साधन माना जाता था। वैज्ञानिक पुट का समावेश हमें सत्तरहवीं शताब्दी से मिलता है पर उसका विशेष महत्त्व नहीं। प्राचीन साहित्य से हटकर धीरे-धीरे अठारहवीं शताब्दी में आधुनिक भाषाओं, प्राकृतिक विज्ञान तथा गणित आदि पर बल दिया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक विषयों को प्रधानता दी गई। अब शिक्षा का तात्पर्य केवल व्यक्तित्व के विकास से ही न था। समाज-हित भी उसकी टक्कर में आ गया। विज्ञान के विकास से जीवन-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। भाँति-भाँति की सामाजिक संस्थाओं की स्थापना की जाने लगी। शासन-प्रबन्ध की पगड़ी प्रजातन्त्र के सिर पर बाँधी गई। नागरिकता का विज्ञापन गला फाड़-फाड़ कर किया जाने लगा। अब शिक्षा के आगे समस्या यह थी कि व्यक्ति और समाज-हित में सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जाय। समस्या सरल न थी। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसके व्यक्तित्व की पूरी तरह रक्षा करनी थी और साथ ही साथ समाज को भी सब प्रकार से दृढ़ बनाना था। व्यक्ति की रुचियों का भी आदर करना था और उसके उद्योग का इस प्रकार उपयोग करना था कि व्यक्ति और समाज-हित में असामञ्जस्य न आ जाय। फलतः शिक्षा का तात्पर्य व्यक्तित्व के विकास के साथ नागरिकता के गुणों को भी व्यक्ति में उत्पन्न करना था। वर्तमान-युग के सभी प्रधान शिक्षा-विशेषज्ञों की शिक्षा-परिभाषाओं में हमें शिक्षा का उपर्युक्त तात्पर्य ही मिलता है। उसमें हमें मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा लोक-संग्रहवाद के सभी प्रधान अंशों का समावेश मिलता है। श्री बैगले का कथन है कि "शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को सफल नागरिक बनाना है :—१—आर्थिक जीवन में अपना भार सम्हाल लेना; २—अपने हित की रक्षा में यदि दूसरों की हानि हो तो अपनी इच्छाओं का संवरण कर लेना; ३—अपनी इच्छापूर्ति को त्याग देना यदि उससे समाज-हित सम्भव न हो।" श्री बटलर का कहना है—"शिक्षा का अभिप्राय व्यक्ति को जाति के आध्यात्मिक सम्पत्ति के अनुकूल बनाना है।" श्री बटलर का आशय व्यक्ति को वैज्ञानिक, साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी प्रकार के ज्ञान को देना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान शिक्षा-परिभाषा में व्यक्ति और समाज-हित दोनों निहित हैं। वस्तुतः यही युक्तिसंगत भी है क्योंकि एक की उन्नति दूसरे पर निर्भर है। एक की व्याख्या करते हुये दूसरे को भूल जाना अज्ञानता से खाली होगा।

३—पाठ्य-वस्तु—

शिक्षा के तात्पर्य में परिवर्तन से पाठ्य-वस्तु में नवीनता लानी आवश्यक हो जाती है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि गत शताब्दियों में पाठ्य-वस्तु में जीवन के आदर्श बदलने से सदा परिवर्तन होता रहा। अब शिक्षा का अभिप्राय समाज-हित माना गया है। फलतः समाज-विज्ञानों का पढ़ाया जाना आवश्यक समझा जाता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्र में विज्ञान का प्रभाव दिखाई पड़ता है। व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार किसी क्षेत्र में समाज-सेवा के योग्य अपने को बनाना है। अतः विभिन्न वैज्ञानिक विषयों का पाठ्य-वस्तु में समावेश किया गया जिससे व्यक्ति सरलता से अपनी रुचि का पता लगा सके। समाज परिवर्तनशील है। हमारा अनुभव प्रतिदिन बदलता रहता है। सभ्यता का विकास कभी रुकता नहीं। सभ्यता का जो रूप हमारे सामने है वह हमारे वंशजों के सामने नहीं रहेगा। स्पष्ट है कि आवश्यकतानुसार पाठ्य-वस्तु का भी रूप परिवर्तित होता जायगा। वह हमारे अनुभव का प्रतिरूप है और वर्तमान जीवन का दर्पण है। पाठ्य-वस्तु का रूप ऐसा हो कि उसके अध्ययन से व्यक्ति नागरिकता के सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त कर ले और उसका व्यक्तित्व भी चमक उठे। अतः उसमें सभी प्रकार के नैतिक, धार्मिक, सामाजिक साहित्यिक तथा कलात्मक विषयों का समावेश होना चाहिये। वर्तमान प्रगति इसी ओर है।

४—पाठन-विधि—

पाठ्य-वस्तु के अनुसार ही पाठन-विधि भी होती है। व्यक्ति में अब आत्म-निर्भरता उत्पन्न करने पर बल दिया जाता है। अतः अध्यापक को ऐसी प्रणाली का अनुसरण नहीं करना है कि विद्यार्थी के व्यक्तित्व का ह्रास हो 'रटने-रटाने' की पद्धति की अब पूरी अवहेलना की गई है। अब शिक्षक का उद्योग यह रहता है कि वह विद्यार्थी को उचित रास्ते पर कर दे। वह निरीक्षक मात्र है। उसे खोज के लिये केवल प्रेरणा दे देनी है। निधि का पता लगाना तो तो विद्यार्थियों का कर्तव्य है। शिक्षक को सदा बालक की रुचि और विकास की अवस्था का ध्यान रखना है जिससे वह उचित पथ-प्रदर्शन कर सके। उसे पाठ्य-वस्तु का भी पूरा ज्ञान होना चाहिये; नहीं तो बालकों में वांछित जागृति और आदर्श वह नहीं ला सकेगा। उसे अपने कार्य में इतना प्रवीण होना चाहिये कि वह यह अनुभव ही न कर सके कि किस प्रणाली का प्रयोग कब

कुछ पारिभाषिक शब्द

कुछ पारिभाषिक शब्द (हिन्दी से अंग्रेज़ी)

अभावात्मक या निषेधात्मक	Negative
अणुवाद	Atomism
अन्तः स्वातन्त्र्य	Inner Freedom
अनिश्चित से निश्चित की ओर	From Indefinite to Definite
आकार और रूप	Figure and Form
आत्म-क्रिया	Self Activity
आत्मसात करना	Absorption
आदेश या उपदेश	Instruction
आलंकारिक	Rhetoric
ईसाई साधु	Christian Hermit
उन्नति या विकास की अवस्थाएँ	Stages of Growth
उपयोगितावाद	Utilitarianism
एकत्व का सिद्धान्त	Principle of Unity
एकाग्रता, ध्यान	Attention
कर्तव्य-शास्त्र का सिद्धान्त	Doctrine of Ethics
काम-शिक्षा	Sex Education
कुण्डली	Ring
कुल संस्कार या वंशानुक्रम का नियम	Law of Inheritance
कौतुकालय	Museum
छड़ी	Stick
ज्यामिति यन्त्र	Geometrical Apparatus
दफ़्ती	Card-board
देशी भाषा	Vernacular
दोषपूर्ण	Defective
नलाकार	Cylinder
नामवाद, नामवादी	Nominalism, Nominalist
निमित्तवादी	Instrumentalist
निर्णयात्मिका शक्ति	Power of Judgment
नियमवाद	Formalism
नियमित विनय	Formal Discipline
नैतिक परिज्ञान	Moral Insight

प्रयोगात्मकवादी	Experimentalist
परिणामात्मक तर्क	Inductive Reasoning
परिणाम प्रणाली	Inductive Method
पाटी	Tablet
पादरी	Bishop
पूर्ण	Absolute
पूर्ण सत्य या परम सत्य	Ultimate Truth
पूर्व संचित ज्ञान	Apperception
पूर्व संचित	Apperceptive Mass
पेशीय	Muscular
पैगम्बर या देवदूत	Prophet
प्रणाली	System
प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर	From Concrete to Abstract
प्रयोगात्मक मनोविज्ञान	Experimental Psychology
प्रयोगात्मक से बुद्धि परक ज्ञान	Empirical to Rational Knowledge
प्रवर्तक	Apostle
फलकवाद, बहुविम्बवाद	Pragmatism
बड़ा	Superior
बहुदेववादी	Pagan
बौद्धिक अन्तर्दृष्टि	Intellectual Insight
भाव या विचार सिद्धान्त	Theory of Ideas
मठवाद	Monasticism
मनन	Reflection
मानवतावादी	Humanist
मानवतावादी यथार्थवाद	Humanistic Realism
मानसिक दोषपूर्ण	Mental Defective
यथातथ्य, निश्चयात्मक	Positive
यथार्थवाद	Realism
राज नियम	Law
राज्य शिक्षा-प्रणाली	State System
लोक-संग्रहवाद की प्रगति	Sociological Tendency
लौकिक	Secular
वस्तु और रूप	Matter and Form
विद्वद्वाद	Scholasticism
विनय	Discipline

विश्लेषणात्मक	Analytic
विश्व का सौन्दर्य बोधक प्रदर्शन	Aesthetic Presentation of the Universe
विशिष्ट सामन्त, विशिष्ट देवी	Lord, Lady
शारीरिक शिक्षा	Physical Training
शिशु-पाठशाला	Infant School
शिष्याध्यापक-प्रणाली	Monitorial System
शिक्षा	Training
शिक्षा में विनय की भावना	Disciplinary Conception of Education
स्पष्ट भावना	Clear Concept
शुद्ध भावना	Good Will
सङ्गति या साहचर्य	Association
सज्जन	Gentleman
समय सारिणी	Time Table
सरदार या सामन्त	Noble
साधारण व्यवस्थापिका सभा, संसद	Parliament
साधु	Ascetic
साधु	Monk
शक्ति मनोविज्ञान	Faculty Psychology
सामाजिकतावादी यथार्थवाद	Socialistic Realism
सामान्य भावना	General Concept
सिद्धान्त प्रणाली	Deduction
सिद्धान्तात्मक तर्क	Deductive Logic
संश्लेषणात्मक	Synthetic
संस्कृति युग सिद्धान्त	Culture Epoch Theory
स्पष्टता	Clearness
स्फूर्ति व्यायाम	Gymnastic
स्वानुभववादी यथार्थवाद	Sense Realism
स्वाभाविक विनय	Natural Discipline
ज्ञान, प्रबोध	Enlightenment

कुछ पारिभाषिक शब्द (अंग्रेज़ी से हिन्दी)

Absolute	पूर्ण
Absorption	आत्मसात् करण
Aesthetic Presentation of the Universe	विश्व का सौन्दर्य बोधक प्रदर्शन
Analytic	विश्लेषणात्मक
Apostle	प्रवर्त्तक
Apperception	पूर्व सञ्चित ज्ञान (पूर्व ज्ञान)
Apperceptive Mass	पूर्व सञ्चित
Ascetic	साधु
Association	सङ्गति या साहचर्य
Atomism	अणुवाद
At Random	यों ही ऊटपटाङ्ग
Attention	एकाग्रता, ध्यान
Bishop	पादरी
Card-board	दफ़्ती या गत्ता
Christian Hermit	ईसाई साधु
Clear Concept	स्पष्ट भावना
Clearness	स्पष्टता
Culture Epoch Theory	संस्कृति-युग-सिद्धान्त
Cylinder	नलाकार
Deduction	सिद्धान्त-प्रणाली
Deductive Logic	सिद्धान्तात्मक तर्क
Defective	दोषपूर्ण
Discipline	विनय
Disciplinary Conception of Education	शिक्षा में विनय की भावना
Doctrine of Ethics	कर्तव्य-शास्त्र का सिद्धान्त
Empirical to Rational Knowledge	प्रयोगात्मक से बुद्धि परक का ज्ञान
Enlightenment	ज्ञान-प्रबोध
Experimental Psychology	प्रयोगात्मक मनोविज्ञान

Experimentalist	प्रयोगात्मकवादी
Faculty Psychology	शक्ति मनोविज्ञान
Figure and Form	आकार और रूप
Formal Discipline	नियमित विनय
Formalism	नियमवाद
From Concrete to Abstract	प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर
From Indefinite to Definite	अनिश्चित से निश्चित की ओर
General Concept	सामान्य भावना
Gentleman	सज्जन
Geometrical Apparatus	ज्यामिति यन्त्र
Good Will	शुद्ध भावना
Gymnastic	स्फूर्तिमय व्यायाम
Humanist	मानवतावादी
Humanistic Realism	मानवतावादी यथार्थवाद
Inductive Method	परिणाम प्रणाली
Inductive Reasoning	परिणामात्मक तर्क
Infant School	शिशु-पाठशाला
Inner Freedom	अन्तःस्वातन्त्र्य
Instruction	आदेश या उपदेश
Instrumentalist	निमित्तवादी
Intellectual Insight	बौद्धिक अन्तर्दृष्टि
Law	राजनियम
Law of Inheritance	कुल संस्कार या वंशानुक्रम का नियम
Lord, Lady	विशिष्ट सामन्त, विशिष्ट देवी
Matter and Form	वस्तु और रूप
Mental Defective	मानसिक दोषपूर्ण
Monasticism	मठवाद
Monitorial System	शिष्याध्यापक-प्रणाली
Moral Insight	नैतिक परिज्ञान
Muscular	पैशीय
Museum	कौतुकालय
Natural Discipline	स्वाभाविक विनय
Negative	अभावात्मक या निषेधात्मक
Noble	सरदार, सामन्त
Nominalist, Nominalism	नामवादी, नामवाद
Pagan	बहुदेववादी

Parliament	साधारण व्यवस्थापिका सभा, संसद
Physical Training	शारीरिक शिक्षा
Positive	यथातथ्य, निश्चयात्मक
Power of Judgment	निर्णयात्मिका शक्ति
Pragmatism	फलकवाद, बहुबिम्बवाद
Principle of Unity	एकत्व का सिद्धान्त
Prophet	पैग़म्बर, देवदूत
Realism	यथार्थवाद
Reflection	मनन
Rhetoric	आलंकारिक
Ring	कुण्डली
Scholasticism	विद्वद्वाद
Secular	लौकिक
Self-Activity	आत्म-क्रिया
Sense Realism	स्वानुभव यथार्थवाद
Sex Education	काम-शिक्षा
Socialistic Realism	सामाजिकतावादी यथार्थवाद
Sociological Tendency	लोक-संग्रहवाद की प्रगति
Stages of Growth	उन्नति या विकास की अवस्थाएँ
State System	राज्य शिक्षा-प्रणाली
Stick	छड़ी
Superior	बड़ा
Synthetic	संश्लेषणात्मक
System	प्रणाली
Tablet	पाटी
Theory of Ideas	भाव या विचार-सिद्धान्त
Time Table	समय सरिणी
Training	शिक्षा
Ultimate Truth	पूर्ण सत्य या परम सत्य
Utilitarianism	उपयोगितावाद
Vernacular	देशी भाषा

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका